शेखर : एक जीवनी

[दूसरा भाग]

संघर्ष

'अज्ञेय'

सरस्वती प्रेस
इलाहाबाद दिल्ली

वर्तमान संस्करण : १९७७

मूल्य : सोलह रुपये

क्रम-सूची

शेखर : संघर्ष

प्रथम खण्ड

पुरुष और परिस्थिति

गाड़ी भड़भड़ाती हुई दौड़ रही थी। नीलगिरि प्रदेश में शेखर अपने माता-पिता और भाइयों को पाँच सौ मील पीछे छोड़ आया था, और अब मद्रास भी पीछे छूटा जा रहा था। नीलगिरि, मद्रास, महाबलिपुर, मालाबार, ट्रावनकोर—सब पीछे छूट जाएँगे! वह आगे जा रहा है, गाड़ी उसे खींचती हुई बेतहाशा उत्तर की ओर दौड़ी चली जा रही है, एक हज़ार मील जाकर ही दम लेगी—फिर वहाँ से दूसरी गाड़ी चलेगी, जो एक हज़ार मील और परे घसीट ले जायगी''''सब इन अपने परिचय के स्थानों से दो हज़ार मील दूर!

लेकिन, ये सब उसके परिचित स्थान क्या हैं? उसे उनसे क्या है? नीलगिरि उसके लिए क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ उसके भाई-बन्द रहते हैं। महाबलिपुर क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ वह डूबा था। ट्रावनकोर भी क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ शारदा थी और वह उससे लड़ आया? जब वह नहीं रहेगा, तब ये सब स्थान भी नहीं रहेंगे.... ये सब इसीलिए हैं कि इनमें वह है, और अब वह इन सबसे भागा जा रहा है, अपने-आपको उन पर पड़ी हुई छाप से भागा जा रहा है, अपने-आपसे भागा जा रहा है....

क्या यह सब सत्य है? क्या ये स्थान सत्य हैं? क्या ये सब लड़ाई-झगड़े, प्यार, तिरस्कार, सत्य हैं? क्या वह खुद सत्य है? गाड़ी उसे खींचती हुई दौड़ी चली जा रही है, उसे लगता है कि कुछ भी सत्य नहीं है, शायद गाड़ी का दौड़ना भी सत्य नहीं है....

लेकिन वह सत्य के सिवा कुछ हो नहीं सकता। शेखर अपनी पराजय से भाग रहा है, अपने दर्द से भाग रहा है। वह बेवकूफ़ है। वह जीवन से भागने की मूर्खता-भरी कोशिश कर रहा है। जीवन से भागकर वह जायगा कहाँ? जो युद्धमुख से भागता है, अपनी पराजय से भागता है, उसके लिए कदम-कदम पर और युद्ध हैं, और पराजय है, जब तक कि वह जान न ले कि अब और भागना नहीं है, टिककर लड़ने न लगे....जीवन से भागना? आगे और जीवन है; जीवन तो रुक नहीं सकता, उसका तो विस्तार समाप्त नहीं हो सकता....

होने दो। मद्रास एक हज़ार मील पीछे रह जायगा, पंजाब एक हज़ार मील आगे है। और वहाँ नया जीवन है और विद्यावती है, और शशि है, और....गाड़ी का शोर समुद्र के गर्जन की तरह है। समुद्र....लेकिन यह गर्जन उसे समुद्र से परे खींचे लिए जा रहा है, परे .

●

कद के लम्बे-तगड़े, रंग के गोरे, देखने में सुन्दर और सुनने से समर्थ जँचनेवाले पंजाबी लोग—शेखर ने उनकी आँखों में आँखें मिलाकर देखा, वे हटती नहीं हैं, न डर से और न मर्यादाहीन विनय से।

और उसने सोचा, ये आदमी मर्द हैं। इनके साथ काम हो सकेगा, ये लड़ाई में कंधे से कन्धा भिड़ा सकेंगे।

वह लड़ाई से भागकर आया था, थका हुआ आया था। इसीलिए वह इस समय अपने में रण-तत्परता नहीं पाता था, तनाव नहीं पाता था। उसने मानो अपना कवच ढीला कर दिया था और सुस्ता रहा था। सोया वह नहीं था, आँखें खुली थीं, लेकिन तन्द्राग्रस्त भी वह नहीं था, वह सिर्फ़ देख रहा था, उसकी आँखों में सिर्फ पहचानने की चेष्टा का सूना भाव था; न दोस्ती का खिंचाव, न दुश्मनी का संकोच।

और उसने इस नए प्रदेश के लोगों को दो वर्ष बाद फिर देख कर सोचा, ये आदमी मर्द हैं, इनके साथ काम हो सकेगा।

दो वर्ष पहले जब वह मैट्रिक की परीक्षा देने आया था, तब उसने इन लोगों को ठीक से देखा भी नहीं था। अपने मस्तिष्क को शारदा से भरे हुए वह आया था, और शशि की ही एक नई छाप वह उस पर ले गया था, और विशेष कुछ उसने देखा नहीं था; लेकिन अब एक लड़ाई से आकर वह उन्हें योद्धा के ही माप से मापने लगा—यद्यपि थके हुए और सुस्ता रहे योद्धा के।

शेखर में पक्षपात नहीं था—कुछ था तो पंजाब और उसके निवासियों के हक में ही—और वह आते ही कोशिश करने लगा कि उनके साथ एकात्म, एकप्राण हो सके। हॉस्टल के लड़कों से मिलकर उनके विचार जानने की, उनके आदर्श और उनकी कामनाएँ समझने की, उसने चेष्टा की। जब उसने देखा कि इसमें वह स्वयं विघ्नरूप है, क्योंकि वह उनकी भाषा नहीं बोलता है, उनके कपड़े नहीं पहनता है, स्पष्ट दिखा देता है कि वह उनमें से नहीं है, तब उसने इनका भी इलाज करना आरम्भ किया। उसने दो-तीन सूट सिलवाए; कॉलर, टाइयाँ, मोजे, शू, कंघी-ब्रुश, खुशबूदार तेल, पैंट दाबने का प्रेस और कोट टाँगने का फ्रेम, एक खाकी सोला हैट भी—ये सब चीजें वह निरीह भाव से ले आया। चीजें उसने सब साधारण लीं, बहुत अधिक पैसा खर्च नहीं किया, पर उसकी पसन्द में कुछ ऐसी विशेष सादगी थी कि चीजें दाम की सस्ती होकर भी सूरत की सस्ती नहीं जान पड़ती थीं। भड़कीली चीज इतना अधिक सामने आती है कि उसमें दृश्य महँगेपन का होना लाजिमी हो जाता है; जो चीज सामने नहीं आती, वह गुजारे लायक सस्ती होकर भी चल जाती है। सूट पहनकर जब वह अपने सहपाठियों में आ मिला, तब उसने देखा कि जहाँ तक 'ट्रेडमार्क' का सवाल है, वह उनकी पाँत में खड़ा होने का अधिकारी हो गया है। भाषा का प्रश्न अभी था, वह उनकी भाषा ठीक तरह बोल नहीं सकता था, मुहावरा तो बिलकुल ही नहीं जानता था। फिर भी, रंग-ढंग में उन-सा होकर और उनकी बात समझ लेने के काबिल होकर वह ऐसा गैर नहीं दीखता था। और उसे धीरे-धीरे उनके समाज में प्रवेश मिलने लगा।

इस प्रकार वेश के सहारे जिस आसानी से उसे चारों ओर रास्ता मिलने लगा, उस पर उसे सन्देह होना चाहिए था, लेकिन वह सन्देह के लिए उपयुक्त मनःस्थिति में ही नहीं

था। स्वीकृति पाना, स्वागत पाना, मान्य होना, कितना अच्छा था''''शेखर चेहरे-मोहरे से विशेष असुन्दर नहीं था; और वह नया युरोपियन वेश भी उस पर बोझ की तरह नहीं बैठता था। चुप रहनेवाले, अपने ही भीतर रहनेवाले इस आधे जंगली, आधे संन्यासी आदमी की जबान विदेशी सभ्यता की हर समय चलती ही रहनेवाली मिथ्या विनयभरी बातचीत में भले ही अटकती हो, लेकिन विदेशी वेश को निभा ले जाने में उसे कोई कठिनाई या हिचक नहीं होती थी। यह वेश उसके लिए बहुत अपरिचित नहीं था, अंग्रेजी भाषा भी उसकी मातृभाषा नहीं तो धातृभाषा तो थी ही—बोलना उसे एक अमेरिकन पादरी ने अपनी भाषा में सिखाया था....शीघ्र ही शेखर ने पाया कि उसे कालेज के अधिकांश लड़के जानते हैं, और वैसे नहीं जानते, जैसे मद्रास में जानते थे....उसे अपने आप से सन्तोष-सा होने लगा, और इस सन्तोष से उसकी पढ़ाई भी अच्छी होने लगी....पहली तिमाही परीक्षा में उसने देखा, यह चार विषयों में से तीन में प्रथम है। इससे उसकी प्रसिद्धि और फैली, उससे कुछ स्वागत और हुआ, कुछ परिचय और बढ़ा ...और धीरे-धीरे यह चारों ओर से आता हुआ सम्मान एक नशे की तरह उसके शरीर में असर करने लगा। उसने नहीं जाना कि कब और कैसे उसके खर्च का बिल दुगने से अधिक हो गया है, कैसे उसके एक ट्रंक की बजाय तीन सूटकेस कपड़ों से भर गए हैं, जब कि उसे ठीक समय पर ठीक रंग की टाई तक नहीं मिलती है—टाई जो कुल मिलाकर दो घन इंच स्थान नहीं लेता होगी! जाना उसने तो यही कि लोग कपड़े खरीदने में उससे परामर्श लेने आते हैं, कालेज में जिस दिन वह कोई नई टाई पहनकर जाता है, उसके अगले दिन कई जगह वह देखने को मिलती है, जब कि शेखर के गले से वह उतर चुकी होती है ...देखा उसने तो यही कि अब उसे बोर्डिंग के बाहर रहनेवाले विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों के भी निमन्त्रण आते हैं ...

और उसका कवच अभी तक ढीला ही था। कितना सुख था उसे ढीला छोड़कर पड़े रहने में, अपने को वायु के प्रत्येक झोंके को समर्पित कर देने में! यह वायु उसका श्रम हर लेगी, पसीना सुखा देगी, उसकी धमनियों में थकान से दूषित हुए रक्त को ठण्डा करके ताजा कर देगी, उसका दर्द मिटा देगी....अच्छा है अपने को वायु को समर्पित कर देना, झोंके में बहना....

लेकिन झोंके में बहकर इधर उधर झूमने से यह लोहे का कवच चुभ जाता है.... जब तक कवच है, तब तक उसे कसा ही रहना होगा—या उसे उतारकर फेंक देना होगा ताकि वह उलटा आघात न करे? क्या शेखर उसे उतारकर फेंक दे? लेकिन वह तो अपने सब वस्त्र, वह सब झूठमूठ का आडम्बर जो राह में बोझ होता, पहले ही उतारकर फेंक आया था—अब तो कवच के नीचे उसकी नंगी त्वचा है, नंगी और नरम और जीवित... और उसके नीचे हाड़ और मांस और रक्त में छिपकर रहनेवाला सूक्ष्म, निराश्रय, निस्सहाय, अशान्त जीव—स्वयं शेखर .. तब क्या वह कवच को फिर कस ले?

लेकिन लड़ाई से हटकर नदी-तट पर पड़ी हुई नाव में कवच ढीला करके पड़

और उसने सोचा, ये आदमी मर्द हैं। इनके साथ काम हो सकेगा, ये लड़ाई में कंधे से कन्धा भिड़ा सकेंगे।

वह लड़ाई से भागकर आया था, थका हुआ आया था। इसीलिए वह इस समय अपने में रण-तत्परता नहीं पाता था, तनाव नहीं पाता था। उसने मानो अपना कवच ढीला कर दिया था और सुस्ता रहा था। सोया वह नहीं था, आँखें खुली थीं, लेकिन यद्धग्रस्त भी वह नहीं था, वह सिर्फ देख रहा था, उसकी आँखों में सिर्फ पहचानने की चेष्टा का खुला भाव था; न दोस्ती का खिंचाव, न दुश्मनी का संकोच।

और उसने इस नए प्रदेश के लोगों को दो वर्ष बाद फिर देख कर सोचा, ये आदमी मर्द हैं, इनके साथ काम हो सकेगा।

दो वर्ष पहले जब वह मैट्रिक की परीक्षा देने आया था, तब उसने इन लोगों को ठीक से देखा भी नहीं था। अपने मस्तिष्क को शारदा से भरे हुए वह आया था, और शशि की ही एक नई छाप वह उस पर ले गया था, और विशेष कुछ उसने देखा नहीं था; लेकिन अब एक लड़ाई से आकर वह उन्हें योद्धा के ही माप से मापने लगा—यद्यपि थके हुए और सुस्ता रहे योद्धा के।

शेखर में पक्षपात नहीं था—कुछ था तो पंजाब और उसके निवासियों के हक में ही—और वह आते ही कोशिश करने लगा कि उनके साथ एकात्म, एकप्राण हो सके। हॉस्टल के लड़कों से मिलकर उनके विचार जानने की, उनके आदर्श और उनकी कामनाएँ समझने की, उसने चेष्टा की। जब उसने देखा कि इसमें वह स्वयं विघ्नरूप है, क्योंकि वह उनकी भाषा नहीं बोलता है, उनके कपड़े नहीं पहनता है, स्पष्ट दिखा देता है कि वह उनमें से नहीं है, तब उसने इनका भी इलाज करना आरम्भ किया। उसने दो-तीन सूट सिलवाए; कॉलर, टाइयाँ, मोज़े, शू, कंघी-ब्रुश, खुशबूदार तेल, पैंट दाबने का प्रेस और कोट टाँगने का फ्रेम, एक खाकी सोला हैट भी—ये सब चीज़ें वह निरीह भाव से ले आया। चीज़ें उसने सब साधारण लीं, बहुत अधिक पैसा खर्च नहीं किया, पर उसकी पसन्द में कुछ ऐसी विशेष सादगी थी कि चीज़ें दाम की सस्ती होकर भी सूरत की सस्ती नहीं जान पड़ती थीं। भड़कीली चीज़ इतना अधिक सामने आती है कि उसमें दृश्य सौजन्य का होना लाज़िमी हो जाता है; जो चीज़ सामने नहीं आती, वह गुज़ारे लायक सस्ती होकर भी चल जाती है। सूट पहनकर जब वह अपने सहपाठियों में जा मिला, तब उसने देखा कि जहाँ तक 'ट्रेडमार्क' का सवाल है, वह उनकी पाँत में खड़ा होने का अधिकारी हो गया है। भाषा का प्रश्न अभी था, वह उनकी भाषा ठीक तरह बोल नहीं सकता था, मुहावरा तो बिलकुल ही नहीं जानता था। फिर भी, रंग-ढंग में उन-सा होकर और उनकी बात समझ लेने के काबिल होकर वह ऐसा गैर नहीं दीखता था। और उसे धीरे-धीरे उनके समाज में प्रवेश मिलने लगा।

इस प्रकार भेष के सहारे जिस आसानी से उसे चारों ओर रास्ता मिलने लगा, उस पर उसे सन्देह होना चाहिए था, लेकिन वह सन्देह के लिए उपयुक्त मनःस्थिति में ही नहीं

था। स्वीकृति पाना, स्वागत पाना, मान्य होना, कितना अच्छा था''''शेखर चेहरे-मोहरे से विशेष असुन्दर नहीं था; और वह नया युरोपियन वेश भी उस पर बोझ की तरह नहीं बैठता था। चुप रहनेवाले, अपने ही भीतर रहनेवाले इस आधे जंगली, आधे संन्यासी आदमी की जबान विदेशी सभ्यता की हर समय चलती ही रहनेवाली मिथ्या विनयभरी बातचीत में भले ही अटकती हो, लेकिन विदेशी वेश को निभा ले जाने में उसे कोई कठिनाई या हिचक नहीं होती थी। यह वेश उसके लिए बहुत अपरिचित नहीं था, अंग्रेजी भाषा भी उसकी मातृभाषा नहीं तो धातृभाषा तो थी ही—बोलना उसे एक अमेरिकन पादरी ने अपनी भाषा में सिखाया था....शीघ्र ही शेखर ने पाया कि उसे कालेज के अधिकांश लड़के जानते हैं, और वैसे नहीं जानते, जैसे मद्रास में जानते थे....उसे अपने आप से सन्तोष-सा होने लगा, और इस सन्तोष से उसकी पढ़ाई भी अच्छी होने लगी....पहली तिमाही परीक्षा में उसने देखा, वह चार विषयों में से तीन में प्रथम है। इससे उसकी प्रसिद्धि और फैली, उससे कुछ स्वागत और हुआ, कुछ परिचय और बढ़ा ...और धीरे-धीरे यह चारों ओर से आता हुआ सम्मान एक नशे की तरह उसके शरीर में असर करने लगा। उसने नहीं जाना कि कब और कैसे उसके खर्च का बिल दुगने से अधिक हो गया है, कैसे उसके एक ट्रंक की बजाय तीन सूटकेस कपड़ों से भर गए हैं, जब कि उसे ठीक समय पर ठीक रंग की टाई तक नहीं मिलती है—टाई जो कुल मिलाकर दो घन इञ्च स्थान नहीं लेता होगी! जाना उसने तो यही कि लोग कपड़े खरीदने में उससे परामर्श लेने आते हैं, कालेज में जिस दिन वह कोई नई टाई पहनकर जाता है, उसके अगले दिन कई जगह वह देखने को मिलती है, जब कि शेखर के गले से वह उतर चुकी होती है ...देखा उसने तो यही कि अब उसे बोर्डिंग के बाहर रहनेवाले विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों के भी निमन्त्रण आते हैं....

और उसका कवच अभी तक ढीला ही था। कितना सुख था उसे ढीला छोड़कर पड़े रहने में, अपने को वायु के प्रत्येक झोंके को समर्पित कर देने में! यह वायु उसका श्रम हर लेगी, पसीना सुखा देगी, उसकी धमनियों में थकान से दूषित हुए रक्त को ठण्डा करके ताजा कर देगी, उसका दर्द मिटा देगी....अच्छा है अपने को वायु को समर्पित कर देना, झोंके में बहना....

लेकिन झोंके में बहकर इधर उधर झूमने से यह लोहे का कवच चुभ जाता है.... जब तक कवच है, तब तक उसे कसा ही रहना होगा—या उसे उतारकर फेंक देना होगा ताकि वह उलटा आघात न करे? क्या शेखर उसे उतारकर फेंक दे? लेकिन वह तो अपने सब वस्त्र, वह सब झूठमूठ का आडम्बर जो राह में बोझ होता, पहले ही उतारकर फेंक आया था—अब तो कवच के नीचे उसकी नंगी त्वचा है, नंगी और नरम और जीवित... और उसके नीचे हाड़ और मांस और रक्त में छिपकर रहनेवाला सूक्ष्म, निराश्रय, निस्सहाय, अशान्त जीव—स्वयं शेखर .. तब क्या वह कवच को फिर कस ले?

लेकिन लड़ाई से हटकर नदी-तट पर पड़ी हुई नाव में कवच ढीला करके पड़

रहना कितना सुखद है—वायु के प्रत्येक झोंके पर उठना और गिरना, मानो वह एक झूला हो....

०

जिस सारे समाज में शेखर ने प्रवेश पा लिया था, अब वह जानने लगा कि वह समाज कई अलग-अलग टुकड़ियों में विभक्त है। होस्टलों के छात्रों में तो वह इस तरह की टुकड़ियाँ नहीं देख पाया, वहाँ तो या धन के हिसाब से वर्गीकरण था, या बुद्धि के हिसाब से; लेकिन बाहर के जिन लोगों से परिचय उसने पाया था, वहाँ की बात और थी। कभी उसे लगता कि ये टुकड़ियाँ सिद्धान्तों के आसरे बनी हैं, क्योंकि किसी एक में वह प्लेटो को आदर्श रूप में पुजते हुए पाता तो दूसरे में शोपेनहॉवर को, किसी में स्टोइक (stoic) मत पर बहस होती हुई पाता, तो किसी में हीडोनिज्म की चर्चा; कभी उसे लगता कि यह दलबन्दी अपने-अपने व्यसन-विशेष का समर्थन करने के लिए है....

शेखर ने अपने को धीरे-धीरे दो विभिन्न टुकड़ियों में घनिष्ठ होते हुए पाया। स्वभाव से ये दोनों टुकड़ियाँ एक दूसरे से काफी भिन्न थीं, लेकिन शेखर का अपना अन्तर्विरोध ऐसा था कि वह दोनों ही में आगे-आगे बढ़ता जा रहा था।

पहली टुकड़ी के अधिकांश सदस्य शेखर के साथ ही छात्रावास में रहते थे। इस छात्रावास में, जिसमें शेखर अपने पहले स्थान से इसलिए आ गया था कि वहाँ उसे छात्र-समुदाय के उन्नत अंग से मिलने की आशा थी, प्रायः अच्छी हैसियतवालों के बेटे रहते थे, और कालेज में नाम भी अधिक वहीं का सुनने में आता था, क्योंकि खेलों में—हॉकी, फुटबाल, टेनिस आदि में—और सभा-सोसाइटियों के बहस-मुबाहसे में यहीं के लड़के प्रमुख भाग लेते थे या यों कह लें कि ऐसे छात्रों को इस बोर्डिंग में विशेष स्थान मिलता था....

सामनेवाले कमरे में नित्य शाम को हँसी सुनकर एक दिन शेखर भीतर गया था, तभी से इस टुकड़ी से उसका परिचय हो गया था। कमरा इस दल के प्रमुख सदस्य चतुरसेन का था, जिसे किसी ने देशी भाषा में बात करते नहीं सुना, और जो केवल इसी बूते पर बोर्डिंग के तीन मानिटरों में से एक था। वहाँ पर नित्य ही उसके साथियों का आना होता था—जिन्हें पहले दिन परिचय के समय तो शेखर ने नरेन्द्र, भूपेन्द्र, और मोती के नाम से जाना, लेकिन दूसरे दिन से क्रमशः 'काल्नू', 'भोंपू', 'पपो' नाम से पहचानने लगा। इस दल में किसी को पूरा नाम लेकर बुलाना पाप समझा जाता था—तकल्लुफ़ था। "हम लोग तकल्लुफ़ नहीं चाहते—आदमी-आदमी के सीधे सम्बन्ध में यह विघ्न है। हम इनसान को इनसान कहकर जानना चाहते हैं, समाज के लिपे-पुते 'स्केयर क्रो' ([illegible]) के रूप में नहीं।" यह काल्नू ने एक दिन कहा था। बात शेखर को बुरी तो नहीं लगी थी, लेकिन काल्नू के मुख से अजीब लगी थी क्योंकि काल्नू सारे दल में सबसे कम बुद्धि रखता था। 'पपो' ही यदि कहता तो—तार्किक में भी उसका स्थान बहुत

अच्छा था, लेकिन वह प्रत्येक बात पर एक विकृत व्यंग-भरी हँसी हँस देता था, यहाँ तक कि अपने पर भी वह उसी के साथ निरन्तर कटाक्ष करता रहता था। अक्सर वह कालेज की लड़कियों की बात करता था, और उसकी बात-बात से उनके—स्त्री-जाति-मात्र—के प्रति उसकी घोर अश्रद्धा और अवज्ञा टपकी पड़ती थी...शेखर को लगता, यह आदमी तबीयत का यती है, लेकिन इसका संयम उलटे मार्ग में पड़कर जहरीला हो गया है, तभी यह उपेक्षणीय की उपेक्षा न कर निरन्तर विष उगलता रहता है। यह बात कभी उसे आकर्षित करती, कभी एकदम ग्लानि से भरकर परे धकेल देती, लेकिन अपनी तीव्र बुद्धि के कारण वह शेखर के पास-पास आता गया, और एक दिन विचित्र ढंग से शेखर ने उससे शिक्षा पाई।

'पपी' ने शेखर का परिचय मिस कौल नाम की तीन बहिनों से कराया, जो अपनी टोली में रानी, लिली और स्वी के नाम से प्रसिद्ध थी। बड़ी एम० ए० में पढ़ती थी, दूसरी दोनों बी० ए० में। उनकी फैशनेबल भ्रू-विहीन और रँगी पलकोंवाली आँखों और लिपस्टिक-मढ़े ओठों के पीछे भी वह प्राकृतिक सौन्दर्य दीख ही जाता था, जिसे संस्कृत बनाने की कोई कोशिश उन्होंने छोड़ी नहीं थी। दो एक बार मिलने के बाद जब शेखर उनकी युद्ध-पीड़ित प्रबुद्ध वर्ग की-सी उपराम (disillusioned) बातचीत सुनकर यह सोचता हुआ बाहर निकला था कि इतने उपराम के साथ रंग और लिपस्टिक का निबाह कैसे होता है, तब वह अनजाने में यह प्रश्न जोर से कर गया था। 'पपी' ने पूछा, "कौन सबसे ज्यादा उपराम लगी तुम्हें ?"

शेखर ने कहा, "कह नहीं सकता। लेकिन स्वी शायद—"

"अरे भाई, नाम मुझे याद नहीं रहते, मैं तो उनको अलग-अलग सेंट की बू से उन्हें पहचानता हूँ।"

शेखर थोड़ा-सा मुस्कराया। उसका परिष्कार इतना हो गया था कि इस ढंग की बातचीत में रस ले सके, यद्यपि स्वयं कह नहीं सकता था। बोला, "मैं तो अभी इतना पारखी हुआ नहीं—"

'पपी' ने कहा, "अच्छा ही है। अरे, एक दिन तो ग़जब हो गया था। मैंने ऐसी बात कालू से कही थी; उस बदमाश ने एक दिन चुपचाप उनकी सेंट परस्पर बदल दी। उसके बाद हम सब मिलकर सिनेमा गये, वहाँ से लौटते समय मैं तो पहचान नहीं सका कि कौन-कौन है।"

कालू को आते देखकर 'पपी' चुप हो गया। लेकिन कालू ने बात सुन ली थी। बोला, "हाँ, हाँ, पूरी बात कहो न ! रुक क्यों गए ? बात यह हुई कि हम लोग एक झुरमुट में से होकर आ रहे थे। अँधेरे का फायदा उठाकर 'पपी' ने स्वी का हाथ पकड़ा, तो उसने झटककर कहा, "How dare you, Puppy" ! (खबरदार, पपी !) बिचारे लगे माफ़ियाँ माँगने, तब लिली खिलखिलाकर हँसने लगी—"

"झूठे कहीं के! अपनी तो कहो—दो ही दिन में भूल गए? लिली तो तुम्हारी हिमायत पर—"

"कब की बात है?" शेखर ने मुस्कराते हुए पूछा।

"अरे, परसों की—"

लेकिन 'पपी' को बीच ही में टोककर कालू ने कहा, "भई सच तो यह है कि आजकल किसी को भी पहचानना मुश्किल है। चैटर (चतुरसेन अपने नाम का उच्चारण ऐसे ही करता था) एक दिन बहुत चालाक बन रहा था, कहता था कि पहचान तो लिपस्टिक के स्वाद से ही होती है, पर—"

शेखर को कुछ ग्लानि हुई। स्त्रियों और उनकी चालढाल के बारे में मज़ाक वह सुन लेता था, लेकिन उन चेष्टाओं का मज़ाक उसे अभी तक बुरा लगता था, जिन्हें वह प्रेम का अंग समझता था। "प्रेम-व्रेम कुछ नहीं है। शरीर है और बुद्धि है—एक शरीर को पकड़ता है और एक पैसे को, बस यही तो प्रेम है।" यह दृष्टिकोण उसका नहीं बन पाया था। वह अलग हो गया और सोचने लगा, परसों रात को ये सब लोग बोर्डिंग में थे, स्वयं चतुरसेन ने साढ़े नौ बजे हाज़री ली थी, तब सिनेमा कैसे गए?

और यह प्रश्न उसके मन से नहीं निकला। वह बिना जाने ही रात की हाज़री के बाद इन सब लोगों पर पहरा देने लगा। तीसरी रात उसने देखा कि हाज़री के बाद पिछली सीढ़ियों से चारों मित्र उतरे हैं, और उनके पीछे-पीछे बोर्डिंग का एक नौजवान नौकर भी। नौकर उन्हें बाहर निकालकर दरवाज़ा बन्द करने को ही था कि शेखर ने जल्दी से कहा, "काम है चतुरबाबू से", और बाहर निकल गया।

नौकर ने अपने हाथ की बोतल छिपा ली, यह चेष्टा भी शेखर ने देखी।

साढ़े ग्यारह बजे शेखर लौट आया। चारों जन दो मील के करीब जाकर एक घर में घुस गए थे, यह देखकर शेखर लौट आया था। द्वार खुला था, वह चुपचाप पिछली सीढ़ियों से चढ़कर कमरे में आकर सो गया।

अगले दिन शाम को वह पता लेने गया कि मकान किसका है। वह उससे कुछ दूर खड़ा सोच ही रहा था कि किससे पूछे, कि कालेज के गणित के प्रोफ़ेसर आ निकले और शेखर को पहचानकर बोले, "तुम यहाँ कहाँ, शेखर? भले आदमी यहाँ नहीं ठहरते।"

"क्यों?" शेखर ने ज़रा विस्मय से कहा।

"जानते नहीं, यह सामने वेश्याओं का महल्ला है?"

शेखर विस्मित और लज्जित होकर प्रोफ़ेसर के साथ ही चल पड़ा।

•

दूसरे दल में शेखर ने कभी स्त्रियों की चर्चा नहीं सुनी। इस दल की सारी चिन्ता मानो समस्या के सुधार की ओर लगी हुई थी। स्त्रियों की चर्चा कभी होती थी तो एक रूप में—नारी महाशक्ति पूज्य है, नारी समस्या की संचालिका है, नारी इस पुरुष-

प्रधान सभ्यता का केन्द्र हैं, नारी यह है और वह है'''सम्भवतया इसका कारण यही था कि इस दल के सदस्यों में एक ही स्त्री थी और वही इस दल की नेत्री थी।

मणिका ने ऑक्सफ़ोर्ड और पेरिस में शिक्षा पाई थी। वहाँ से डिग्री लेकर वह भारत लौट आई थी, किन्तु पर्याप्त धन पास होने के कारण उसने नौकरी करना अनावश्यक समझा था। केवल समय बिताने के लिए सप्ताह में चार-पाँच घण्टे एक कालेज में अवैतनिक रूप से साहित्य पर लेक्चर देना स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार विद्यार्थियों से अपना सम्पर्क बना रखा था। कालेजों में यह बात प्रसिद्ध थी कि किसी कालेज का कोई भी योग्य लड़का अवश्य मणिका देवी के मण्डल में होगा; और इसीलिए अपने को योग्य समझनेवाले—या न भी समझनेवाले लड़के सदा इस ताक में रहते थे कि किसी प्रकार उस मण्डल की सदस्यता प्राप्त कर सकें....

शेखर को वहाँ उसी की श्रेणी का एक लड़का ले गया था। इस बंगाली लड़के के चपटे मंगोल चेहरे और ऊँची पावर के चमकते हुए चश्मों के पीछे एकटक देखनेवाली और कुछ सूजी हुई-सी आँखों से बेवकूफ़ी टपकी पड़ती थी; किन्तु फिर भी वह था योग्य और अंग्रेजी साहित्य के कुछ अंगों पर उसका ज्ञान बहुत अच्छा समझा जाता था। शेखर ने अपनी परीक्षा में रोजेटी और उसके 'प्री-रैफ़ेलाइट' दल के कवियों पर जो निबन्ध लिखा था, उसी के कारण वह *मणिका देवी के मण्डल में जाने का* अधिकारी समझा गया था और वह बंगाली लड़का उसे वहाँ ले जा रहा था।

शेखर चल तो पड़ा, किन्तु वह सोचता जा रहा था कि वह समय ठीक नहीं है। उस समय वह इन सब सभ्य दलों के प्रति क्षोभ और घृणा से भरा हुआ था। दिन में नहाते समय बाथरूम में ही उसकी कालू से लड़ाई हो गई थी—बाथ-रूम में उसे देर करते देख, बाहर खड़े कालू ने गाली दी थी और शेखर ने नंगे ही बाहर निकलकर उसे पीटा था—उस समय से शेखर के भीतर कुछ उबल रहा था। ऐसी हालत में वह जाना नहीं चाहता था, किन्तु यह जानकर कि उसके लिए समय निश्चित किया गया है, वह चल पड़ा।

मणिका देवी का ड्राइंगरूम सुन्दर था, किन्तु उसे उसका सौन्दर्य देखने का अवकाश न मिला।

कमरे में बैठे तीन और व्यक्तियों को अवश्य वह एक नज़र देख गया। सोफ़े पर लेटी हुई मणिका ने शेखर और उसके साथी को प्रवेश करते देखकर साथी पर आँख टिकाकर पूछा "हलो, रसगुल्ला, यही तुम्हारे मित्र हैं?"

शेखर ने चौंककर अपने साथी की ओर देखा। हाँ, ठीक तो है, रसगुल्ला, इस सोफ़े पर लेटी हुई दुबली औरत की तीखी ज़बान और उसके द्वारा चुने हुए नाम की उपयुक्तता पर वह एक हल्की सी मुस्कराहट रोक नहीं सका। रसगुल्ला—एक बार यह नाम सुनकर मानो यह कल्पना करना कठिन हो गया कि इस आदमी का दूसरा भी कुछ नाम हो सकता है!

शेखर ने यह भी देखा कि जब तक रसगुल्ला उसका परिचय कराता है—

चन्द्रशेखर पण्डित,—मिस मणिका देवी' तब तक मणिका ने सिर से पैर तक उसे देख लिया है और मन ही मन यह तय कर लिया है कि यह व्यक्ति दिलचस्प नहीं है।

मणिका ने बाँह फैलाकर कुर्सी दिखाते हुए कहा, "बैठिए। आप सिगरेट पीते हैं?" दो अँगुलियों से अखरोट की लकड़ी का कामदार डिब्बा उसने शेखर की ओर सरका दिया।

"धन्यवाद, मैं नहीं पीता।"

मणिका के दाईं ओर बैठे एक मोटे से, गुलाबी नाकवाले एंग्लो-इण्डियन व्यक्ति ने कहा "मिस मानिका, यह क्यों, वह दीजिए न इन्हें; दीक्षित कीजिए।" और एक गिलास शेखर के पास रखकर पुकारा 'बेरा!'

शेखर ने उसके हाथ के इशारे का अनुसरण करते हुए देखा, मणिका के पास एक साइड टेबल पर एक ट्रे में दो बोतलें और दो-एक छोटे-बड़े गिलास पड़े हैं।

"धन्यवाद, नहीं।"

"अरे आप नहीं पीते? तब तो यहाँ नहीं चलने का! मैं तो पिए बिना नहीं रुकता। और सभ्यता—"

मणिका ने कुछ रुखाई से कहा, "सभ्यता को तो बख्श दीजिए, भले आदमी।"

रसगुल्ले ने कहा, "मैथ्यूज तो हमेशा यही कहता है कि शराब छोड़ने से ग्रीक सभ्यता बरबाद हुई—जब तक ग्रीक लोग पीते रहे, बने रहे।"

बेरा चाय ले आया था। अब तक चुप बैठे हुए व्यक्तियों में से एक ने पूछा, "चाय तो आप पीते होंगे मिस्टर पण्डित?"

"नहीं, मैं नहीं पीता।" प्रश्न में एक हल्का-सा व्यंग्य था, जिससे शेखर झल्ला-सा उठा। बोला, "इतना ही नहीं, मुझे इस पर भी आपत्ति है कि आप यह प्रश्न भी करें। चाय, तो 'आप पीते हैं?' सिगरेट, तो 'आप पीते हैं?' शराब, तो 'आप पीते हैं?' मानो सभ्यता की कसौटी ही यह प्रश्न है—"आप पीते हैं?"

मणिका के चेहरे पर पहली बार कुछ दिलचस्पी दीखी। उसने कहा "खूब, पण्डित; आज पहली मरद की बात सुनने में आई है।"

मैथ्यूज ने कुछ झेंप में कहा, "मिस्टर पण्डित बोले तो। मैं तो समझा कि 'नहीं' और 'धन्यवाद' के सिवाय कुछ बोलते नहीं।"

"महात्मा लोग थोड़ा बोलते हैं, पर बोलते हैं काम का।"

शेखर ने इन बौछारों की ओर उपेक्षा प्रकट करने के लिए रसगुल्ले की ओर उन्मुख होकर पूछा, "तुम भी पीते हो?"

मणिका मुस्कराती हुई बोली "तो आप उनकी सभ्यता परखने चले हैं?"

हँसी का कहकहा लगा। मैथ्यूज बोला, "अरे रसगुल्ला? यह तो स्पंज रसगुल्ला है—स्पंज की तरह शराब सोखता है—" और अपने श्लेष व्यंग पर स्वयं ही हँस दिया।

शेखर ने कहा, "पंजाब का विद्यार्थी-जीवन इतना पतित है, मैं नहीं जानता था।

मैं समझा था इस हट्टे-कट्टे शरीर के लोगों में कुछ सार होगा, पर सब सड़े हुए हैं, सड़े हुए।"

पालतू सुनहली मछलियों के रंगीन जल से भरे पात्र में एक केकड़ा घुस आए, तब मछलियों की जो हालत होती है, वही उस गोष्ठी की हुई। बहुत जल्दी ही सब उठकर चल दिए, और अपने को अकेले मणिका के सामने पाकर शेखर भी विदा लेने को उठ खड़ा हुआ।

मणिका ने भी उठते हुए कहा, "आपसे मिलकर मुझे खुशी हुई—" और इस साधारण शिष्टाचार का वैसा ही उत्तर शेखर देनेवाला था कि वह आगे कह गई, "मेरे यहाँ आनेवाले लोगों में बुद्धि तो है, पर चरित्र नहीं, इसके लिए मुझे भी दुःख है। हमारे दाँत तो बड़े-बड़े हैं, पर आँतें नहीं हैं—कौर बहुत बड़ा ले लेते हैं, पर पचा नहीं सकते। आपको खाने में अनिच्छा दीखती है, लेकिन सिस्टम ठीक-ठीक है।" क्षण भर रुककर वह फिर बोली, "सचमुच मुझे खुशी हुई है मिलकर।" इस बार स्वर में शिष्टाचार नहीं, सत्य था।

शेखर ने हल्की-सी कृतज्ञता से कहा, "नमस्कार।"

"नहीं, ऐसे—" कहकर मणिका ने हाथ बढ़ाया। शेखर ने हाथ मिलाया, मणिका बोली, "फिर अवश्य आना, जॉन दी बैप्टिस्ट।"

शेखर को नाम अच्छा लगा—"जॉन दी बैप्टिस्ट।" इसमें अवश्य इस आधे पागल, पैग़म्बर की-सी रूखी सद्भावना थी। और मणिका के हाथ का दबाव भी अच्छा था—उसमें वात्सल्य था; वह मानो पुरुष का हाथ था।



मणिका के चरित्र में एक विचित्र कारुणिकता थी, जिसे देखकर झल्लाहट भी होती थी, दया भी आती थी और थोड़-सा आदरभाव भी होता था—जिसके कारण शेखर तीन-चार बार और उसके घर गया; प्रतिबार वह कुछ अधिक प्रभावित और बहुत अधिक खिन्न होकर आता था। मणिका में प्रखर प्रतिभा थी, किन्तु उसको संयत रखने की दृढ़ता न थी; पर साथ ही अपने में दृढ़ता न होने का करुण और उत्ताप-भरा ज्ञान भी था, जिसके कारण उस पर क्रुद्ध होना सहल नहीं था।

पहली मुलाक़ात के बाद एक दिन तीसरे पहर शेखर ने मणिका से चाय का निमंत्रण पाया था, जिसमें शिष्टाचार के निमन्त्रण वाक्य के आगे लिखा था, "उस समय कोई अवान्छनीय व्यक्ति नहीं होंगे; आप निश्चिन्त रहें।" और उस दिन शेखर ने जाना था कि मणिका का ज्ञान कितना गहरा और शक्ति कितनी कम है—यद्यपि ज्ञान ही को शक्ति कहा गया है।

दो-तीन बार और भी शेखर निमंत्रित होकर गया, कभी भी उसने किसी अन्य व्यक्ति

को उपस्थित न पाया। उसके बाद उसका परिचय ऐसा हो गया कि वह बिना बुलाए भी बेधड़क जा सके।

एक दिन खाना खाकर शेखर घूमने निकला, तो उसके मन में हुआ कि वह मणिका से मिल आए। वहाँ विलायती रीति-रिवाज का पालन होता है, तब डिनर के बाद बातचीत के लिए जाने में कोई अनौचित्य नहीं है, यह सोचकर वह कोठी पर जा पहुँचा।

बाहर ही उसे मैथ्यूज़ मिला। उसे अच्छा नहीं लगा—मैथ्यूज़ भी इस आकस्मिक मिलन से प्रसन्न नहीं हुआ।

शेखर ने ड्राइंग रूम का द्वार खटखटाया, फिर खटखटाया; फिर भीतर चला गया। ड्राइंग रूम खाली था, आगे डाइनिंग-रूम का द्वार भी खुला था; मेज पर जूठे बर्तन पड़े थे, किन्तु कमरे में कोई नहीं था। शेखर क्षण भर असमंजस में खड़ा रहा, फिर ड्राइंग रूम में एक कुर्सी पर बैठा और तत्काल उठ खड़ा हुआ। सामने ड्राइंग रूम के कोने की तरफ धीमे प्रकाश में नीले सोफे पर एक अस्तव्यस्त नीली साड़ी पहने मणिका लेटी हुई थी, एक नंगी बाँह लटककर फर्श पर टिकी थी।

शेखर ने पुकारकर कहा, "क्या हुआ, आप स्वस्थ तो हैं?" फिर पास जाकर दुबारा पूछा, "क्या बात है, मिस मणिका?"

मणिका की पलकें अनिश्चय से काँपीं; फिर खुल गईं। क्षण भर शेखर के चेहरे पर स्थिर रहकर फिर झिप गईं। एक बार फिर वे खुलीं—उन्हें खोलने का प्रयास मुख पर स्पष्ट झलक गया—और तब मणिका ने कहा, "शेखर, ओह!" एक बार उठने का प्रयास किया, हार गई, और फिर मानो हताश-सी होकर बोली, "शेखर—I am dead drunk! (मैं नशे में धुत् हूँ।) वह मैथ्यूज़ कुछ लाया था—इतनी तेज शराब मैंने पहले नहीं पी—मैं नहीं जानती थी—बदमाश!"

"मैथ्यूज़ लाया था? आपने पी क्यों—" शेखर कुछ सोच नहीं सका कि क्या कहे।

"पी! मैंने पी!" मणिका हँसी। "मेरी हँसी बेहूदा है न? मैं जानती हूँ। I am feeling stupid···stupid (मैं होश में नहीं हूँ।)", कुछ रुककर, "वह किताब उठा देना तो, नीली जिल्दवाली—और लैम्प इधर मोड़ देना—"

शेखर ने वैसा ही कर दिया। मणिका ने किताब लेकर काँपते हाथों से खोली और उँगली से एक जगह बताते हुए कहा—"यह कविता तुमने पढ़ी है?"

शेखर ने विस्मय और सम्भ्रम में वह पुस्तक उसके हाथ से ले ली, और धनमना-सा पढ़ने लगा।

"ज़ोर से पढ़ो, मैं सुनूँगी।"

My Candle burns at both ends
It will not last the night

But ah my foes, and oh my friends—
It gives a lovely light?*

शेखर चुप हो गया।

"आगे पढ़ो।"

पीड़ित स्वर से शेखर ने कहा, "मुझे क्षमा करें; इस समय और पढ़ने की इच्छा नहीं है।"

"इच्छा नहीं है? क्यों? पर तुम ठीक कहते हो। तुम्हें मुझ पर दया आती है न?"

शेखर ने उत्तर नहीं दिया।

"लेकिन मैं कहती हूँ—" आवेश में मणिका उठ बैठी—"तुम गलती करते हो और तुम बिना बुलाये क्यों आए?—चले जाओ—मेरे एकान्त में विघ्न बनकर मुझ पर दया करनेवाले तुम हो कौन?"

शेखर लौटने के लिए फिरा, तब मणिका फिर हँसी—"मैं नशे में हूँ न, मैं जानती हूँ। कैसी बेवकूफ़ों-सी हँसी है मेरी। हाँ, तुम जाओ। बुलाने पर ही आना, समझे?"

शेखर चल पड़ा।

"मैं ठीक कहती हूँ। Burn at both ends, शरीर इसी के काबिल है। इसी के काबिल। तुम मूर्ख हो मूर्ख, मेरे जान दि बैप्टिस्ट!"

बाहर शेखर को याद आ रहा था; एक दिन पहले बात-बात में मणिका ने पूछा था, "आपको कोई शौक है?" और उसने यों ही कह दिया था, "मुझे चित्र संग्रह करने का शौक है।"

"How uninteresting! (कितना अरुचिकर!) कोई जीव नहीं?"

शेखर ने बताया कि बहुत पहले उसे पशु-पक्षी पालने या तितलियाँ पकड़ने का शौक था, अब नहीं रहा।

"बस? I collect men! (मैं तो पुरुषों का संग्रह करती हूँ!) कैसे-कैसे अजीब नमूने होते हैं—लेकिन—" एकाएक उसका स्वर ऊब और थकान से भर गया था—"चमड़ी के नीचे सब एक से! असभ्य, असंस्कृत—लोलुप पशु!"

उस दिन का यह वार्तालाप याद करके शेखर के मन ने जोड़ा—"चमड़ी के नीचे सब एक से—सब पुरुष, सब स्त्रियाँ—पुरुष और स्त्री, स्त्री और पुरुष"

●

'दाँत हैं, पर आँत नहीं; कौर लेते हैं, पर पचा नहीं सकते—'

---

* मेरी बाती दोनों सिरों से जल रही है,
वह रात भर नहीं रहेगी—
किन्तु मित्रगण और शत्रुगण,
कितनी सुन्दर है उसकी दीप्ति!

'चमड़ी के नीचे सब एक से—लोलुप पशु—'

'जान दि बैप्टिस्ट—'

'तुम मूर्ख हो, मूर्ख—'

मन में दृढ़ निश्चय किए हुए कि अब वह बिना बुलाए क्या, बुलाने पर भी मणिका के यहाँ नहीं जाएगा; कालू से लड़ने के बाद चतुरसेन के दल से बहिष्कृत; अपने से कम बुद्धिवालों से अभिमान के कारण खिंचा हुआ; बार-बार अधिक खर्चा माँगने पर संतोष-जनक उत्तर न आने से घर से अप्रसन्न; शेखर जब एक विषण्ण औदास्य में अपने कमरे में बैठकर दुर्दम अभिमानी घोड़े की तरह अतीत की मिट्टी खूँदने लगा, और चाहने लगा कि पहले की भाँति ऐसे समय में अपने को सान्त्वना देने के लिए गद्य में या पद्य में कुछ लिखे, तब उसने पाया कि मणिका के कहे हुए कुछ-एक वाक्य बार-बार आकर उसके विचारों को बिखेर देते हैं और उसे बाध्य करते हैं कि आसानी से उन्हें टालने की बजाय उन पर विचार करे....वह नहीं चाहता था वैसा करना, किन्तु उसकी स्मृति में ही कुछ ऐसी बाध्यता थी कि वह विवश हो जाता था। चतुरसेन के दल के लोगों को और कौल बहिनों को वह बड़ी आसानी से मन से निकाल सका था—वे केवल एक क्षुद्र व्यभिचार के फैशनेबल रूप थे; किन्तु मणिका—वह एक शक्ति का विकृत और भ्रष्ट रूप था, जो ग्लानिजनक था, पर तिरस्कार्य नहीं—उसकी उपेक्षा नहीं होती थी।—मणिका की—उसकी श्रेणी की—आत्मा रोगग्रस्त थी, किन्तु थी आत्मा, और वह रोग भी एक उसका अकेला नहीं था; वह आधुनिक आत्मा का रुझान ही था।....

शेखर ने सान्त्वना की खोज छोड़ दी, गद्य और पद्य का मोह छोड़कर वही लिखना आरम्भ किया, जो उसके मन में से बीत रहा था—विद्यार्थी और शिक्षक....फैशन और संस्कृति, बुद्धि और वासना, प्रवृत्ति और निवृत्ति और आसक्ति....धीरे-धीरे उसके लिखने की गति बढ़ने लगी, मन भी मानो साँचे में ढलने लगा, और बढ़ते हुए विस्मय में उसने देखा कि अब वह गद्य और पद्य, कथा और निबन्ध सभी कुछ लिखता जा रहा है; और यद्यपि वह लिखकर सृजन का सुख नहीं; केवल परिश्रम का सन्तोष पाता है, यद्यपि वह कल्पना के मधुर रंग से नहीं, केवल परिचित अनुभूति के तिक्त रस से ही पन्ने रँग रहा है, और लिखकर कभी भी लिखे हुए को पढ़ने की इच्छा का अनुभव नहीं करता, कागज बटोरकर अलमारी के बड़े दराज में पटक देता है, तथापि उसका मन शिक्षित और विकसित होता जा रहा है। धीरे-धीरे उस पर यह ज्ञान या विश्वास हावी होने लगा कि जिनके बारे में वह लिख रहा है, जो पुरुष और स्त्री उसे घेरे हुए हैं और उसकी दुनिया को बनाते हैं, वे सब अन्ततोगत्वा बुरे नहीं हैं, वे सदिच्छाओं के बलहीन पुञ्ज हैं—उनमें सद्भावना है, लेकिन कामना पर्याप्त नहीं है, वे इसमें सन्तुष्ट हैं कि वे शिव की कामना करते जाएँ और अशिव उन्हें घेर ले, बाँध ले, तोड़ ले....क्या ऐसों से घृणा करने का साहस मनुष्य कर सकता है? किन्तु क्या ऐसों पर दया करना ही साहस का काम नहीं है? पर अकेला मानव अखिल संसार को दया की दृष्टि से देखे—इतनी स्पर्धा

उसकी !—और धीरे-धीरे बिना इस प्रश्न का कुछ निपटारा हुए ही उसके रंगे हुए पन्नों का ढेर बढ़ने लगा, यहाँ तक कि उसने अपनी लिखी हुई कापियाँ एक बक्स में भरना शुरू किया, फिर वहाँ उनको श्रेणियों में बाँटकर रखना सम्भव न पाकर एक आलमारी भर डाली....

और उसके मित्र उसके नव-जागृत वैराग्य पर हँसने लगे। चतुरसेन मण्डली ने इसमें अपनी भारी विजय समझी, और मौके-बेमौके शेखर के बाहर निकलने पर कुत्ते-बिल्ली की पुकारों में उसका स्वागत करके अपना विजयोल्लास दिखाने का नियम-सा बना लिया; अन्य लोगों ने समझा कि परीक्षा की तैयारी है, कुछ ने कहा कि माँगे हुए सूट-बूट पहनता था, अब मिलते नहीं, इसलिये बाहर नहीं निकलता....बदनाम उसे सबने कर दिया, किन्तु वास्तव में वह करता क्या है, यह जिज्ञासा सबमें बनी रही।

तब गर्मी काफ़ी हो गई थी—परीक्षा के दिन निकट आ गए थे। एक नशे-से में शेखर ने दो-चार पुस्तकें पढ़कर तैयारी की, नशे-से में परीक्षा दे दी और जान लिया कि वह अच्छी तरह पास हो जाएगा और फिर लिखने में जुट गया। परीक्षा के बाद उसके सहपाठी तो घर चले गये थे, लेकिन बाकी विद्यार्थियों ने उसे अब भी पढ़ाई में जुटे हुए पाकर, आई० सी० एस० की तैयारी से लेकर अफ़ीम खाने तक, सब तरह की अफवाहें उसके विषय में उड़ाईं, पर वह जुटा ही रहा। अन्त में शेष विद्यार्थियों की भी छुट्टियाँ आईं, सब अपने-अपने घर चले गये और शेखर अकेला रह गया।

एकान्त के लिए शेखर तैयार नहीं था। एकान्त का एक आतंक-सा उस पर छाया हुआ था। उसे आवश्यकता थी निरन्तर उससे—अपने से—भागते रहने की; निरन्तर अपने को कहीं केन्द्रित किए रहने की। होस्टल में अपने को अकेला पाकर उसका मन नौकरों की ओर गया—एकाएक उनके जीवन में उसे दिलचस्पी हो गई। किन्तु दो या तीन दिन के बाद उसने तय कर लिया कि वहाँ कुछ अधिक नहीं है, जो मन को उलझाए रखे—ये पहाड़िये दिन भर चिलम पीते हैं और गन्दी बातें करते हैं, शाम को दो-एक गीत गा लेते हैं और रात को कबड्डी खेल लेते हैं, बस। तब अपने निकट कहीं भी कुछ रुचिर न पाकर उसने यों ही सड़क-सड़क और गली-गली घूमना प्रारम्भ कर दिया। दिन में गर्मी बहुत होती थी, अतः दिन भर वह सोया रहता, शाम से आधी रात तक घूमता रहता और दो-एक घण्टे सोकर फिर प्रातःकाल की सैर कर लेता।

जिन लोगों ने इस तरह निरुद्देश्य भटकने में—विशुद्ध आवारापन में—कुछ समय नहीं बिताया है, वे कल्पना नहीं कर सकते, इसका नशा कितना गहरा है। शेखर ने देर तक नहीं समझा कि जिस जिज्ञासु-वृत्ति ने उसे फुरसत के समय भटकने की ओर प्रेरित किया था, वही उसके कारण स्पष्ट होती जा रही है—वह स्पष्टतः एक 'लोफ़र' बनता जा रहा है जिसे कोई भी जिज्ञासा नहीं है, कोई भी इच्छा, आकांक्षा, अभिलाषा, चेष्टा नहीं है, जो इससे अधिक कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता कि वह है। अनजाने ऐसी परिस्थिति के निकट आता गया, जहाँ वह भूखा होने पर चोरी करके खा

बिना इसका ध्यान भी किये कि उसने चोरी की और भूख के लिए की; या शीत होने पर बिना उसे अनुभव किए ही किसी का कम्बल चुरा ले सकता था....

इसलिए जिस दिन वह एकाएक उस पथ पर जा पड़ा, जिस पर एक दिन उसने मधुरसेन आदि का अनुसरण किया था, तो इसमें वह पूर्णतया अपराधी नहीं था, यद्यपि इस समय था वह होश में और खूब सचेत ।

०

ज्यों-ज्यों वह उस धुँधले और रंग-बिरंगे प्रकाशवाले मुहल्ले में घूमने लगा, त्यों-त्यों उसका मन अधिक जागृत और चौकन्ना होने की बजाय शिथिल और अलसाना होने लगा । इस पर उसे कुछ खीझ और क्लेश भी हुआ । उसने मानो अपने को जगाने के लिए अपने मन को झकझोरकर कहा, "शेखर, जागो, समझो, तुम कहाँ हो ! यह है वेश्याओं का मुहल्ला, यहाँ शरीर बिकते हैं, यहाँ तृप्ति बिकती है, यहाँ सुख बिकता है । समझे ?"....किन्तु उसके मन ने इसे पकड़ने से इनकार कर दिया । शेखर ने बढ़ते हुए रोष से बार-बार दुहराना आरम्भ किया, "वेश्या, वेश्या, वेश्या, प्रास्टिट्यूट, रण्डी, समझे ? जहाँ बन्धन नहीं है—लज्जा नहीं है—रोशनी नहीं है, अन्धकार नहीं है—है रंग—रँगे हुए मुँह...." किन्तु इससे भी उसका मन शिथिलतर ही होता गया; जागा नहीं, शेखर का निरन्वय करने को राजी नहीं हुआ, उसे आगे बढ़ाने को भी तैयार नहीं हुआ । मानो आगे जो आ रहा है, और जो चेतावनी दे रहा है, दोनों से उसे कोई सरोकार नहीं है....

एकाएक कोई औरत उससे टकरा गई, उसने अचकचाकर देखा, वह टकराकर अचानक नहीं लगी है; औरत ने जानबूझकर नग्नता से, अश्लीलता से, उसे धकेला है । शेखर एकटक उसकी ओर देखता रहा—बिना क्रोध के, बिना अनुभूति के, और एक ओर हटकर खड़ा हो गया । औरत ने झुँझलाहट में एक गाली दी और बढ़ गई । शेखर ने अपने को पूछना चाहा, वह क्यों यहाँ आया, क्या करने आया, क्या लेने आया .. उसने शायद उम्मीद की थी, कोई सनसनीदार घटना होगी या तीव्र घृणा होगी, या क्रोध होगा; कोई ऐसी विराट् प्रतिक्रिया होगी जो उसे भीतर आन्दोलित कर देगी, उसे दहला देगी—वह इस सबकी—बहुत सबकी !—स्वागत-भर के लिए प्रस्तुत नहीं था—न इस धीमी-सी उलझन के लिए....

एक चबूतरे पर दो छोटे-छोटे अधनंगे लड़के बैठे हुए थे । वे एक बीभत्स मुद्रा बनाए गाल सटकर बैठे हुए परस्पर गले में बाँह डाले एक दूसरे का मुँह चूम रहे थे और प्रत्येक चेष्टा के बाद सामने एक खिड़की की ओर देखकर एक गर्व भरी हँसी हँस देते थे । शेखर ने उनकी दृष्टि का अनुसरण किया—नीले बिजली के बल्ब के प्रकाश में फालसई रंग की साड़ी पहने एक स्त्री बैठी थी और उस रंगीन प्रकाश में उसका पाउडर से रँगा मुँह ऐसा लग रहा था, जैसे पानी में सड़ी हुई लाश हो....

शेखर आगे बढ़ गया ।

एक खिड़की के नीचे चारखानी जूट की तहमतें पहने चार-पाँच मुसलमान खड़े थे और एक लम्बे क़द के फ़क़ीर की ओर देख रहे थे। फ़क़ीर बूढ़ा था, गेरुआ पहने था, गले में मोटे-मोटे दानों की कंठी पहने था, और सामने झरोखे पर बैठी एक कुरूपा अधेड़ स्त्री की ओर उन्मुख होकर कह रहा था, "क्यों, तुम मादा नहीं हो? मेरे पास पैसा नहीं है, मैं भीख माँगता हूँ, पर—" छाती ठोंककर—"मैं मर्द हूँ, मर्द...." वह औरत उसकी ओर तिरस्कार-भरी दृष्टि से देख रही थी, और जुटे हुए लोग हँस रहे थे....

नहीं। यहाँ भी नहीं। यहाँ भी केवल वही हल्की-सी विरक्ति, एक क्षीण झल्लाहट... और मणिका के एक वाक्य की अनुगूँज—'चमड़ी के नीचे सब एक से होते हैं'—लोलुप पशु...पुरुष और पुरुष, स्त्री और स्त्री, पुरुष और स्त्री....शेखर और आगे बढ़ गया।

एक छोटी-सी, चिथड़ों में अधनंगी लड़की ने उसकी बाँह खींचकर कहा, "बाबू, पैसा दो।"

"पैसा मेरे पास नहीं है; भाग जाओ।" शेखर ने बाँह झटक दी; स्वर भी उसका कठोर था।

लड़की उसकी टाँगों से चिपट गई। बोली—"दो, नहीं तो मेरे साथ आओ—पीछे दे देना।" कहकर उसने एक एक कोठरी की ओर इशारा किया, जिसमें एक लालटेन जल रही थी....

शेखर ने अपने को छुड़ाया भी नहीं, वैसे ही यंत्रवत् आगे चलता गया। लड़की ने उसे छोड़ दिया।

एक ओर से आवाज़ आई, "किन्नो, देख तेरे देस का आदमी जा रहा है—बुला तो?"

शेखर को क्षीण-सा कौतूहल हुआ। नाम से वह नहीं जान सका कि कौन से प्रान्त की है वह, जिसे सम्बोधन किया गया है और जिसका स्वदेशीय उसे समझा गया है। पर वह रुका नहीं, न उसने मुड़कर देखा, यद्यपि उसने उधर से उसे लक्ष्य करके उत्पन्न की गई चुम्बन की जोरदार ध्वनि सुनी....

वह मोड़ पर मुड़ा ही था कि सामने से आता हुआ कोई बोला—"फूल ले लो!"

नहीं, वे चमेली के गजरे नहीं थे। शेखर ने एक बार देखा, ऐसे लड़खड़ाया जैसे गोली खा गया हो, फिर स्वस्थ होकर सिर झुकाए, एक हाथ से आँखें छिपाता हुआ भागा—भागा... उस स्थान पर—कुमुद के गट्ठे! कुमुद जो उसके लिए स्वच्छता का प्रतीक बन गए थे, जो...

वह भागा, और न जाने क्यों एक निरर्थक वाक्यांश हथौड़े की चोट की तरह बार-बार उसे उद्वेलित करने लगा—ईश्वर और मानव—ईश्वर और मानव...

उन कुमुद के फूलों ने उसके विचार की धाराओं को जिस मार्ग पर डाल दिया, और छुट्टियों में घर न लौटने के निर्णय ने उस पर जो कैद लगा दी, उसके कारण शेखर के मन में शीघ्र ही काश्मीर जाने की लालसा तीव्र हो उठी। उसके शैशव का वह सुन्दर

श्रीहास्यास्पद...कितने दिन हो गये थे उसे कुछ भी सुन्दर देखे हुए, और कितनी तीव्र वेदना थी उसके हृदय में कुछ ऐसा देखने के लिए—जो सुन्दर हो, सम्पूर्ण सुन्दर हो...

लेकिन क्या वह सत्य था। क्या वह सचमुच सौन्दर्य की खोज थी, जिसके कारण उसका जीवन इधर इतना अशान्त हो गया था? क्या वह उसकी परिस्थिति की असुन्दरता ही थी, जिसके कारण उसका अन्तर उबल-उबल पड़ता था? उसे निश्चय नहीं था, किन्तु युद्ध तो सम्भावनाओं का पीछा करने का ही दूसरा नाम है, और जीवन केवल सम्भावनाओं को पकड़ने का दीर्घ प्रयास है....

०

चीन की एक पुरानी कविता है, जिसका भावार्थ है, "व्यक्ति क्यों यह इच्छा लेकर अलसाया पड़ा रहे कि उसकी हड्डियाँ भी उसके पिता की हड्डियों के साथ ही समाधिस्थ हों? जहाँ भी कोई चला जाए, वहीं कोई शस्य-श्यामला पहाड़ी मिल सकती है।"

इसी कविता को प्रमाण-वाक्य बनाकर शेखर काश्मीर के लिए चल पड़ा था। जाता हुआ वह अपने मस्तिष्क को अतीत की पुनर्जात स्मृतियों से भरता जाता था, किन्तु उसकी मधुरता उसे बाँधती नहीं थी, अतीत के साथ समाधिस्थ होने की ओर आकृष्ट नहीं करती थी, केवल यह चाहना जगाती थी कि वह उससे भी अधिक शस्य-श्यामला पहाड़ी खोज ले, चाहे जहाँ भी उसके लिए जाना पड़े....

कुछ हँसी भी उसे आती थी अपनी खोज पर—सत्य की खोज, ज्ञान की खोज, मुक्ति की खोज तो सुनी थी, सौन्दर्य की खोज करने वाला जिज्ञासु वह पहला ही था!

अतीत झूठ था। कोई शस्य-श्यामला पहाड़ी उसमें नहीं थी—केवल समाधियाँ!

शेखर ने श्रीनगर पहुँचकर गली-गली छान डाली—उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। श्रीनगर में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं था—सिवाय भिन्न-भिन्न प्रकार की गन्ध के। नगर के बाहर सुप्रसिद्ध उद्यानों की सैर भी उसने की—किन्तु वहाँ पर थीं केवल रेखाएँ और कोण और वृत्त—और वृक्षों की कठोर शालीनता और अति-व्यवस्था केवल मृत्यु की शान्ति का ध्यान दिलाती थी। जिस व्यक्ति ने इन उद्यानों पर लिखाया था "अगर फ़िरदौस बररूए ज़मीन अस्त, हमीन अस्तो हमीन अस्तो हमीन अस्त" वह अवश्य कोई गणितज्ञ रहा होगा, जिसे बागवानी का शौक़ चर्राया होगा...शेखर ने नदी-नाले और झीलें पार कीं, पर उनका सौन्दर्य दर्शकों और यात्रियों की, और उनके गुम्बदार कुंजों की बेहूदा भीड़ से विकृत हो गया था। तब उसने नगर छोड़कर हिमालय की प्रधान शृंखला में छिपी हुई एक झील की ओर प्रयाण किया; राह के दोनों ओर पार्वत्य उपत्यकाओं में खिले हुए लाल, पीले, नीले, और श्वेत पुष्पों को उड़ती निगाह से देख कर वह इतनी ऊँचाई पर पहुँचा कि जहाँ-तहाँ चट्टानों की ओट में छिपी पिछले वर्ष की बर्फ़ दीखने लगी। एक चट्टान की आड़ में से उसने अकेला खिला हुआ गहरे आसमानी रंग का पोस्त का फूल भी तोड़ा जिसे पाना सौभाग्य है—ऐसा है उस फूल का आदर,

जिसका पाया जाना पानेवाले का सौभाग्य है, किन्तु फूल का अन्त !—किन्तु सौन्दर्य, सौन्दर्य उसे न मिला ! वह और ऊपर चला, साथ के कुली विद्रोह की तैय्यारी करने लगे, क्योंकि जिधर वह जा रहा था, उधर गये तो लोग थे, पर टिका कोई नहीं था—किसी का खेमा वहाँ नहीं गड़ा था....पर "वहीं तो मिलेगा सौन्दर्य !" कहकर शेखर उन्हें किसी तरह झील तक ले गया; झील के किनारे खेमा गाड़कर वह पड़ गया और सोचने लगा, इससे आगे कहाँ ?

झील बड़ी थी, बीच में जगह-जगह बर्फ की चट्टानें तैर रही थीं; ऊपर कूँजों की एक डार कभी इधर कभी उधर उड़ जाती थी, और हवा का झोंका झील के आर-पार मानो किसी पार्वत्य देवी का प्रशस्त पथ तैयार कर रहा था। शेखर देखा किया, फिर थकान के कारण और जाड़े से कुछ काँपकर उसने खेमे का परदा डाल दिया और लौटकर सोचने लगा, यहाँ से आगे पथ नहीं है, पीछे ही लौटना होगा, पर उसे तो पीछे कभी पथ दीखा ही नहीं है, वह जाएगा कैसे....

झील के किनारे की एक चट्टान की आड़ में खड़े शेखर को जान पड़ा, सामने दो चट्टानों से जो अँधेरी-सी गुफा बन गई है, उसमें खड़ी कोई शुभ्रवसना देवी पानी में अपने पैर भिगो रही है। फिर उसे लगा, वह देवी नहीं, मानवी है, और शेखर की परिचिता है। किन्तु कौन ? नहीं, चेहरा केवल किसी से मिलता है—शारदा ? शशि ?

शेखर एकाएक जाग पड़ा। वह सो गया था, सोते समय खेमे के परदे की थोड़ी-सी खुली जगह में से चाँदनी उसके मुँह पर आ रही थी। स्वप्न से वह अशान्त-सा हो गया, कुछ-कुछ अपराधी होने का भी भाव उसके मन में आया। उसने कन्धे पर कम्बल डाल लिया और खेमे से बाहर निकल गया।

बाहर खुली चाँदनी छिटकी थी, इतनी प्रोज्ज्वल कि निरभ्र आकाश में भी तारा एक-आध ही दीखता था। झील चमक रही थी। रंगों का वह खेल—केवल एक रंग, श्वेत का खेल—बल्कि केवल मात्र प्रकाश का और उसी अनुपस्थिति का वह खेल देखकर शेखर स्तब्ध रह गया। झिलमिलाती हुई झील पर धुँधले श्यामल पहाड़, और दूर पर कुहरे-सी मधुर स्निग्ध ज्योतिर्मयी हिम श्रेणी····उस विस्तीर्ण, अत्यन्त निस्तब्ध रात में इस दृश्य को देखते हुए बोध की लहरें-सी उसके शरीर में दौड़ने लगीं; मानो वह इस जीवन के स्वप्न से उद्बुद्ध होकर किसी ऊँची यथार्थता के लोक में चला जा रहा है····उसे रोमाञ्च हो आया। उसने आँखें मूँद लीं, मानो आँखें मूँदकर ही वह इस दृश्य को बनाए रख सकता है, खुली आँखों के आगे वह छिन्न हो जाएगा···

आह सौन्दर्य···

शेखर को कँपकँपी आ गई। उसे जान पड़ा कि उसके मस्तिष्क पर कोई भारी बोझ है, जिसे उतार देना आवश्यक हो गया है, वह धीरे-धीरे खेमे की ओर लौट पड़ा।

भीतर आकर उसने मोमबत्तियाँ जलाईं; कागज-कलम लिया, और क्षणभर अनिश्चय में कलम हिलाता रहा। फिर उसने लिखा, "सौन्दर्य और बुद्धि का सं

कभी भी बन्ध्य नहीं होता।" थोड़ी देर फिर रुककर एकाएक निश्चय में उसने कागज घुटने पर रखा, और सिर झुकाकर लिखने लगा—अपने जीवन की सबसे पहली और सबसे सुन्दर कहानी....

०

"उसने अपना जीवन नगर में बिताया था—नगर की गन्दगी और भीड़ में, कलह और कोलाहल में, और उसी में इतना सन्तुष्ट और चुप रहना वह सीख गया था कि सिवाय नगर की जनसंख्या में इकाई जोड़ने के और कोई महत्व उसका नहीं था। वह उस गन्दगी और भीड़, कलह और कोलाहल का एक अंग था। अड़ोस-पड़ोस में उसकी नीरसता प्रसिद्ध थी। इसीलिए, जब उन्होंने सुना कि उसने अबकी बार काश्मीर जाने का फैसला किया है, तब हँसते-हँसते उनके पेट फूल गए। "वह काश्मीर देखने? वह तो बैंक का भी सौन्दर्य नहीं पहचान सकता—काश्मीर? जिस सौन्दर्य्य को बड़े-बड़े कलाकार शब्द के घेरे में नहीं बाँध सके, उसको पकड़ने चला है वह—वह शहर की गली का रेंगता गेंडुआ, जिसकी आँखें नहीं होतीं, जो इधर बढ़ना चाहे तो उधर सिकुड़े बिना बढ़ नहीं सकता! यही तो है—गदहा पूछे कितना पानी!"

किन्तु नीरस व्यक्ति होने के कारण इन सब बातों का कोई असर उस पर नहीं हुआ। उसे जाना था, वह गया।

श्रीनगर में वह बहुत दिन रहा। घूमा किया, भटका किया उस सौन्दर्य की खोज में, जिसे सब देख सकते थे और बखानते थे और वही एक अभागा नहीं पहचान पाता था। धीरे-धीरे उसका विश्वास होने लगा कि सौन्दर्य निरी कल्पना है—और ज्यों-ज्यों यह विश्वास जमने लगा, त्यों-त्यों उसकी खोज भी अधिक व्याकुल होने लगी। उसने फूलों के उद्यान देखे—सस्ती सजावट और गणित के प्रयोग—और बस! उसने पहलगाँव देखा और निराश लौटा, गुलमर्ग का उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा—डल झील नीरस दीखी, और वुलर तो थी ही गँदले पानी का प्रसार।

अन्त में वह फिर अपने नगर—उसकी गन्दगी और भीड़, कलह और कोलाहल के लिए छटपटाने लगा। वे चीजें सुन्दर नहीं थीं, तो कम-से-कम ग्राह्य तो थीं, पकड़ में तो आती थीं, समझ तो उन्हें आ सकता था! क्या वह लौट चले?

किन्तु आत्मविश्वास करके बीच में छोड़ देना तो—रसिकों का काम है—वह कलाविक ऐसे अपनी खोज बीच में छोड़कर चल दे? वह अपने खेमे के बाहर बैठकर सोचता 'क्या मैं ही संसार में एकमात्र व्यक्ति हूँ, जिसमें सौन्दर्यानुभूति नहीं है? क्या मैं ही एक पंगु बनाया गया हूँ? या मैंने अभी अपने को अधिकारी सिद्ध नहीं किया है....'

उसने निश्चय किया कि वह एक बार और चेष्टा करेगा—अगर तब भी अनुभूति उसे प्राप्त नहीं होगी, तब वह सदा के लिए अपने गंदे और संकुल कोलाहल भरे नगर को

लौट जाएगा....वह निर्णय कर लेगा कि वह हार गया या जीता—वह नीरस है तो इस सम्बन्ध में कठोर नीरस सत्य को जानकर ही रहेगा....

उसने दो पहाड़ी टट्टुओं पर अपना आवश्यक सामान लादा, और टट्टुओं के मालिक को साथ लेकर चल पड़ा। चार दिन निरन्तर वह चढ़ाई चढ़ता ही गया—जंगल घना होता गया और निस्तब्धता बढ़ती गई, हवा हल्की और तरल और शीतल जान पड़ने लगी। फिर तीन दिन और, वह और उसका पहाड़ी साथी आगे बढ़ते गये—असंख्य छोटे-छोटे पहाड़ी झरनों को और मोती की लड़ी से झर-झर झरनेवाले जल-प्रपातों को लाँघते हुए—यहाँ तक कि देवदारु और भोजवृक्ष भी चुक गए, और उनके सब ओर विस्तीर्ण उपत्यकाएँ छा गईं, हरित, लोहित, नील-पीत, श्वेत, निर्गन्ध पुष्पों से ढँकी हुई उपत्यकाएँ....

इससे भी आगे वे बढ़े—तब फूल भी चुक गए—केवल कहीं-कहीं एक-आध भूला-सा नीला पोस्त दीख जाता, कहीं-कहीं तीव्र गंधवाली कोई बूटी या रूखे पत्तोंवाली कोई कुरूप झाड़ी....

और उससे आगे सौभाग्य-सूचक वे नीले पोस्त भी चुक गए, बूटियाँ भी चुक गईं, रह गईं केवल ऊबड़-खाबड़ नीरस चट्टानें और पिटी हुई-सी भावहीन नीरस दूब ⋯

उसके मन में भावना हुई, इस दुर्गम पथ पर एक-एक करके सब रसिक रह गए हैं—वृक्ष रह गए, फूल रह गए, बूटियाँ रह गईं, एकान्त तपस्वी नीले पोस्त तक रह गए—अब बचे हैं तो नीरस पत्थर, नीरस घास और नीरस जिज्ञासु वह ...इस बीहड़ मार्ग पर सौन्दर्य उसे दीखना ही चाहिए—पर क्या सौन्दर्य कुछ है भी ? क्या रस की कल्पना, आसन्न रसलब्धि की भावना ही को सौन्दर्य नहीं कह देते ? 'इससे मैं अभी-अभी सुख पाऊँगा', इस चिन्ता में ही व्यक्ति इतना डूब जाता है कि सुख पाने से पहले ही रस-बोध उसे हो जाता है, तब वह कहता है 'कितनी सुन्दर !' वासना की अमूर्त के द्वारा पूर्ति का नाम ही सौन्दर्य है न....

तब क्या वह वासना से परे है ? वह जानता है कि यह मिथ्या है, उसका गात तो वासना से झुलस सकता है, और झुलसा है और झुलसेगा....तब क्या संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो उसे सुख दे सके, या जिससे वह सुख की आशा कर सके ? इतना अभागा भी होना कठिन है—इन आसपास पड़े हुए काले पत्थरों के भीतर भी तो कहीं-कहीं हरे या श्वेत रंग की एक नाड़ी दीख पड़ती है।

एक घाटी पार करके वे सहसा खुली जगह पर आ गए, जहाँ सामने एक विस्तीर्ण झील थी, चारों ओर चोटियों से घिरी हुई—कोई नंगी और श्यामकाय, कोई हिमाव-गुण्ठित....

उसने घोड़ेवाले से खेमा गाड़ने को कहा, और हल्की-हल्की बूँदाबाँदी में वह भीतर जाकर कुछ खा-पीकर लेट गया—वह बहुत थक गया था। इतना थक गया था कि उसे नींद भी न आई—वह लेटा-लेटा सोचने लगा ⋯

कैसा मूर्ख है वह....क्या और भी कोई ऐसे सौन्दर्य की खोज में निकला होगा? कहानियों में अवश्य सुनते थे, अमुक राजकुमार—नीलम के द्वीप में गया, जहाँ सौन्दर्य की देवी रहती थी, या अमुक बादशाह ने अपने वजीर से कहा कि मुझे सौन्दर्य का सार चाहिए—लेकिन कभी किसी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि ये कहानियाँ सच हैं? 'कहानी' और 'यथार्थ'—ये दो अलग श्रेणियाँ हैं, यह ज्ञान छोटे-से बालक के मन में भी बिठा दिया जाता है....वही एक मूर्ख ऐसा है कि नहीं समझ पाया—यथार्थ-जीवन में रहकर कहानी-जीवन की चीज पकड़ना चाहता है...क्यों न लोग उस पर हँसें? उसे मूर्ख समझें? घर पर—नगर की गन्दगी और कोलाहल से घिरी हुई उसकी स्त्री भी कैसे हँसती होगी कि मूर्ख शादी करके सौन्दर्य की खोज करने चला है....

८

वह अकचकाकर जागा। उसने स्वप्न में देखा था, एक काली चट्टान की गोल-गोल आँखें उस पर टिकी हैं और चट्टान कह रही है, 'तुमने बहुत अच्छा किया, जो सौन्दर्य की खोज में चले आए—मेरे पास।' और फिर वह एकाएक उसकी स्त्री में परिणत हो गई थी, जो ठठाकर हँस पड़ी।

वह उठकर बाहर निकल आया और लम्बे-लम्बे डग भरकर झील की ओर जाने को हुआ—

वज्राहत-सा पथ के बीच में वह रुक गया। कोई अनिर्वचनीय पदार्थ लहरें बाँध-बाँधकर उसकी ओर उमड़ा आ रहा था—कुछ तुषार-शीतल, कुछ भव्य, कुछ रोमांचकारी—उमड़ा ही नहीं, उसके मेरुदण्ड की [illegible] कँपाता हुआ उसके मस्तिष्क में पैठ रहा था ...

उसके आगे बिछी हुई—रात्रि की ज्योत्स्ना, छायाएँ, बर्फ का फैला हुआ आँचल, झिलमिल जल, लहरें, तारे ..

सौन्दर्य—गहरे मानसिक आघात की तरह—अनुभूति उसकी रगों में दौड़ गई....

लहरों पर चन्द्रमा की किरणों का नर्तन—[illegible] के पट पर थिरकती हुई [illegible]—और दूर उस पार—हिमस्तूपाकार और [illegible] में [illegible]—शान्त और [illegible] और शीतल....

[illegible] गया—[illegible] में [illegible] गया—[illegible] हुई थी, किन्तु [illegible] नहीं—उसकी बुद्धि आहत, पराजित, [illegible] [illegible]....

[illegible], पर [illegible] ही [illegible] रहता है—[illegible] है....

[illegible] था, [illegible] रहा था, [illegible] और

बर्फ और आकाश के सौन्दर्य को घेरने के लिए बढ़ा जा रहा था....किन्तु स्वप्न क्या बाँहों से घिर सकते हैं, बँध सकते हैं....?

वह तन्द्रा में ही आगे बढ़ा जा रहा था—झील की ओर, जहाँ चन्द्रमा की किरणों पर—अप्सराएँ थिरक रही थीं....

अगले दिन जब सूर्योदय तक भी वह तंबू से बाहर नहीं निकला, तब घोड़ेवाला भीतर गया, पर वह वहाँ नहीं था। कुछ देर घोड़ेवाले ने प्रतीक्षा की, फिर खोज के लिए निकल पड़ा।

कहीं कुछ नहीं—केवल बर्फ पर कुछ-एक पद-चिन्ह झील की ओर जाते हुए और झील के किनारे तक जाकर लुप्त—और उससे आगे कुछ नहीं, केवल अभेद्य अवगुण्ठन डाले हुए चिरन्तन सौन्दर्य—नीरव सस्मित, रहस्यमय....

अगले दिन प्रातःकाल ही शेखर ने सामान बाँधा, तम्बू उखाड़ा और वापस चल पड़ा। अपनी नई अनुभूति को गाँठ में बाँध लेने के बाद उसके लिए वहाँ रहना अनावश्यक हो गया था—अनावश्यक ही नहीं, असह्य भी हो गया था।

तीन दिन के बाद वह पहले डाकघर पर पहुँचा, जहाँ उसे कई जगह भटककर आई हुई उसकी डाक मिली। डाक में कुछ अधिक नहीं था, दो-चार परिचित लिपियाँ ही थीं—एक नई लिपि देखकर उसने वही लिफाफा सबसे पहले खोला, और उसके बाकी पत्र अनपढ़े ही रह गए।

शशि ने तीन लाइन का पत्र लिखा था—उसके पिता का देहान्त हो गया और माँ को बार-बार गशें पड़ती हैं।



सन्ध्या के समय निरालोक नीरव घर में प्रवेश करते समय किसी को सामने न देखकर शेखर ने सन्तोष की गहरी साँस ली। न जाने क्यों, उसके मन में डर बैठा हुआ था कि वह इस घर के ऊपर छाए हुए दुःख में हिस्सा नहीं बटा सकेगा। यद्यपि शशि के पिता की बीमारी में वह यहाँ आ चुका था और रह चुका था, और घर से एकरस हो चुका था, तथापि उसे लगता था कि उसका लगाव मौसी विद्यावती और शशि से ही है, और इस समय वे दुःख से घिरी हुई होंगी, तब वह उनके निकट नहीं जा सकेगा और न दुःख में हिस्सा बटा सकेगा। ऐसा जान पड़ता था कि वह स्वयं निर्व्यक्तिक हो गया है, व्यक्ति की अनुभूति—दुःख-सुख—उसे नहीं छूती; और ऐसी दशा में समवेदना प्रकट करना असम्भव और न करना नृशंसता होगी....

द्वार पर, ड्योढ़ी में, आँगन में, सीढ़ियों पर—शेखर को कोई नहीं दीखा। उसने

भूमि पर बिछी हुई एक चटाई पर मौसी विद्यावती मूर्च्छा में पड़ी थी, उसके माथे पर एक हाथ रखे, दूसरे से पंखा करती हुई शशि बैठी थी। शशि की छोटी बहिन गौरा हाथ में पानी का गिलास लिये खड़ी थी, लेकिन पानी के छींटों की बजाय नीरव आँसुओं की बूँदें ही गिरा रही थी।

शेखर के मुँह से अकस्मात् निकला, "शशि—", फिर वह सकुचा गया। मौसी के पास ही घुटनों बैठकर पानी का गिलास उसने गौरा से लिया और छींटे देने लगा; शशि ने एक बार उसकी ओर देखा, एक सरल विशाल स्वीकृति में उसकी उपस्थिति को अपना लिया और पंखा झलती रही। गौरा शायद सामान देखने के लिए नीचे उतर गई। मौसी ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं और एक निर्वेद दृष्टि से उसे पहचानकर फिर मूंद लीं, फिर करवट लेने की कोशिश की और रह गईं; फिर उनके अंग शिथिल हो गए और साँस नियमित चलने लगी। शशि ने धीरे से कहा, "सो गईं—आज तीन दिन बाद सोई हैं"; शेखर ने एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा, मानो पूछना चाहता हो, "तो तुम तीन दिन तक देखती रहीं कि सोती हैं या नहीं?" पर कुछ बोला नहीं; शशि उठकर बाहर चली, शेखर पीछे हो लिया, उसके बाहर आने पर शशि ने किवाड़ बन्द करके पूछा, "मेरी चिट्ठी मिली थी—कब?"

"आज पाँच दिन हुए हैं।"

"थे कहाँ तुम?"

"काश्मीर गया था—"

"काश्मीर कहाँ? आते-आते पाँच दिन लगे?"

"कहीं नहीं, शशि, मेरी अक्ल ठिकाने नहीं थी," कहकर शेखर एकाएक चुप हो गया।

शशि रसोईघर में गई और धीरे-धीरे रसोई की सामग्री जुटाने में लगी। शेखर ने कहा, "मैं मदद करूँ?" शशि ने चुपचाप आटे की परात उसकी ओर धकेल दी और एक लोटा पानी भी रख दिया, स्वयं तरकारी काटने लगी।

मदद के इस प्रकार निर्विवाद स्वीकार हो जाने पर शेखर को विस्मय हुआ; उसने स्थिर दृष्टि से शशि की ओर देखा। तब उसने जाना कि शशि स्वयं वहाँ नहीं है, वहाँ केवल एक मानव-यन्त्र है, जो दूसरों को चलाने के लिए स्वयं चलता जा रहा है, चलता जा रहा है....

और तब एकाएक उसने पाया कि वह निर्वैयक्तिक नहीं है, कि वह विषाद में डूब गया है, कि उनका दुःख उसका दुःख है—गहरी समवेदना का स्रोत उसके भीतर कहीं उमड़ पड़ा....

दुःख संसर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दुःख का संसर्ग परिवर्त्ती को भी शुद्ध और उदात्त बनाता है।

कुछ ऐसा ही ज्ञान यहाँ रहते हुए शेखर के भीतर से प्रस्फुटित हो रहा था, तभी उसने निश्चय किया कि वह यहाँ से न जाकर यहीं दुःख के आँचल में विश्राम करेगा....

मृत्यु के झंझावात की चोट से क्षत-विक्षत हुए उस परिवार को एक मास से ऊपर हो चला था; पर कम से कम कार्य-व्यवस्था की दृष्टि से अपनी साधारण अवस्था पर आ चला था—काम-काज ही तो संसार की व्यवस्था को स्थिर, एकरूप रखनेवाली एकमात्र वस्तु है—और मौसी विद्यावती तथा शशि दिनभर किसी न किसी काम में जुटी रहतीं थीं .. कभी जब पास-पड़ोस की औरतें हमदर्दी दिखाने आ बैठती, तब भी वे कुछ न कुछ काम लिये बैठी रहती और निष्ठापूर्वक उस छिछली, कभी-कभी मिथ्या, और प्रायः ही रूढिगत समवेदना के लिए आँचल पसारे रहतीं, क्योंकि वही परम्परा थी, भले ही उससे भाग्य के गहरे क्षत और भी गहरे होते जाएँ, फूट उठें, जीवन-रस बहा ले जाएँ....

और शेखर इस विशाल मौन कर्त्तव्यनिष्ठा को स्तब्ध होकर देखा करता—वह दूर खड़े अपलक दृष्टि से मौसी या शशि की ओर देखता रहता। जब कभी उनका ध्यान इसकी ओर खिंच जाता, तब वह जल्दी से वहाँ से हट जाता....कभी मौसी बुलाकर पूछतीं, "क्या है, शेखर?" तब वह कुछ उत्तर न दे पाता और वे समझतीं कि उन्हें अपना दुःख दिखाकर उसे दुःखी न करना चाहिए—यह उनकी कल्पना में न आता कि उनका दुःख-सुख, आक्रोश-आवेग, राग-विराग तत्काल ही कार्य में परिणत कर देता है, जो व्यक्ति के लिए ऊँची-से-ऊँची चोटी तक ऊबड़-खाबड़ पगडण्डी दिखाने को तैय्यार है, किन्तु समष्टि के लिए थोड़ी-सी दूर तक भी प्रशस्त-पथ बनाने के लिए रुक नहीं सकता ....वह जिसमें संयम नहीं है, जिसने पानी का बहने और बहाने का धर्म तो अपना लिया है, पर सोचने का काम नहीं सीखा ...तब वह दौड़कर किसी एकान्त कमरे में छिप जाता और अपने को कोसा करता कि इतना लम्बा जीवन उसने व्यर्थ बिता दिया है; अपनी पूँछ का पीछा करनेवाले कुत्ते की तरह अपने आसपास ही चक्कर काटकर रह गया है, दूसरों का दुःख, दूसरों की वेदना उसने जानी नहीं, जाननी चाही नहीं, जानने की सम्भावना नहीं छोड़ी....

न जाने इसका श्रेय किसे था कि उस दिन एकाएक बातें होने लगी थीं और मौसी, शशि, शेखर तीनों ही जैसे कोई बाँध तोड़कर बोलते रहे थे। शेखर को यह देखकर बहुत सन्तोष हुआ कि उसकी एक-आध बात पर मौसी मुस्करा भी दी थीं—यद्यपि यह मुस्कराहट ही किसी दूसरे की आँखों में आँसू लाने के लिए पर्याप्त थी।

शेखर शायद अपने भावी कार्यक्रम के बारे में कुछ बात कहते-कहते एकाएक कह गया था, "यह मुझसे नहीं हो सकता—इसकी तो रेखा ही मेरे हाथ में नहीं है।"

और शशि ने पूछा था, "आपको हाथ देखना आता है?"

शेखर के कुछ उत्तर देने से पहले ही विद्यावती ने हाथ बढ़ाकर कहा, देखकर बताओ तो मेरी आयु कितनी है?"

अपनी ट्रेनिंग पूरी करने के बाद उसे बाद में भरती होनेवाले जत्थों को ट्रेनिंग देने का काम मिला। वास्तव में यह और भी अच्छी ट्रेनिंग थी, क्योंकि इसमें शरीर के साथ मन को भी चौकन्ने रहकर देखना होता था कि इसमें क्या त्रुटि है, और उसे कैसे पूरा करना होगा....

कांग्रेस का अधिवेशन समीप आते देर न लगी। एक दिन शेखर भी बिस्तर गोल कर, उसे वर्दी-वेष्टित कंधों पर लादकर लारी में पटक, स्वयंसेवकों के पहले दल के साथ कैम्प में जा पहुँचा।

ट्रेनिंग प्रायः पूर्ण हो चुकी थी, केवल देर से आये हुए कुछ-एक व्यक्तियों को जल्दी-जल्दी चार-चार बार परेड कराकर तैय्यार करने की कोशिश की जा रही थी; किन्तु स्वयंसेवी सेना का संगठन अभी तैय्यार नहीं हुआ था। सेनापति थे, और स्वयंसेवी थे। किन्तु उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए छोटे-बड़े अफ़सरों का जो जाल रहता है, वह नहीं था। उसकी ओर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, क्योंकि "चार दिन की बात है, सबको मिलाकर किसी तरह काम चलाना है।" किन्तु "मिलकर काम चलाने" में यह तो स्पष्ट होता नहीं कि कौन आज्ञा दे और कौन उसे पाले, अतः एक दिन पाँच मुख्य अफ़सर....दलपति—चुने गए और अगले दिन परेड में बाकी अफ़सरों का 'चुनाव' हुआ। शेखर के पास अपनी योग्यता या अयोग्यता के अतिरिक्त कोई सिफारिश नहीं थी, फिर भी उसे एक मातहत अफ़सर—'सरदार'—बना दिया गया, और काम यह मिला कि कैम्प का प्रबन्ध वह सँभाले।

कैम्प में चौदह सौ स्वयंसेवक थे। उनकी देख-रेख की विशेष आवश्यकता न होनी चाहिए थी, किन्तु स्वयंसेवकों में कम से कम तीन सौ कालेज के छात्र थे, जिनका विचार था कि जब वे स्वयंसेवक बन ही गए, और वर्दी के लिए भी आधी कीमत दे चुके, तब कोई कारण नहीं कि उनसे काम की भी आशा की जाए और कांग्रेस का तमाशा न देखने दिया जाए। सप्ताह में तीन बार उन्हें शहर में अपने घर जाने की भी आवश्यकता थी—वे इस जंगल में ठिठुरकर मरने नहीं आये थे। काम दिन में होता है, रात को वे कहाँ सोएँ—किसी को क्या? और फिर, स्वयंसेवा का भारी बोझ उठाकर उन्हें मनोरंजन की भी ज़रूरत है, कांग्रेस नगर में सिनेमा तो है नहीं, शहर जाना होगा; कैम्प में ताश या चौसर ही तो खेली जा सकती है, कभी ज़रा दिलचस्पी लाने के लिए दो चार पैसे का दाँव ही लगता है....

फिर कुछ बेचारे ऐसे भी थे, जिन्हें यह भी पता नहीं था कि निवृत्ति के लिए कहाँ जाना होगा, भोजन के लिए कहाँ कैसे पता करना होगा, कम्बल न होने पर किससे माँग सकना होगा; और जो इन सब बातों के लिए पूछताछ या 'शिकायत' करना बुरी बात समझते थे, 'भई कांग्रेस का काम है, थोड़ी तकलीफ़ में भी काम किया तो क्या....

और कुछ ऐसे थे, जो वर्दी पहनकर अपने को उन सब कामों का अधिकारी समझते थे, जो उन्होंने गोरे सैनिकों या पुलिसवालों को करते देखा था और देखकर घृणा और

विवश क्रोध से भर गए थे—राह चलतों को धमकाना, किसी गरीब पर शक हो जाने पर उसे गाली देना और सताना, आदि....उनकी समझ में उनका गह अधिकार सीमित करना मानो 'सेना' को पंगु बनाना था, क्योंकि वह है किस लिए यदि हाथ जोड़ना और खुशामद करना ही यहाँ आवश्यक है तो....

फिर कांग्रेस में आये हुए कुछ प्रतिनिधि (और दर्शक) ऐसे थे, जिन्होंने खेमे का किराया देकर संग में सारा स्वयंसेवक दल भी नौकर रख लिया था—समय असमय पर उनकी माँग आती थी कि पेट में दर्द है, सेंक देने के लिए स्वयंसेवक चाहिए ; ज्वर है, रात में पास रहने के लिए स्वयंसेवक चाहिए, हाजमा दुरुस्त नहीं है, वालंटियर भेजें कि कमोड साफ कर दिया करे....इस प्रकार की माँगें उचित भी हों तो भी डाक्टर के पास जानी चाहिए थीं, जो रोगियों के लिए उचित व्यवस्था करने का उत्तरदायी था ; पर ऐसा उत्तर देने पर सदा स्वयंसेवक—या शेखर—को याद दिलाया जाता था कि स्वयं सेवक का धर्म है किसी काम को क्षुद्र न समझे—"तुम्हें मालूम है, अफ्रीका में महात्मा गान्धी स्वयं मैला ढोते थे। तुम उनसे बड़े तो नहीं हो—"

और कुछ वालंटियर अफ़सर भी ऐसे थे, जिनकी पात्रता का आधार उनकी योग्यता नहीं, उनके सम्बन्धियों का प्रभाव था। ऐसे लोगों को दूसरे कामों की कमी नहीं थी कि कैम्प में आकर बेवकूफों से माथापच्ची करें। जिन महाशय का काम स्वयंसेवकों को काम पर नियुक्त करना था, वे दिन में तो दो बार नियुक्तियाँ कर जाते थे, पर शाम के भोजन के बाद पौष की कड़ाके की सर्दी में अपने स्थान से कैम्प तक आना उन्हें नागवार था; अतः प्रायः ही शाम की ड्यूटीवाला स्वयंसेवक अपने स्थान पर दूसरा आदमी आता न पाकर आधी-आधी रात तक खड़ा रह जाता था....ग्यारह बजे के बाद से शेखर के पास संदेशे आने लगते, "अमुक सेवक पाँच घण्टे से ड्यूटी पर है, कोई उसे मुक्त करने नहीं गया," "अमुक को छः घण्टे हो गए, वह बारिश में भीग भी गया है," "मैं आठ घण्टे से खड़ा हूँ, अब अपनी जगह एक आदमी को खड़ा करके आया हूँ; दूसरा स्वयंसेवक दीजिए तो उसे वहाँ पहुँचा आऊँ...."

शेखर को काफी काम था। प्रातःकाल छः बजे वह खेमे के दफ्तर में आकर स्टूल पर बैठ जाता, दो बजे दिन और दस बजे रात उसका पठान 'अर्दली' किसी तरह लड़-झगड़कर उसका खाना ले आता, वही एक बार चाय भी पिला देता, रात के बारह बजे शेखर खेमे से निकलता, और शिकायतों से ऊबकर सोचता कि सोने से पहले एक चक्कर लगाकर देख आऊँ, कौन कब से कहाँ है, ताकि फिर निश्चित हो सो सकूँ....एक समस्या उसकी और थी—नियुक्तियाँ तो वही अफ़सर कर सकते थे, जो नियुक्ति के ज़िम्मेवार थे, शेखर तो अनधिकारी था, अतः जब उसे स्वेच्छा से आनेवाले स्वयंसेवक न मिलते, तब वह अपने अधीन के स्वयंसेवकों को ही भेजता, जो कैम्प की सँभाल के लिए ही उसे मिले हुए थे....

दो बजे रात वह थका-चुका अपनी छोलदारी तक पहुँचता, और बिना वर्दी खोले

...या बूट तक भी खोले रूमाल पर अपने बिस्तर पर पड़ जाता....बूट न खोलना ठीक ही था, क्योंकि ग्यारह आदमियों से भरी उस छोलदारी में इतना ही स्थान था कि वह पैर बाहर निकालकर पड़ सके—उसके भारी बूट और मोटी पट्टियाँ ही तब उसकी प्राण-रक्षा करती थीं....

अनुशासन—अनुशासन—अनुशासन—अनुशासन के लिए दिन-रात पिसते हुए शेखर ने एक दिन उसके विरुद्ध घोर अपराध किया ।

कालेज के विद्यार्थियों वाले तम्बुओं में तीन-चार बार जुआ खेलती हुई टोलियाँ पाई गई थीं । पहली बार शेखर ने केवल पासे जब्त कर लिए थे और चेतावनी दे दी थी कि यह काम अशोभन है, दुबारा नहीं होना चाहिए । दूसरी बार उसने ताश और लगे हुए पैसे जब्त करने के अतिरिक्त एक परेड भी कराई थी । तीसरी बार उसने तीन व्यक्तियों को दिन भर के लिए कैम्प से बाहर निकाल दिया था, और सारे कैम्प में नोटिस फिरवा दिया था कि जुआ खेलनेवाले को स्वयंसेवक दल से निकाल दिया जायगा ।

जो लोग परिश्रम करते थे, अपनी ड्यूटी बजा लाते थे, उनको इतनी फ़ुरसत नहीं होती थी कि जुआ खेलें, और फिर नियुक्त करनेवाले अफ़सर की कृपा से वे चूर भी ऐसे होते थे कि फ़ुरसत होने पर भी चित पड़े रहने के अतिरिक्त कुछ न करते । किन्तु कालेज के विद्यार्थी काम तो कुछ करते नहीं थे, और यदि नियुक्ति अफ़सर के चंगुल में फँसकर (वह भी उनकी स्वच्छन्दता में विघ्न नहीं डालता था, क्योंकि सबसे अधिक हल्ला करनेवाले दल को अप्रसन्न करके वह अपनी निर्बाध स्वच्छन्दता कैसे बनाए रखता ?) कभी कोई ड्यूटी पर भेज ही दिया जाता, तो वह प्रातः अपना स्थान छोड़कर चल देता—"अरे यार, क्या वाहियात काम है—सड़क पर पहरा दो । भला सड़क भी कोई लेकर भाग जायगा ।" इसी श्रेणी के पास फ़ुरसत बहुत थी, इसीलिए तीनों बार शिक्षा विफल हुई ।

चौथी बार जब फिर एक टोली जुआ खेलती पकड़ी गई, और उसमें दो व्यक्ति ऐसे निकले, जो पहली तीनों घटनाओं में भागी थे, तब शेखर ने आवश्यक समझा कि कोई अधिक गम्भीर कार्रवाई करनी चाहिये ।

सम्मिलनी का बिगुल बजा, कैम्प में जितने स्वयंसेवक उपस्थित थे, सब [illegible] परेड के लिए बाँधी गई जगह में कतारें बाँधकर खड़े हो गये । उनके चेहरे से प्रकट होता था कि दोपहर के समय अकस्मात् बिगुल की पुकार से वे चौंक गए हैं कि जाने क्या संकट आ पड़ा है....

कतारों को "सावधान" मुद्रा में खड़े होने का आदेश देकर, स्वयंसेवकों के सामने खड़े शेखर ने कहा, "स्वयंसेवको, आज आपको एक आवश्यक सूचना देने के लिए बुलाया गया है । कैम्प के लिए कलंक की बात है कि यहाँ चार बार जुआ खेलनेवाले दल पकड़े गये

अगर संगठन है तो अनुशासन है। मैं अपने फ़ैसले को ग़लत नहीं मानता, आप उसे रद्द करें, वह आपकी मर्ज़ी है।"

सेनापति इस आवेश के लिए तैयार नहीं थे। बोले, "आप बहुत गुस्से में मालूम होते हैं—"

"नहीं। मैं क्या कर रहा हूँ, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जानता हूँ कि जैसा अनुशासन मैं चाहता हूँ, वैसा होता तो मेरे लिए वही व्यवस्था होती, जो इन जुआरियों के लिए मैंने की है। लेकिन अगर वैसा होता, तो मेरे यहाँ पेश होने की जरूरत न होती। आप जैसा गुज़ारा करना चाहते हों, कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नहीं होगा। मुझे इजाज़त दें—"

शेखर लौटकर जाने को ही था कि सेनापति के पास बैठे हुए शुद्ध खद्दरधारी महाशय बोले, "और यह तो हमारे अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ़ है—"

शेखर ने घूमकर तीव्र स्वर में कहा, "क्या?"

"दो आदमियों को ऐसे बेइज्ज़त करना और पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। हमारी वालंटियर सेना अहिंसक है।"

शेखर क्षण भर निर्वाक् रह गया। फिर उसका मन हुआ कि एक बार ठठाकर हँस दे और चला जाए। फिर अपने को वश में करता हुआ वह बोला, "आपके प्रश्न का उत्तर भी हिंसा ही होगा।" और बाहर चला आया। बाहर निकलते हुए उसने सन्तोषपूर्वक याद किया कि कुछ दिन पहले उसे लम्बे क़द के कारण अवसर दिया गया था कि वह सेनापति के अंगरक्षक दल में आ जाए—उस दल के सदस्य को काम कुछ नहीं करना पड़ता, सिवाय इसके कि दूसरे-तीसरे दिन जब सेनापति महोदय पूरी सज्जा के साथ कहीं निकलें, तब उनके आगे-पीछे कंधे पर लुइसगन के नमूने पर बने हुए चरखे लेकर चला करें—तब उसने अवसर का लाभ उठाने से इनकार कर दिया था। यदि वैसा उसने न किया होता, तो आज क्या अपने को क्षमा कर सकता?....

परिणाम कुछ नहीं हुआ। निकाले गए व्यक्ति वापस नहीं बुलाए गए, यद्यपि उन्हें उनकी वर्दियाँ दे दी गईं, क्योंकि उसकी कीमत उन्होंने दी थी। दो-चार बड़े अफ़सरों को छोड़कर, जो केवल अफ़सरी करते थे, हाज़िरी नहीं देते थे, बाकी सभी शेखर का फ़ैसला उलटने के विरुद्ध थे।

और जो विद्यार्थी-विद्रोह होनेवाला था, नहीं हुआ। ख़ाहमख़ाह झगड़ा करके बवाल पालना और उसमें मुफ़्त तमाशा देखने का अवसर भी खोना—यह उनका मार्ग नहीं था!



रात के नौ बजनेवाले थे। शाम ही को जो घना कुहरा छा गया था, वह अब छिदने लगा था, क्योंकि वर्षा होनी प्रारम्भ हो गई थी। शेखर कन्धे पर ओवरकोट डाले, कैम्प

मुझमें और इस डाक विभाग के इन्स्पेक्टर चचा में क्या साम्य, क्या सम्बन्ध है? शेखर को याद आया, एक वार गर्मियों के दिनों में कालेज में वह बीमार हुआ था तो चचा से समाचार जानकर चाची ने एक तोला इमली भिजवाई थी कि इसका शर्वत करके पिए....शेखर यदि मनुष्य न होकर एक वेरिंग चिट्ठी होता, तो चचा को उसमें अधिक दिलचस्पी हो सकती—वर्ना शेखर उनकी दुनिया के बाहर की वस्तु था....उसका हाथ कुण्डे पर से उठ गया और वह दवे पाँव नीचे उतर गया।

शशि का घर वहाँ से वहुत दूर नहीं होना चाहिए—पते से शेखर ने ऐसा अनुमान लगाया, पर वहाँ तो जाना नहीं है—और—

क्यों शेखर ने शशि की सब चिट्ठियाँ फाड़ दी थीं? इस समय उनकी कितनी जरूरत थी उसे—उनकी घनिष्ठता की, उनके प्यार की, उनकी उस समीपता की 'जो अन्तिम प्रणाम कर गई है'! उफ़ यदि वे पत्र होते, तो शेखर फिर खींच ला सकता उस वीती हुई स्थिति को—

जैसे पत्र कभी प्यार का स्थान ले सकते हैं।

मूर्ख कहीं का!



शेखर समय से पहले नहीं पहुँचा था। किवाड़ खटखटाते ही खुल गया और प्रोफ़ेसर हीथ ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा, "शेखर, तुम्हारे लिए एक सरप्राइज़ रखा है।"

शेखर ने आँख उठाई। परिचय की जरूरत नहीं थी, सामने शेखर का मुकदमा सुननेवाले मजिस्ट्रेट साहव वैठे थे।

मिस्टर वर्नेस ने कहा, "रिहाई पर वधाइयाँ।"

शेखर ने तत्काल उत्तर दिया, "फ़ैसले पर आपको भी वधाई—कम-से-कम फ़ैसले के इस अंश पर!" वातावरण कुछ हल्का हो गया। शेखर वैठ गया, इधर-उधर की वातें होने लगीं। प्रोफ़ेसर हीथ ने वताया कि उन्होंने वर्नेस को भी चाय के लिए निमन्त्रित कर लिया था ताकि वातचीत दिलचस्प हो सके, और वे परस्पर अपने असली भाव व्यक्त कर सकें।

चाय शुरू हुई। वातचीत के सिलसिले में प्रोफ़ेसर ने वर्नेस को वताया कि शेखर लेखक है। "क्या लिखते हैं आप—" वर्नेस ने प्रश्न शुरू ही किया था कि प्रोफ़ेसर ने उत्तर दे दिया, "शेखर प्रायः गल्प लिखता है, कभी कुछ—"

"मैंने पहले ही यही सोचा था।"

शेखर ने कुछ उत्सुक होकर पूछा, "क्यों?"

"क्योंकि अदालत में आपकी सफ़ाई का वयान गल्प-कला का वढ़िया नमूना था!" कहकर वर्नेस अपने मजाक पर खिलखिलाकर हँस पड़े।

मोहिनी के [illegible] और [illegible] के अन्तिम दिन की [illegible] शेखर के सामने आ गई; अपना अपमान [illegible] हो कर [illegible] गया, पर उसने [illegible] हुए कहा, "आपका साहित्यिक [illegible] नहीं हो सकता।" मन ही मन निश्चय किया कि वह बदला लेगा।

प्रोफेसर हाथ से [illegible] बात टालने के लिए कहा, "शेखर, मैंने माना कि तुम [illegible] नहीं होगे, पर एक दूसरे को जानने का अच्छा मौका मिलता। [illegible] और [illegible] का [illegible] ऐसा रहता है कि हम [illegible] नहीं हो पाते हैं। मिस्टर नरेश का साहित्य में बहुत शौक है। [illegible] के भी खिलाड़ी हैं। [illegible], [illegible] शेखर को [illegible] नहीं [illegible]—" उन्होंने नरेश की ओर देखा, वे बोले, "स्वागत हो—"; प्रोफेसर फिर कहने लगे, "और शेखर, तुम शायद इनको नहीं जानते। [illegible] नरेश बड़े [illegible] हैं और कई [illegible] से [illegible] हैं—"

शेखर को [illegible] लगा। उसने कुछ [illegible] कहा, "मैंने पहले ही [illegible] सोचा था।"

नरेश कुछ चौंके, लेकिन उनके मन का [illegible] हुआ प्रोफेसर के मुँह से—"क्यों?"

"क्योंकि [illegible] में मिस्टर नरेश को देखकर मुझे [illegible] था कि वह [illegible] क्यों [illegible] होंगे।" [illegible] होकर शेखर कुछ [illegible] बैठ गया। [illegible] से आये हुए [illegible] को दूर करने की इच्छा से प्रोफेसर ने [illegible] कहा, "शेखर, तुम [illegible] में क्यों नहीं लिखते?"

शेखर ने कुछ सोचने [illegible] से कहा, "अंग्रेजी में....?"

"हाँ, इधर कुछ समय से [illegible] भारत में [illegible] लिखनेवाले [illegible] हैं। यदि भारतीय [illegible] के कुछ चित्र [illegible] के रूप में [illegible] के सामने रखे जायें, तो [illegible] लिए जायें।" कहते-कहते प्रोफेसर ने [illegible] के लिए नरेश की ओर देखा।

"हूँ—ऐसे लोगों के लिए [illegible] है, पर मेरे ख्याल से [illegible] तो बहुत [illegible] नहीं है। [illegible] मुझे तो बहुत अच्छी लगती है, पर [illegible] कोई [illegible] पसन्द नहीं करता।"

प्रोफेसर हाथ से [illegible] हुए कहा, "हाँ, हमारे लिए तो कोई [illegible] नहीं रहती—"

शेखर ने प्रोफेसर की ओर [illegible] होकर पूछा, "[illegible] है—[illegible] किसी ओर [illegible] है?"

"हाँ, [illegible], मैं तो बहुत [illegible] करता हूँ—"

शेखर [illegible] वे दोनों [illegible] किसी [illegible] को [illegible] है, किन्तु फिर भी [illegible] है, [illegible] दिखायी नहीं है [illegible]

नहीं है, हम परवाह नहीं करते—हम जो एक देश हैं, एक राष्ट्र हैं, एक इकाई हैं, हम जो हम हैं, हम थे, हम रहेंगे....

उसे लगा, जैसे किसी ने उसे थप्पड़ मारा है। उसके दाँत घुटकर बन्द हो गए, उसकी आँखों में दो अपूर्ण आँसू जलने लगे। किसी तरह दो-चार घूंट और पीकर उसने विदा माँगी, और बाहर आकर जल्दी से नीचे उतर गया।

क्या हमारे देशवासी भी ऐसे कहते हैं—कह सकते हैं? हाय भारत! हाय हम! हाय हम!

०

सड़क पर बत्ती जलने के पहले के धुँधले चिकने अरुणाले प्रकाश में उसे लगने लगा कि वह व्यर्थ ही उत्तेजित हो गया है, जेल से आने के पहले दिन की उत्तेजना अप्रत्यक्ष मार्गों में प्रकट हो रही है....क्या हमारी भी संस्कृति एक नहीं है, क्या ब्रिटेन से पचीस-गुने वर्गफल और दस-गुनी आबादी के इस देश में ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक घनीभूत सांस्कृतिक एका नहीं है? और यहाँ भी अकेले व्यक्ति की रुचि और समूह के सम्मान में वैसा ही भेद हो सकता है—'मैं' एलियट अथवा एज़रा पाउंड पसन्द कर सकता हूँ, जब कि 'हमारी' रुचि छायावाद की ओर है....व्यर्थ ही हिस्टीरिकल (उन्माद-ग्रस्त) हो रहा हूँ....

पर उसका मन नहीं माना, उसे लगा कि वह खींचतान कर अपनी सफ़ाई दे रहा है। बात चाहे वैसी हो, उसकी चेतना हम में नहीं है, अपनी एकता का अभिमान तो क्या, उसका जीता-जागता ज्ञान भी हमें नहीं है। वह एक मरा हुआ सत्य है, इसलिए झूठ है....

कसक उसके मन में बनी रही। वर्षा में बैठकर भीगता हुआ बन्दर अपने भाग्य से जभी कुछ सन्तुष्ट होने लगे, तभी ऊपर से ओले पड़ने लगें, तब जैसा ओछा वह अपने को अनुभव करता होगा, वैसा ही शेखर उस समय कर रहा था, और किसी भीतरी ग्लानि की गरदनियों से धिकलता हुआ चला जा रहा था....

एकाएक बत्तियाँ जलीं, वह ठिठक गया। उसकी आँखें जिस जगह टिकी थीं, वहाँ एक पीतल का बोर्ड लगा हुआ था।

शेखर के सामने शशि का घर था।

०

'भोगनेवाले प्राणी में और रचना करनेवाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहता है। जितना ही बड़ा वह अलगाव है, उतना ही बड़ा कलाकार होगा।'

लेकिन क्या मैं कलाकार हूँ? क्या मुझे कलाकार होने की परवाह है, जब कि मैं उस जीवन को जी सकता हूँ, जो कि तुम्हारे संसर्ग से बना है? अलगाव का मुझे क्यों

मोह, स्वप्न में मुझसे क्यों प्रेम, जब कि मैं जीवन के एक क्षण में भी [illegible] नहीं हुआ चाहता; जब कि उसका एक-एक क्षण मुझमें [illegible] है! [illegible] मुझसे वह है, तुम नहीं; मैं भूला हुआ हूँ, [illegible] हूँ, [illegible] हूँ और चाहता हूँ कि तुम्हारा प्यार [illegible] मेरे [illegible] है....

•

शेखर प्रतीक्षा-सा और गया, पर कोई [illegible] उसकी बारी नहीं था कि एक बार उस द्वार के पास हो जाने पर शेखर को बाहर ले जाए। शेखर ने दो बड़े [illegible] पाये, जैसे कोई [illegible] में पहले से [illegible] है। उन दोनों के साथ वह जैसे बहुत-सी [illegible] को एक साथ [illegible] था—जिसमें एक यह था कि [illegible] है—[illegible] ही नहीं, सदा के लिए [illegible] हो गई है, क्योंकि वह जीवन के [illegible] से [illegible] हो गई है।

फिर उसने किवाड़ खटखटाने के लिए हाथ उठाया, पर तत्काल ही अनुभव करके कि वहाँ कुछ समय और रुकने का अवसर है, उसने हाथ खींच लिया और सीढ़ियाँ उतरकर फुटपाथ पर आ पहुँचा।

बैठक में [illegible] कुर्सियाँ पड़ी थीं। एक पर कोई [illegible] व्यक्ति बैठा हुआ [illegible] था; उसके [illegible] की [illegible] पर [illegible] के [illegible] थे। शेखर के [illegible] के [illegible] से उस व्यक्ति ने मुड़कर देखा, और सहसा उसकी आँखों में [illegible] हो [illegible]। शेखर ने उस क्षण में [illegible]—कि [illegible] बैठा है, और उस व्यक्ति को मैंने बहुत [illegible] और [illegible] में [illegible] है। फिर उसने कहा, "मेरा नाम [illegible] है—"

"[illegible], [illegible]—[illegible]? यह तो बड़ा अच्छा [illegible] है...." वह व्यक्ति [illegible] से उठकर [illegible] और फिर [illegible] बोला, "[illegible], [illegible], बैठिए न—" शेखर ने देखा कि [illegible] के [illegible] का [illegible] भाव [illegible] के [illegible] में छिप गया है, और जैसे वह व्यक्ति भी [illegible] अनुभव करके ही कुछ [illegible] कर [illegible] रहा है।

"[illegible] हो [illegible] हो जायें [illegible] हैं [illegible] नहीं [illegible] को [illegible] रहे थे, पर [illegible]—वह [illegible]—" सहसा पुकारकर, "[illegible], यह देखो कौन आए हैं, [illegible]!"

[illegible] के [illegible] है। [illegible] के [illegible] के [illegible] में [illegible] की [illegible] से [illegible]। [illegible] पर [illegible] हो [illegible], "[illegible], तुम [illegible]?" और [illegible] गई।

एक [illegible] भी नहीं—[illegible] पर [illegible] तरह का कोई [illegible] नहीं [illegible]। [illegible]

क्या उन बड़ी-बड़ी खुली आँखों का स्निग्ध विस्मय और उस प्रश्न की सहज आत्मीयता झूठी थी ? पर—किन्तु शेखर को निराश होने का समय नहीं मिला।

रामेश्वर ने कहा, "मैंने तो शशि से कहा भी था कि कम-से-कम फ़ैसले के दिन तो मिल ही आवें, पर इन्होंने कोई खास उत्साह ही नहीं दिखाया—" शेखर ने शशि की ओर पुष्टि के लिए देखा, पर शशि की शून्य दृष्टि में कोई उत्तर नहीं था—"फिर मैं भी रह गया। मैं तो कहता हूँ कि ऐसे वीर पुरुष के दर्शन करना भी सौभाग्य से ही मिलता है। आप तो त्यागी महात्मा हैं।"

नहीं, यह सच नहीं हो सकता! पर यह मिथ्या प्रशंसा किसके लिए है, उसके या शशि के ? उसने छिपी हुई पर भेदक दृष्टि से रामेश्वर की ओर देखा, और स्थिर भाव से शशि की ओर ही देख रहा था। शशि अब भी चुप ही थी, और वैसे ही एक पैर देहरी पर रखे खड़ी थी।

"अरे, आप अच्छी बहिन हैं—न नमस्कार, न कुछ, न बैठने तक को कहा; लाइए न इनके लिए कुछ चाय वगैरह—लीजिए तब तक फल खाइए—"

शेखर के कुछ ननुनच करने से पहले ही शशि वहीं से मुड़कर भीतर चली गई और मिनट भर बाद एक प्याला चाय वहीं से तय्यार करके ले आई।

"अरे, ऐसे—" कुछ हिचकती-सी दृष्टि से रामेश्वर ने मेज़ पर पड़ी हुई केतली, दूधदानी आदि की ओर देखा।

शेखर ने जल्दी से कहा, "ठीक है, ठीक है; असल में मैं चाय पीता भी नहीं हूँ—" और बात समाप्त करने के लिए प्याला अपनी ओर खींच लिया। शशि नीचे बिछी हुई चटाई पर बैठकर एक तश्तरी में कुछ फल रख रही थी।

रामेश्वर ने कुछ हँसकर कहा, "आपकी बहिन का स्वभाव विचित्र है।" हँसी में कोई सार नहीं था, उसका उद्देश्य केवल यही था कि इस उक्ति को आलोचना न समझा जाए, केवल बोध ही माना जाए।

शेखर ने भी कुछ हँसकर कहा, "असल में हमारा सारा कुनबा ही विचित्र है—"

शशि ने एक द्रुत, तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा और फिर अपने काम में लग गई। रामेश्वर ने कृत्रिम विस्मय से कहा, "अच्छा ?" शेखर को लगा कि उसकी मुस्कराहट में हल्का-सा उपहास का भाव है। किन्तु क्यों, वह नहीं जान सका।

शेखर तुरत कोई नई बात छेड़ना चाह रहा था, पर उसे कुछ सूझा ही नहीं। इस बीच शशि ने फल लाकर उसके आगे रख दिए। उसने पूछना चाहा कि तुम नहीं खातीं ? पर यह सोचकर कि घर-घर का व्यवहार अलग-अलग होता है और शायद पति के सामने वह नहीं खाती होगी, उसने तश्तरी अपनी ओर खींच ली और रामेश्वर से पूछा, "आप भी लीजिए न ?"

"लीजिए, लीजिए—" कहकर उसने एक फांक सन्तरे की उठा ली। "आपकी तो

इस कुछ फ़ासले ही नहीं कर रहे। और आप तो उसे याद करके दुःखी हो रहे हैं? हाँ, यह तो हमने पूछा ही नहीं कि फैसला कब क्या हुआ!"

शेखर पूछने के बाद जहाँ-जहाँ गया था, उसका ब्योरा बता दिया।

"आप अब रहते कहाँ हैं?"

शेखर ने कुछ हँसकर कहा, "अभी रहता कहीं हूँ—अभी तो घर ही ढूँढ़ रहा हूँ!"

"अच्छा, तो आप यहीं रहिए न। बहिन का घर तो अपना घर होता है। आप अगर यहाँ रहिए, मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, और उसको भी तो होगी ही। वह तो अक्सर आपकी बात करती रहती है—"

शेखर को हल्का-सा याद आया कि यह बात दूसरी बार कहीं जा रही है। उसने शशि की ओर देखा, पर वैसी ही निश्चल दृष्टि से ताक रही। रामेश्वर ने शेखर की दृष्टि का अनुसरण करते हुए कहा, "आप भी बहिन से पूछ लें कि यहीं रहें? पूछना तो [illegible] करते हैं—"

शशि ने दृष्टि नीचे किए हुए ही कहा, "मैं तो कहती हूँ।"

यह उत्तर रामेश्वर को ही नहीं, शेखर को भी कुछ अटपटा लगा।

"तो क्या?" कुछ रुककर, जैसे नई युक्ति पाकर रामेश्वर ने कहा, "आप कहीं यह तो नहीं सोच रहे कि शादी-शुदा बहिन के घर कैसे रहा जाए? बल्कि—" और वह जोर से हँसा, "आप तो इससे ही समझकर साथ खुश रहिएगा कि यह आपका ही—"

शेखर ने कहा, "नहीं, यह बात तो बिल्कुल नहीं है।" फिर वह भी हँसा। "नहीं तो मैं इस सबके साथ निभाऊँ? यह तो मैंने किया यह एक बात ही था लिए हैं।"

रामेश्वर ठठाकर हँसा।

किन्तु हँसी के शान्त होने के बाद फिर एक मौन उत्पन्न हो गया—जिसे हँसने के बाद [illegible] नहीं, [illegible] रामेश्वर ने पूछा, "आप भोजन तो करेंगे न? आज, भोजन में कितनी देर है?"

"उसमें ही है—"

"नहीं, बोलिए तो—"

"अरे, यह कैसे हो सकता है? आप तो मैं देर से बैठा हूँ, क्योंकि [illegible] पूछा था। उनको तो भोजन करने का है। आप, एक उस बार खा चुका हूँ, और भोजन करके।"

"जी नहीं, मुझे भूख बिल्कुल नहीं रही, केवल भोजन तो हो भी चुका है—यह बस। और—"

"अच्छा, थोड़ा कुछ तो खाइए, और यह कुछ नहीं मानूँगा—"

शेखर ने कहा, "घूमते-घूमते तो थक गया। अब चलता हूँ—ज़रा कालेज से पता लगाऊँ कि आगे कैसे क्या होगा!"

"यह सब तो कल हो जाएगा। पर आप थके हैं तो बैठिए, मैं ज़रा क्लब तक हो आऊँ, थोड़ा-सा काम है। अभी आता हूँ लौटकर।" फिर शशि की ओर उन्मुख होकर "ये यहीं ठहरेंगे, इन्हें जाने नहीं देना—जैसे भी हो राज़ी कर लेना।"

शेखर को बिना कुछ कहने का मौका दिए रामेश्वर नीचे उतर गया।

पाँच-सात दीर्घ सेकण्डों तक कोई कुछ नहीं बोला। फिर शशि ने पूछा, "कहाँ रहोगे?"

शेखर जानता था कि शशि के यहाँ वह नहीं रहेगा। पर शशि उससे कहेगी भी नहीं, पति के कहने के बाद समर्थन में भी नहीं, यह उसे कुछ विचित्र लगा। पर निराशा को छिपाने के लिए वह जल्दी-जल्दी कुछ-न-कुछ झूठ आविष्कार करने के लिए बोला, "सोचता हूँ, होस्टल ही जाऊँगा। कालेज का पता करूँगा कि पढ़ाई आगे चलेगी कि नहीं। नहीं तो और कुछ सोचना होगा।"

"घर नहीं जाओगे? माताजी बीमार हैं।"

"अच्छा? पर मैं अभी तो नहीं जाऊँगा—"

"खाना खाओगे?"

"नहीं, इच्छा नहीं है।"

थोड़ी देर मौन रहा। फिर शशि ने पूछा, "जेल कैसा लगा?"

शेखर को अचानक उत्तर नहीं सूझा। बोला, "क्यों?"

"बहुत-से लोग जेल जाकर खट्टे हो जाते हैं—उनका किसी में विश्वास नहीं रहता। तुम तो वैसे नहीं हो गए?"

मदनसिंह का चित्र शेखर की अन्तर्दृष्टि के आगे दौड़ गया।

"अम्—नहीं। मैंने जेल में बहुत-कुछ सीखा है—काफ़ी कड़वा, पर मैं तो शायद कड़वा नहीं हुआ हूँ—"

शशि ने भरपूर दृष्टि से शेखर की आँखों की ओर देखा। उसकी दृष्टि में आश्वासन और सन्तोष देखकर शेखर को अच्छा लगा। शशि के इस विचित्र व्यवहार से जो रूखा-पन उसके प्राणों में समा रहा था, वह कुछ स्निग्ध हो गया।

"अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे। यों ही भटकना अच्छा नहीं है। अबकी जब आओगे तो मैं पूछूँगी कि क्या निश्चय किया है—अबकी क्यों, कल तो आओगे ही। आओगे न? वह भी तो कह गए हैं।"

शेखर ने चौंककर शशि की ओर देखा। शशि की बात में जो एक रहस्यमय अन्तर्ध्वनि है वह क्या है? उसने एकाएक जाना कि आरम्भ में ही शशि ने कितनी बातें की हैं, प्रत्येक की स्पष्ट ध्वनि के नीचे एक गहरा और विशालतर अर्थ है—पर क्या? उसका ध्यान रामेश्वर की बातों की ओर गया—उसकी बातों में भी कुछ था जो—

उसके विचार रुक गए; पर वह निर्मम होकर उन्हें आगे धकेलने लगा और उनके प्रत्याक्रमण से तिलमिलाता गया—

यहाँ कुछ है जो रहस्यमय है, जिसके रामेश्वर और शशि साथी हैं—मैं उसमें ग़ैर हूँ। क्या है वह? क्या यही बात है कि पति-पत्नी-सम्बन्ध के कारण उनमें एक गहरी आत्मीयता है, जिसको गहरी ही रहना चाहिए, क्योंकि वह आत्मीयता है, और जिसे उघाड़कर देखना चाहना पाप है? पर वह आत्मीयता तो प्यार की होती है, और प्यार में आनन्द मिलता है—क्या शशि सुखी है? नहीं, मुझे तो नहीं लगता कि शशि के और मेरे—शशि और रामेश्वर के और मेरे—बीच में जो अनविच्छेद्य पर्दा खड़ा हो गया है, वह वही पर्दा है जिसके पीछे आनन्द भोगनेवाला व्यक्ति जा छिपता है! आनन्द एक झिल्ली की तरह है, जिसमें व्यक्ति सिमटकर बन्द हो जाता है और दूसरों से पृथक् हो जाता है; अपना जीवन दूसरों के लिए देकर भी वह दूसरों में मिलता नहीं, उनसे अलग रहता है....क्या यही दूरी शशि ने पाई है?

नहीं। शशि मेरे जीवन से बाहर चली गई है। सुख के कारण नहीं, वैसे ही। हम लोग अपरिचित हो गए हैं। अब नया जो परिचय होगा, वह रामेश्वर की मार्फ़त होगा, और रामेश्वर में और मुझमें साम्य क्या है? मेरे व्यसन अलग हैं। और शील—शील तो मुझमें है ही नहीं ...शशि सुखी नहीं है, पर मैं यह जाननेवाला कोई नहीं हूँ कि उसे क्या दुःख है। मैं ग़ैर जो ठहरा—

"क्या सोच रहे हो?"

शेखर ने सकपकाकर कहा, "कुछ नहीं, यों ही। अब चलूँगा।" वह उठ खड़ा हुआ। एक भीषण उत्साह उसके मन में उमड़ रहा था, जिसके कारण वह वहाँ ठहरना नहीं चाहता था।

शशि ने कहा, "बैठो अभी—" पर फिर उसके मुख की ओर देखकर चुपचाप उठ खड़ी हुई। शेखर के साथ-साथ वह सीढ़ियों के ऊपरवाले द्वार तक गई। वहाँ पहुँचकर शेखर ने कुछ रुककर उसकी ओर मुड़कर कहा, "अच्छा, तो अब चलता हूँ—"

सहसा शशि ने पूछा, "देख लिया मेरा घर?"

तब एकाएक बाढ़-सी में शेखर ने देखा कि अगर कहीं दुराव है तो वह शशि का बनाया हुआ नहीं है, और अपनी कुढ़न की सम्पूर्ण तुच्छता का अनुभव करते हुए, निरछल स्नेहभरे सहज अपनेपन के साथ उसने कहा, "देख लिया, शशि, बहुत कुछ देख लिया—" और नीचे उतर गया।

पीछे प्रश्न आया, "कब आओगे?" पर इस प्रश्नकर्त्री को वह जानता था, और इस अपनेपन के नाते समझता था कि यह प्रश्न जिज्ञासा नहीं है, केवल सूचना है कि वह प्रतीक्षा करेगी।

यह सब निरुद्देश्य आवेग लेकर मैं कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा ?

'अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे....'

मैं क्या निश्चय करूँ ? आगे मैंने कौन-से निश्चय किए हैं ? या किए हैं तो कौन-से निश्चय का अनुसरण सम्भव हो सका है....क्या जीवन की अबाध गति ही मुझे लहर पर के उतराते हुए टीन के खाली डिब्बे की तरह इधर-उधर नहीं पटकती रही—कहीं पत्थर से टकरा गया तो 'खन्न् !' से गूंज उठा, पर वह गूंज प्राणों के विद्रोह की थोड़े ही थी वह केवल आन्तरिक शून्य की, खोखल में भरी हुई वायु की ही थी—कभी ऊँचा उठा और कभी नीचा धँसा, वह भी अपनी अन्तःशक्ति के सहारे नहीं, बहती लहर में प्रवाहमान प्रेरणा के कारण...शक्ति के नाम पर मेरे पास क्या रहा है ? एक आन्तरिक खोखलापन, जिसके कारण मैं तैरता गया हूँ, डूबा नहीं ! क्या इसी सम्बल के सहारे जीवन का युद्ध लड़ा जाता है, क्या यही है वह पाथेय, जिससे कर्म का कँटीला पथ—

कविता, रूपक; शब्दाडम्बर !

किन्तु इस दिशा में सोचने से तो कुछ सिद्ध नहीं होता। हो सकता है कि जीवन की लहर के प्रति अर्पित हो जाना ही सबसे बड़ा काम हो—पर यह मेरे स्वभाव के साथ तो नहीं चलता....या यही सही कि अभी इतनी मार नहीं खाई है कि वह सिद्धि स्वीकार्य जान पड़े—अभी संघर्ष बाकी है, जिसमें मैं अपने को प्रेरक मानता रहूँ—चाहे भ्रमवश ....अहंकार तो अहंकार ही सही, पर जब तक अहंकार अघा न जाए, तब तक निष्काम पाएगा कैसे, या सच्चा वह कैसे होगा ?

'अबकी बार आओगे तो पूछूंगी कि क्या निश्चय किया है—'

सड़कों पर भटकते हुए शेखर ने आकाश की ओर देखा। शहर की जिस धूल ने उड़-उड़कर सड़क की बत्तियों की ज्योति फीकी कर दी थी, वह आकाश में भी छाई हुई थी। शेखर ने सोचा कि जेल के तारे शहर के तारों की अपेक्षा निर्मलतर होते हैं—और मन-ही-मन मुस्करा दिया। फिर उसे बाबा मदनसिंह की याद आई; और निश्चय-वाला प्रश्न फिर सामने आ गया....

क्या करूँ मैं ?

'अपने भीतर जो सत्य तुमने पाया है, वह दूसरों को दे सकते हो ?'

शेखर को जान पड़ा कि यह बाबा का ही स्वर है। वह विस्मित नहीं हुआ, क्योंकि उसके विचारों पर बाबा की जो गहरी छाप पड़ी हुई थी, उसे वह जानता था। वह मानो बाबा के इस कल्पित स्वर से ही बातचीत करने लगा।

'तो क्या यह जीवन का उद्देश्य हो सकता है ? पर मैंने सत्य कहाँ पाया है—मैंने तो सन्देह ही सन्देह पाए हैं !'

'वही सही। कोई भूतपूर्व सत्य अब असन्दिग्ध नहीं रहा है, यह भी एक नकारात्मक सत्य है।'

'पर नकारात्मा सत्य के सहारे—'

'शेखर, अपने भीतर कुरेदकर देखो। क्या कोई घटनात्मक राशि, कोई विश्वास वहाँ नहीं है, केवल ऋण ही ऋण है?'

'विश्वास...."दर्द से भी बड़ा विश्वास"....शायद हो। अपने में विश्वास—यानी अहंकार। क्या वह उद्देश्य हो?'

'क्या तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता, जो तुम कर सकते हो—अपने लिए नहीं, अपने से बड़ी किसी इकाई के लिए—अर्थात् कोई भी काम, जो तुम्हारा नाता तुमसे बड़ी किसी चीज से जोड़े?'

'जब अहंकार है, तब मुझसे बड़ा क्या! मैं ही तो बड़ी चीज हुआ न—!'

'टालो मत—तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बड़ी वस्तु की झाँकी तुमने पाई है—सभी पाते हैं—'

शेखर ने एक बार फिर आकाश की ओर देखा। वातावरण वैसा ही धूलभरा था, पर आकाश का रंग कुछ और गहरा हो गया था, इसलिए तारे कुछ कम धूमिल दीख रहे थे! एक तारे के टिमटिमाने में शेखर को ऐसा भी लगा कि वह दो-तीन रंगों में चमकता है और रंग कुछ पहचाने भी जाते हैं, नीला, लाल, श्वेत ...

उसे याद आया कि रात किसी के यहाँ काटनी है, तो अब उस किसी को अपनी आसन्नता की सूचना देनी चाहिए। वह होस्टल की ओर चला, जहाँ कम-से-कम एक लड़का ऐसा था, जिसके यहाँ वह जा सके...



शेखर जब दुबारा शशि से मिला, तब रामेश्वर घर पर नहीं था। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसलिए कि शेखर ने अपने भावी कार्यक्रम की कुछ रूपरेखा बना भी ली थी, वह शशि के सामने अधिक सुस्थ रूप में आ सका और बातचीत कर सका। कांग्रेस के और जेल के अनुभव, बाबा मदनसिंह के संस्मरण, उनके कुछ सूत्र और उनकी भव्य मृत्यु, रामजी और मोहसिन की बात, घटना के रूप में जितनी बातें बताई जा सकती थीं, सब उसने संक्षेप में बता दीं। शशि मुग्ध भाव से सुनती रही। पर जब शेखर पूरी बात कह चुका और कुछ यह भाव भी उसमें आ चला कि वह बहुत देर तक लगातार बोलता रहा है, तब शशि ने एकाएक ऐसे पूछा, जैसे बहुत देर से वह यही प्रश्न पूछना चाह रही थी—"और तुम?"

शेखर ने अचकचाकर कहा, "क्या?"

"यह तो सब बाहर की घटना है। तुमने अपनी बात तो कुछ कही नहीं। मैं वह भी सुनना चाहती हूँ।"

"अरे, मैं..." शेखर सकुचा गया। शशि से कैसे उस अन्तरंग जीवन की बात कहे, जिसमें शशि की ही देन इतनी बड़ी थी?

"नहीं, मैं ज़रूर सुनूँगी। आज चाहे न सही, पर छोड़ूँगी थोड़े ही। तुम बनो अपरिचित तो बनो, मैं तो नहीं बनती, न मुझे तुमसे डर लगता है।"

शेखर चौंका, फिर लज्जित होकर सिर झुकाए रह गया।

"अच्छा, कुछ निश्चय किया है क्या करोगे?"

"हाँ।"

शशि प्रतीक्षा में चुप रही, पर शेखर को न बोलते देख उसने पूछा, "क्या?"

शेखर को लगा कि जो वह कहना चाहता है, वह तभी कह सकेगा जब साथ ही उसका उपहास भी करता जाए, नहीं तो बात बड़ी बड़बोली लगेगी....हँसते हुए बोला, "कुछ करूँगा जिसे क्रान्ति कहते हैं। सब चीज़ उलट-पलटकर रखूँगा, कुछ टूट-फूट जाएगी तो कहूँगा कि पुरानी सड़ी हुई थी।"

शशि जानबूझकर और गंभीर बनती हुई बोली, "हूँ। और?"

"और क्या? बाबा कहते थे, तोड़ना ही धर्म है, बनता तो अपने-आप है। यानी अगर मेरा एक दाँत टूट जाए—टूट क्यों जाए, तुम तोड़ डालो—तो डेंटिस्ट अपने आप प्रकट हो जाएगा। यह विज्ञान का नियम है—कि प्रकृति को सूना मसूढ़ा अच्छा नहीं लगता।"

शशि ने उसी आरोपित गंभीरता के साथ पूछा, "यह तो हुआ उद्देश्य। इसके लिए करोगे क्या?"

"करूँगा क्या? हथौड़ा तो पास होगा नहीं, और कंकड़ मारने से दाँत टूटेगा नहीं, इसलिए हर किसी के दाँत में रस्सी बाँधकर एक-एक पत्थर उसके नीचे लटकाऊँगा—कि दाँत अपने-आप खिंच आएँ! कश्मीर में मैंने एक बुढ़िया को दाँत से पत्थर लटकाए बैठे देखा था—उसका दाँत दुखता था।"

शशि थोड़ा-थोड़ा झल्ला रही है, यह देखकर कुछ और हँसकर शेखर ने कहा, "मतलब यह कि मैं लिखूँगा। दाँतों में पत्थर नहीं, अपनी पुस्तकों के यट्टे बाँधकर लटकाऊँगा, आखिर कभी तो इतना बोझ होगा कि—"

अब जाके शशि थोड़ा-सा मुस्कराई। बोली, "तो तुम साहित्यकार बनोगे? अच्छा।" एकाएक उसकी आँखों में एक दीप्ति जागी। "और तुम्हारा लिखना एक उद्देश्य के लिए होगा—विनाश के लिए और पुनर्निर्माण के लिए।" फिर उसने कुछ शान्त होकर कहा, "लेकिन शेखर, ऐसा लिखा हुआ सब अच्छा नहीं होता, सब साहित्य नहीं होता। वहाँ साहित्य का मोह करोगे कि उद्देश्य का?"

शेखर ने अनुभव किया कि अपनी बात को उपहास की आड़ में कहने की आवश्यकता नहीं थी। वह एकाएक गम्भीर होकर कहने लगा, "मोह तो मैं किसी का नहीं करूँगा। मोह ही तो वह दाँत है जो उखाड़ना है। पर इसके लिए तो कोई तरकीब निकालनी ही होगी—मैं जो कुछ लिखता हूँ, बहुत उबलकर लिखता हूँ, पर पीछे मुझे लगता है कि वह अच्छा नहीं है। बल्कि कभी यह भी लगता है कि उद्देश्य भी उसमें

नहीं है, क्योंकि यह उबाल ही उबाल है, और उद्देश्य के लिए तो नक्शा बनाकर संयम से चलना चाहिए।"

दोनों चुप हो गए। एकाएक शशि ने उठकर कहा, "चाय बनानी है मुझे—"

शेखर ने विदा ली और चला आया।

●

शेखर ने ग्वालमण्डी के पास एक चौमंजिले मकान की सबसे ऊपर की मंज़िल में बारह रुपए महीने भाड़े पर डेढ़ कमरा लिया। बड़ा कमरा मकान के एक कोने पर था, आधे हिस्से में सीढ़ियों के लिए जगह घिर जाने के कारण कमरे का आकार चौरस न होकर कोण का हो गया था। कोण की बड़ी भुजा पूरब-पच्छिम थी, इसमें शेखर ने बैठक बनाई। दूसरी भुजा उत्तर-दक्खिन थी, इसमें उसने चारपाई रखी। इसके साथ ही एक छोटी-सी कोठरी थी, और कोठरी के बाहर सीढ़ियों से सटा हुआ छोटा-सा आँगन, जिसमें एक ओर पानी का नल था और दूसरी ओर किसी पहले किराएदार के चूल्हे की बची हुई लिपाई। पहले दिन तो शेखर को यह सोचकर आनन्द आया कि एक कमरे से वह दो कमरों का काम निकाल सकता है, दूसरे दिन उसे विस्मय होने लगा कि इस इतनी जगह में जो लोग गिरस्ती और बच्चे-कच्चे लेकर रहते होंगे, वे कैसे रहते होंगे; तीन दिन बाद उसने सोच लिया कि घर के बारे में ज्यादा सोचना भले लोगों का काम नहीं है। और फिर इस 'घर' का क्षेत्रफल उस कोठरी से लगभग दुगुना है, जिसमें बाबा मदनसिंह ने अठारह साल तक....बल्कि, यहाँ तो पतरा कमरे में रखना आवश्यक नहीं है, इसकी व्यवस्था नीचे अलग है....

नौकर है नहीं, खाना होटल से आ जाएगा (बिल का प्रश्न उठेगा, पर वह बाद का प्रश्न है।) अतः काम बहुत न था और फुर्सत पर्याप्त।

शेखर अपने बड़े—अर्थात् एकमात्र—कमरे में टहल रहा था। सोच रहा था कि इसी कमरे में उसे वह साहित्य उत्पन्न करना है, जो क्रांति को प्रेरणा देगा....एकाएक उसे ध्यान हुआ कि यह पहला अवसर है कि वह अपना अलग मकान लेकर अपने नरोसे अकेला खड़ा हुआ है—कि एक परिवार का या समुदाय का छोटा-सा अंग न होकर वह परिवार का मुखिया है—मुखिया ही क्यों, समूचा परिवार, क्योंकि और आगे-पीछे कौन है! जिस समाज को उसे बदलना है, उसी की वह एक स्वतन्त्र इकाई है....यह विचार कोई असाधारण विचार नहीं था, पर इसमें शेखर का समूचा आग्रह समाज पर नहीं स्वतन्त्र इकाई पर था, इसलिए उसे यह नया मालूम हुआ। स्वतन्त्र होना, इकाई होना, अपने-आपको एक खण्ड, एक टुकड़ा, अस्तित्व का एक अल्पांश न देखकर समूचा देखना—चाहे एक अकेला कण, किन्तु सम्पूर्ण, जिसका एक स्पष्ट वास्तविक रूप है, एक छोटे-से अस्तित्व का पृथक् तेजपुंज....अभी उसने कुछ किया नहीं था, पर इस विचार में उसे बल

मिला, सान्त्वना मिली, थोड़ा-सा रस मिला, जिसके सहारे वह अपनी अवस्था का उज्ज्वल पक्ष देखने लगा....

उसे याद आया, कभी कहीं एक लेख उसने पढ़ा था, जिसमें मकान की उपल्ली मंजिल में रहने के लाभ बताए गए थे। क्या-क्या लाभ गिनाए गए थे, वह भूल गया था, पर अपने-आप भी तो सोचा जा सकता है! स्वच्छ वायु, एकान्त, नगर के कोलाहल से दूरी, जन-समाज के प्रति एक तटस्थता का भाव....बचपन में वह सोचा करता था कि जो लोग पहाड़ पर रहते हैं, वे ईश्वर के कुछ निकटतर होते होंगे.......शेखर मन-ही-मन हँसा; फिर सोचने लगा कि इस ऊँचे जीवन-स्तर पर पहुँचकर वह क्या लिखे, जो दातव्य हो.......

साहित्य—वह साहित्य जो क्रांति की प्रेरणा दे....और क्रांति? एकपक्षीय नहीं सर्वतोमुखी क्रांति! जो क्रांति एक दिशा में तभी बढ़ती है जब दूसरे मार्ग बन्द कर ले, वह क्रांति नहीं है। हम जो इतनी हलचल के बाद भी आगे नहीं बढ़ पाते, उसका यही कारण है कि हम प्रगति को कृत्रिम प्रणालियों में बहाना चाहते हैं। संयम आवश्यक होता है, पर यह संयम नहीं है। शेखर को केंचुए की जाति का एक छोटा चेंपदार कीड़ा याद आया, जो एक ओर बढ़ने के लिए दूसरी ओर सिकुड़ता जाता है; जब इधर का सिकुड़ना सीमा पर पहुँच जाता है, तब दूसरी ओर प्रसरण होने लगता है। हमारे कई नेता भी तो ऐसे हैं, किसी ने आर्थिक क्षेत्र चुना है, किसी ने सामाजिक, किसी ने राजनीतिक तो किसी ने धार्मिक, पर प्रत्येक ने अपनी हलचल की सतह के नीचे किसी स्तर में अपने अस्तित्व के किसी दूसरे क्षेत्र से अपने को संकुचित कर लिया है....

शायद यह संगठन का अनिवार्य दोष है? संगठन एक ध्येय लेकर होता है, उसका एक निश्चित कार्यक्रम हो जाता है, फलतः उसको बढ़ाने के लिए लोग दूसरी दिशाओं से हाथ खींच लेते हैं....

पर संगठन के बिना भी क्या होता है?

होता है। क्रांति का एक संगठित पक्ष है, तो एक महानतर व्यक्ति-पक्ष भी है। बिना संगठन के भी—बिना संगठन के ही—व्यक्ति अकेला भी बहुमुखी वृद्धि के बीज बो सकता है....और शायद जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य का मार्ग चुनता है, वह तो कर ही यही सकता है, क्योंकि वह पहले व्यक्ति है, पीछे किसी संगठन का सदस्य! उसका तो विशेष धर्म है बहुमुखी क्रांति के लिए भूमि जोतना और बोना, क्रांतिबीज की सिंचाई और निराई करना....

तीसरी बार जब शेखर शशि से मिला, तब उसके चेहरे पर प्रसन्नता का ऐसा भाव था कि उसे देखते ही शशि ने पूछा, "क्या कुछ लिख डाला है?"

"लिखा तो कुछ नहीं है, पर सोच-सोचकर कुछ समझ में आने लगा है। घर में काम तो कुछ है नहीं, सोच-सोचकर नक्शे बनाता हूँ, अब लिखूँगा।"

रामेश्वर भी था। बोला, "तो आप लेखक बनना चाहते हैं ? कालेज छोड़ने का ही निश्चय कर लिया ?"

"वह तो अपने-आप छूट गया। दस महीने की अनुपस्थिति के बाद अब परीक्षा तो दे नहीं सकता, और नए सिरे से पढ़ने बैठकर दो साल लगाने का धीरज नहीं है। फिर पढ़कर कौन नौकरी करनी है, जो एम० ए० की डिग्री ज़रूरी हो !"

"नौकरी ऐसी बुरी तो नहीं है। मेरी तरह की सरकारी नौकरी न करिए, पर प्रोफ़ेसरी तो बड़ी अच्छी चीज़ है। आदर भी होता है, काम भी कम होता है, छुट्टियाँ भी अच्छी मिलती हैं। फिर विद्या का साथ रहता है, आदमी पढ़ता-लिखता रह सकता है और अच्छे विचारों का प्रचार भी कर सकता है। आपके लिए तो सबसे अच्छा काम है।"

शेखर ने कहा, "यह तो ठीक है। पर मेरी कुछ आदत ही बिगड़ गई है, किसी के अधीन काम करने का जी नहीं होता।"

"तो बात दूसरी है। आप आदर्शवादी हैं।" शेखर नहीं जान पाया कि इसमें कितना अंश व्यंग्य का है। "तो आजकल आप क्या करते हैं ? बहुत पढ़ते होंगे ? हमें तो—शशि तो पढ़ती है—अनवरत पढ़ती ही रहती है। हँसना-खेलना तो इन्हें अच्छा नहीं लगता। हम तो कई काम करते-करते थक जाते हैं, तफ़रीह ज़रूरी मालूम होती है...."

शेखर के कुछ लिखने के सब प्रयत्न व्यर्थ गए। न जाने क्यों, जब भी वह लिखने बैठता, तभी उसके सब विचार कहीं उड़ जाते; कभी उसे लगता कि वह लिखने को पेशा बना रहा है, तभी उसमें से चमत्कार की भावना नष्ट होती जा रही है। पर अभी तो उसने कुछ लिखा ही नहीं, लिखने से कमाने की बात दूर रही, तब पेशा कैसा ? किन्तु पेशा दृष्टिकोण की बात है, साहित्य जब साध्य नहीं, एक साधन है तब....

हाँ, साधन तो है, पर साधन किस चीज़ का ? क्या उसका ध्येय घटिया है, दूषित है ? साहित्य साहित्य के लिए है, स्वान्तःसुखाय है, पर क्या ध्येय की साधना स्वान्तःसुखाय नहीं है ? लक्ष्य एक विशेष प्रभाव नहीं होना चाहिए, लक्ष्य होना चाहिए केवल सौन्दर्य, क्योंकि प्रभाव की खोज में सौन्दर्य ओझल हो जाएगा। पर क्यों ? सौन्दर्य देखकर ही तो इतर वस्तु को उसमें ढालने की प्रेरणा मिल सकती है ? लोक-कल्याण की भावना से अलग सौन्दर्य क्या हो भी सकता है ? एकाएक उसे शशि का प्रश्न याद आया, 'साहित्य का मोह करोगे कि उद्देश्य का ?' मोह वह किसी का नहीं करेगा, क्योंकि जब तक दृष्टि उद्देश्य को विमल और निष्कम्प एकाग्रता से देखती रहेगी, तब तक एक निस्पृह सौन्दर्य को ही देखेगी, जब निष्ठा नहीं रहेगी तब यह भी कहाँ कहा जा सकेगा कि उद्देश्य स्पष्ट है ?

पर विचार से नहीं चलेगा। रचना चाहिए। वह ठीक सोचता है कि ग़लत, इसकी कसौटी तो वही हो सकता है, जो वह लिखेगा। और लिखा उससे कुछ जाता नहीं.... क्यों नहीं वह अपने विचार ही लिख पाता ?

दोपहर की धूप उसके कमरे के अधिकांश में भर रही थी, केवल एक कोठरी के पास का कोना उससे बचा था। वहीं बैठकर, अपने पैर धूप की ओर फैलाकर शेखर बैठ गया और सोचने लगा कि वह क्या लिखे।

धूप अभी उसके पैरों से हटी नहीं थी कि नीचे से एक लड़के ने आकर पूछा, "देखिए, यह चिट्ठी आपकी है ?" और एक लिफ़ाफ़ा उसे दे गया।

शेखर ने 'हाँ' कहकर चिट्ठी ले ली, और विस्मृत होकर उसके पते की लिखावट देखने लगा....मौसी विद्यावती की चिट्ठी थी। उन्होंने लिखा था कि शशि ने उन्हें लिखा है कि वह अलग मकान लेकर रहने लगा है और साहित्य-सेवा करना चाहता है, इसलिए वे शशि की किताबों में से अच्छी-अच्छी छाँटकर उसे भेज दें। उन्होंने किताबें एक पेटी में भरकर भेजी हैं, जिसकी बिल्टी चिट्ठी के साथ है। और जेल से आने की बहुत बधाई, और सगुन के दस रुपये और थोड़ी-सी मिठाई भी उन्होंने पेटी में रख दी है और आशा की है कि वह रुपए भेजने पर बुरा नहीं मानेगा। बहुत-बहुत आशीर्वाद, और वह कभी छुट्टी पाए तो उन्हें मिलने जरूर जाए....मौसी विद्यावती।

बहुत देर बाद जब शेखर उठा, तो धूप कभी की लुप्त हो गई थी। साँझ के रंगीन प्रकाश में कमरा कुछ बड़ा-बड़ा लगने लगा था। किन्तु स्निग्ध आनन्द की एक अद्भुत दीप्ति उस पर छा गई थी—क्योंकि उसने एक लम्बी कविता और एक छोटी-सी कहानी लिख डाली थी....

वह चाहता था, उसी समय दौड़ा जाकर शशि को कहे कि देखो, मैंने कुछ लिखा है....सहसा उसने सोचा, अगर वह बिना बताए मौसी को लिख सकती है, तो मैं भी बिना बताए—कविता और कहानी डाक से उसे भेजूंगा ! यही निश्चय करके उसने हस्तलिपि कमरे की सूनी अलमारी में रख दी। तब उसे याद आया कि उसकी अपनी पुस्तकें भी तो थीं, जो होस्टल में रह गई थीं, वे भी वह होस्टल के कमरे के भूतपूर्व साथी से ले आएगा और वहीं रक्खेगा, अध्ययन भी जारी रक्खेगा....

○

जब खोजकर के उस साथी का कमरा पाकर और उसमें यह जानकर कि कई एक पुस्तकें तो 'लोग' ले गए और चित्रों के संग्रह चोरी हो गए और इत्यादि, शेखर अपनी बची-खुची पुस्तकों का गट्ठर लेकर लौटा—आधी से अधिक पुस्तकें चली जाने पर भी शेषांश काफ़ी था और उसमें भी पाठ्य पुस्तकें उतनी नहीं, जितने दूसरे और अब शेखर के विशेष रुचि के ग्रन्थ थे—तब रात हो गई थी। शेखर ने उस समय उन्हें वैसे ही रख दिया। प्रातःकाल उसने अलमारी की सफ़ाई करके उसमें काग़ज़ बिछाए, और सब पुस्तकें सजाकर रख दीं। फिर वह जाकर शशि की पुस्तकों का पार्सल भी ले आया, और उसकी पुस्तकें भी थोड़ी देर में सफ़ाई से रक्खी गईं। अलमारी में पाँच खाने थे—ऊपरवाले चार, जिनके आगे किवाड़ में काँच लगे थे, पुस्तकों से भर गए ; निचले में एक

भोर शेखर ने कापियों का ढेर रख दिया भोर दूसरी मोर मौसी की भेजी हुई मिठाई। तब अलमारी के किवाड़ बन्द करके वह कुछ दूर पर होकर अपने परिश्रम का फल देखने लगा।

उस एक अलमारी भर पुस्तकों को देखकर उसे रोमांच हो आया। कितना सुन्दर हो गया था उसका कमरा उन पुस्तकों से—जिनमें आधी उसने एक-एक करके जुटाई थीं, और बाकी शशि ने! शेखर जानता था, शशि ने भी अधिकांश पुस्तकें प्रतिमास मिलनेवाले थोड़े-से रुपयों से ही कई बरसों तक खरीदकर जुटाई थीं; वैसे ही, जैसे उसने अपने मासिक खर्च में से किसी तरह बचाकर (या अपने-आप बच जाने पर) जोड़े हुए धन से। उसे लगा कि उस अलमारी के दो खानों में से शशि की अनुग्रह-भरी सौम्य और वत्सल आँखें उसके कमरे को देख रही हैं; और उस दृष्टि से कमरे का वातावरण आर्द्र हो गया है। एकाएक कृतज्ञता से उसका मन उमड़ आया, और उसका हृदय यह भी चाह उठा कि वह उस कृतज्ञता को शशि पर प्रकट भी कर सके.. पर उसी समय जाने से उसने अपने को रोक लिया। उसने सोचा कि तीसरे पहर ही जाएगा, जब शशि को काम से छुट्टी होगी, और रामेश्वर भी फुर्सत में होगा (उस दिन रामेश्वर की आधी छुट्टी थी)। और एक बात महत्व की यह भी थी—तब तक शशि वह पत्र पा चुकी होगी, जो उसने रात डाक में छोड़ा था, उसकी कहानी और कविता पढ़ चुकी होगी....

रामेश्वर एक कुर्सी पर बैठा दूसरी पर टाँगें फैलाए, सिगरेट पी रहा था। शशि नीचे चटाई पर बैठी कुछ सिलाई कर रही थी। शेखर के आने पर उसने सिलाई घुटने पर रखकर सिर उठाकर एक स्थिर और मृदु दृष्टि से उपर देखा, फिर गर्दन जरा सीधी करके पुनः सिलाई में लग गई। रामेश्वर ने ऊँचे स्वर में कहा, "आइए-आइए, आप अच्छे आए!" और धुएँ के बादल के बीच में से मुस्करा दिया। "कहिए, क्या लिखा जा रहा है आजकल ?"

"कुछ नहीं, आजकल तो कुछ लिखने को मन ही नहीं होता।" शेखर ने कहते-कहते शशि की ओर देखा, कि वह कुछ कहती है या हँसती है कि नहीं, क्योंकि शेखर की कविता-कहानी तो उसी दिन उसे मिली होगी। पर शशि पूर्ववत् सिलाई करती रही।

"लिखनेवालों को यही तो आनन्द है। लिखा, लिखा ; न लिखा, महीनों न लिखा। फिर जहाँ लिखना रोटी के लिए जरूरी न हो, वहाँ एक दिन ढील करें तो उतनी फ़ाइलें लादकर घर लानी पड़ें—हमें तो जो करना पड़ता है, दिन-के-दिन करना ही पड़ता है!"

अबकी बार सन्देह के लिए गुंजाइश नहीं थी—रामेश्वर की बात का व्यंग स्पष्ट था कि निठल्ले बैठ रहने के लिए लेखक होने का बहाना अच्छा है! शेखर ने उत्तर नहीं दिया। शशि की ओर उन्मुख होकर बोला, "मौसी ने मुझे पेटी भर पुस्तकें भेजी हैं।"

"है।"

"उनकी चिट्ठी भी आई थी, जेल से आने को बधाई और सगुन भेजा है।"

शशि थोड़ा-सा मुस्कराई। माँ की यह बात उसे अच्छी लगी है, यह बात उसके चेहरे पर स्पष्ट थी।

रामेश्वर ने पूछा, "कैसी किताबें?"

"शशि की पुस्तकें वहाँ पड़ी थीं, वही।"

रामेश्वर ने संयत जिज्ञासा के स्वर में पूछा, "तुमने लिखा था भेजने को?"

"जी।"

"ओः—अच्छा।" फिर शेखर की ओर, "तो आप बहुत पढ़ते हैं? हाँ, और दिन भी कैसे कटता होगा। पुस्तकें भी बढ़िया होंगी—आपकी बहिन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की हैं!"

फिर वही अस्पष्ट कुछ की झलक—क्या इस उक्ति के पीछे कुछ और बात है? पर बात कही तो बिलकुल सहज भाव से गई है।

शेखर ने कहा, "मेरी अपनी बहुत-सी पुस्तकें पड़ी थीं, वह भी ले आया हूँ। अब फिर नियम से पढ़ने का विचार है।"

"जरूर, जरूर।"

नीचे किसी ने किवाड़ खटखटाया। साथ ही आवाज आई—"डाक है सा'ब!"

शेखर सीढ़ियों के सबसे निकट था। रामेश्वर के उठने से पहले उठकर उसने डाकिए के हाथ से डाक पकड़ ली। एकाएक वह चौंका। दो पत्र थे, जिनमें एक उसी का भेजा हुआ था!

वह क्षण भर असमंजस में पड़ गया। फिर उसने दोनों पत्र रामेश्वर को दे दिए, और जल्दी से बोला, "अच्छा, मुझे आज्ञा दीजिए, मुझे कुछ काम है—"

रामेश्वर पत्र खोलने को था, रुककर बोला, "इतनी जल्दी? अभी बैठिए न, थोड़ी देर में चाय-वाय पीकर—"

"जी नहीं, फिर आऊंगा—" कहकर शेखर चल ही पड़ा। पीछे उसने सुना, "लो, यह पत्र तुम्हारा है।"—"मेरा?"—"हाँ, किसका है?" वही संयत जिज्ञासा का स्वर, मानो जताना चाहता है कि मैं अधिकार से नहीं पूछता, यों ही पूछता हूँ—"अक्षर तो भय्या के लगते हैं—" शशि का हल्का-सा विस्मय—

शेखर मन-ही-मन हँसता हुआ नीचे पहुँच गया। शशि देखेगी कि पत्र में है क्या, तो अचम्भे में आ जाएगी....

घर पहुँचकर शेखर ने अपनी पुरानी कापियाँ उलट-पलटकर देखनी आरम्भ कीं। जिन दिनों वह मणिका के यहाँ आता जाता था, उन दिनों के लिखे हुए कागजों के पुलिन्दे खोल-खोलकर वह पढ़ने लगा। आज उसका जी प्रसन्न था, और यह प्रसन्नता मानो उसके पुराने सोचे हुए अव्यवस्थित विचारों को एक लड़ी में पिरोती जा रही थी....

अस्पष्ट, किन्तु क्रमशः स्पष्टतर होते हुए रूप में वह देख रहा था कि पिछले दो-अढ़ाई वर्षों में उसने जो कुछ देखा-सोचा है, उस सबके निष्कर्ष-रूप कुछ धारणाएँ उसकी बन गई हैं, जो अपने समाज के बारे में उसके विचारों की आधारशिला हैं, इन्हीं धारणाओं के सहारे वह समाज की वर्तमान रूढ़ि के विरुद्ध एक अभियोग खड़ा करता है और माँग करता सकता है कि समाज को बदला जाए....वह देख रहा था कि इस पुलिन्दे के कागजों में ही वह प्रबन्ध बिखरा पड़ा है जो, गठा जाकर एक पुस्तक बनेगा, शेखर के परिकल्पित नव-निर्माण का 'बाल-बोध'....पुस्तक का नाम भी उसने सोच लिया था—'हमारा समाज'....क्योंकि केवल समाज कहने से समाज की अमूर्त भावना ही सामने आएगी, और 'रूढ़िग्रस्त' या ऐसा कोई विशेषण लगा देने से स्पष्ट नहीं रहेगा कि हमारा आज का समाज ही पुस्तक का विषय है....

नहीं, लिखना उसका पेशा नहीं है; उसकी साधना है, क्योंकि उसके पास कुछ कहने को है और उत्कण्ठा भी उसमें है—उत्कण्ठा भी और साहस भी....

पाँच-छः दिन तक लिखते रहने के बाद, जब पुस्तक का ढाँचा काफ़ी स्पष्ट हो गया और आरम्भ में कुछ अंश अपने अन्तिम रूप में भी आ गए, तब शेखर को एकाएक याद आया कि उस दिन तो वह शशि को अपनी कृतज्ञता बताने गया था ! वह भी उसने नहीं किया, और यह भी नहीं जाना कि कविता और कहानी शशि को कैसी लगीं ! और असल बात तो यह थी कि वह शशि को वहाँ लाकर दिखाना चाहता था कि उसके आड़े-तिरछे कमरे में वह पुस्तकों-भरी (और कापियों-भरी भी !) अलमारी कैसी सुन्दर और भरी-भरी लगती है—क्योंकि यही तो कृतज्ञता-ज्ञापन का श्रेष्ठ तरीका है, नहीं तो क्या वह मुँह फाड़कर यह कहेगा कि 'शशि, मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ कि तुमने पुस्तकें भिजवाईं', और शशि आँखें आधी मीचकर और भवें ऊँची करके उत्तर देगी, 'अरे, यह भी कोई उल्लेख करने की बात है ?' नहीं, वे सब सभ्य ढंग उसके बस के नहीं हैं।

अपनी अधूरी पुस्तक की रूप-रेखा के पन्ने लेकर शेखर शशि के घर रामेश्वर और शशि को निमंत्रण देने गया। निश्चय करने के बाद उसे क्षणभर हिचकिचाहट हुई कि वह रामेश्वर की क्या खातिर करेगा; फिर उसे याद आया कि मौसी के भेजे हुए शगुन के रुपये तो अभी आलमारी में पड़े ही हैं, मिठाई समाप्तप्राय है तो क्या; वह एक टी-सेट और अँगीठी और कोयले आदि ले आएगा, जो बाद में भी काम आएँगे—क्योंकि अब तो सर्दी भी काफ़ी हो चली है....

रामेश्वर घर पर नहीं था। शेखर के हाथ में कागजों का पुलिन्दा देखकर शशि ने पूछा, "यह क्या लाए ?"

शेखर ने उत्साह से कहा, "मेरी पुस्तक की रूप-रेखा है, देखोगी ?"

"हाँ, दो—"

पर शशि ने कविता और कहानी का तो कोई जिक्र ही नहीं किया। क्या वे उसे

"हूँ।"

"उनकी चिट्ठी भी आई थी, जेल से आने की बधाई और सगुन भेजा है।"

शशि थोड़ा-सा मुस्कराई। माँ को यह बात उसे अच्छी लगी है, यह बात उसके चेहरे पर स्पष्ट थी।

रामेश्वर ने पूछा, "कैसी किताबें ?"

"शशि की पुस्तकें वहाँ पड़ी थीं, वही।"

रामेश्वर ने संयत जिज्ञासा के स्वर में पूछा, "तुमने लिखा था भेजने को ?"

"जी।"

"ओः—अच्छा।" फिर शेखर की ओर, "तो आप बहुत पढ़ते हैं ? हाँ, और दिन भी कैसे कटता होगा। पुस्तकें भी बढ़िया होंगी—आपकी बहिन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की हैं!"

फिर वही अस्पष्ट कुछ की झलक—क्या इस उक्ति के पीछे कुछ और बात है ? पर बात कही तो बिलकुल सहज भाव से गई है।

शेखर ने कहा, "मेरी अपनी बहुत-सी पुस्तकें पड़ी थीं, वह भी ले आया हूँ। अब फिर नियम से पढ़ने का विचार है।"

"ज़रूर, ज़रूर।"

नीचे किसी ने किवाड़ खटखटाया। साथ ही आवाज़ आई—"डाक है सा'ब !"

शेखर सीढ़ियों के सबसे निकट था। रामेश्वर के उठने से पहले उठकर उसने डाकिए के हाथ से डाक पकड़ ली। एकाएक वह चौंका। दो पत्र थे, जिनमें एक उसी का भेजा हुआ था!

वह क्षण भर असमंजस में पड़ गया। फिर उसने दोनों पत्र रामेश्वर को दे दिए, और जल्दी से बोला, "अच्छा, मुझे आज्ञा दीजिए, मुझे कुछ काम है—"

रामेश्वर पत्र खोलने को था, रुककर बोला, "इतनी जल्दी ? अभी बैठिए न, थोड़ी देर में चाय-वाय पीकर—"

"जी नहीं, फिर आऊँगा—" कहकर शेखर चल ही पड़ा। पीछे उसने सुना, "लो, यह पत्र तुम्हरा है।"—"मेरा ?"—"हाँ, किसका है ?" वही संयत जिज्ञासा का स्वर, मानो जताना चाहता है कि मैं अधिकार से नहीं पूछता, यों ही पूछता हूँ—"अक्षर तो भइया के लगते हैं—" शशि का हल्का-सा विस्मय—

शेखर मन-ही-मन हँसता हुआ नीचे पहुँच गया। शशि देखेगी कि पत्र में है क्या, तो अचम्भे में आ जाएगी....

घर पहुँचकर शेखर ने अपनी पुरानी कापियाँ उलट-पलटकर देखनी आरम्भ कीं। जिन दिनों वह मणिका के यहाँ आता जाता था, उन दिनों के लिखे हुए कागज़ों के पुलिन्दे खोल-खोलकर वह पढ़ने लगा। आज उसका जी प्रसन्न था, और वह प्रसन्नता मानो उसके पुराने सोचे हुए अव्यवस्थित विचारों को एक लड़ी में पिरोती जा रही थी....

अस्पष्ट, किन्तु क्रमशः स्पष्टतर होते हुए रूप में वह देख रहा था कि पिछले दो-अढ़ाई वर्षों में उसने जो कुछ देखा-सोचा है, उस सबके निष्कर्ष-रूप कुछ धारणाएँ उसकी बन गई हैं, जो अपने समाज के बारे में उसके विचारों की आधारशिला हैं, इन्हीं धारणाओं के सहारे वह समाज की वर्त्तमान रूढ़ि के विरुद्ध एक अभियोग खड़ा करता है और माँग करता सकता है कि समाज को बदला जाए....वह देख रहा था कि इस पुलिन्दे के कागजों में ही वह प्रबन्ध बिखरा पड़ा है जो, गठा जाकर एक पुस्तक बनेगा, शेखर के परिकल्पित नव-निर्माण का 'बाल-बोध'....पुस्तक का नाम भी उसने सोच लिया था—'हमारा समाज'....क्योंकि केवल समाज कहने से समाज की अमूर्त भावना ही सामने आएगी, और 'रूढ़िग्रस्त' या ऐसा कोई विशेषण लगा देने से स्पष्ट नहीं रहेगा कि हमारा आज का समाज ही पुस्तक का विषय है....

नहीं, लिखना उसका पेशा नहीं है; उसकी साधना है, क्योंकि उसके पास कुछ कहने को है और उत्कण्ठा भी उसमें है—उत्कण्ठा भी और साहस भी....

पाँच-छः दिन तक लिखते रहने के बाद, जब पुस्तक का ढाँचा काफ़ी स्पष्ट हो गया और आरम्भ में कुछ अंश अपने अन्तिम रूप में भी आ गए, तब शेखर को एकाएक याद आया कि उस दिन तो वह शशि को अपनी कृतज्ञता जताने गया था ! वह भी उसने नहीं किया, और यह भी नहीं जाना कि कविता और कहानी शशि को कैसी लगी ! और असल बात तो यह थी कि वह शशि को वहाँ लाकर दिखाना चाहता था कि उसके आड़े-तिरछे कमरे में वह पुस्तकों-भरी (और कापियों-भरी भी !) अलमारी कैसी सुन्दर और भरी-भरी लगती है—क्योंकि यही तो कृतज्ञता-ज्ञापन का श्रेष्ठ तरीका है, नहीं तो क्या वह मुँह फाड़कर यह कहेगा कि 'शशि, मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ कि तुमने पुस्तकें भिजवाईं', और शशि आँखें आधी मोचकर और भवें ऊँची करके उत्तर देगी, 'अरे, यह भी कोई उल्लेख करने की बात है ?' नहीं, वे सब सभ्य ढंग उसके बस के नहीं हैं ।

अपनी अधूरी पुस्तक की रूप-रेखा के पन्ने लेकर शेखर शशि के घर रामेश्वर और शशि को निमंत्रण देने गया । निश्चय करने के बाद उसे क्षणभर हिचकिचाहट हुई कि वह रामेश्वर की क्या खातिर करेगा; फिर उसे याद आया कि मौसी के भेजे हुए सगुन के रुपये तो अभी आलमारी में पड़े ही हैं, मिठाई समाप्तप्राय है तो क्या; वह एक टी-सेट और अँगीठी और कोयले आदि ले आएगा, जो बाद में भी काम आएँगे—क्योंकि अब तो सर्दी भी काफ़ी हो चली है....

रामेश्वर घर पर नहीं था । शेखर के हाथ में कागजों का पुलिन्दा देखकर शशि ने पूछा, "यह क्या लाए ?"

शेखर ने उत्साह से कहा, "मेरी पुस्तक की रूप-रेखा है, देखोगी ?"

"हाँ, दो—"

पर शशि ने कविता और कहानी का तो कोई जिक्र ही नहीं किया । क्या वे उसे

अच्छी नहीं लगीं ? तो उसे यही कहना चाहिए था, चुप क्यों रही ? उसने मान से कहा, "क्यों दूँ, तुम्हें कोई दिलचस्पी भी है ?"

"क्यों ? तुम्हें क्या पता है"

"मेरी कहानी-कविता तो पढ़ी नहीं—"

एकाएक शशि का चेहरा गम्भीर हो गया। उसने शान्त स्वर में पूछा, 'डाक से क्यों भेजी थी ?"

"तुमने मौसी को लिखा था तो मुझे क्यों नहीं बताया था ? मैंने सोचा, मैं भी तुम्हें सर्प्राइज़—" एकाएक शेखर को बोध हुआ, शशि का चेहरा गम्भीर नहीं, अप्रतिभ है; और उसका स्वर शान्त नहीं, मुर्झाया हुआ था। उसने हड़बड़ाकर पूछा, "क्यों शशि, क्या बात है ?"

"कुछ नहीं। मुझे क्या सर्प्राइज़—मुझे तो तुम स्वयं दिखला जाते—"।

"नहीं शशि, कुछ बात है—बताओ तुरत !" शेखर ने आशंकित आग्रह से कहा।

"कुछ नहीं। तुम्हारे पीछे उन्होंने पूछा, "चिट्ठी किसकी है ?" मैंने बता दिया, तो अचम्भे में बोले, "अभी तो आए थे, चिट्ठी क्यों ?" मैंने बताया कि कहानी और कविता भेजी है। बोले, "अच्छा, तब तो हम भी पढ़ें—" मैंने उन्हें सब कुछ दे दिया, पर उनके वे पन्ने उलटने-पुलटने से मैंने जाना कि उनकी रुचि कविता-कहानी में नहीं है। फिर उन्होंने कहा, 'भई, हम कविता-अविता क्या जानें, यह तो कलाकार लोग हीं समझें—' और कागज मुझे लौटा दिए। बहुत देर बाद फिर बोले, 'तो ऐसे सकपका कर भागने की क्या ज़रूरत थी ?' पहले तो मैं समझी ही नहीं कि किस बारे में बात हो रही है; फिर मुझे याद आया। मेरा कुछ उत्तर देने को मन नहीं किया।

शेखर सुन्न बैठा रहा। काफ़ी देर बाद उसने कहा, "मैं समझा दूँ उन्हें ?"

"नहीं, उससे उलटा असर पड़ेगा। जाने दो, जो हो गई बात। अब क्या लिख रहे हो ?"

शेखर ने विषय बदलने के इस प्रकट प्रयत्न को चुपचाप स्वीकार कर लिया। बोला, "पहले लिखी हुई कई चीजों का जोड़-तोड़कर एक निबन्ध बना रहा हूँ—अपने समाज की आलोचना।" पर वह पहले-सा उत्साह उसके स्वर में नहीं था।

"हमारा समाज ! कितना लिख डाला है ? और शीर्षक क्या रखा है ?"

"यही तो—'हमारा समाज'। जल्दी ही पूरा कर डालूंगा।" इतने में रामेश्वर आ गया।

"कहिए, अबकी कई दिन बाद आए ?"

"हाँ, यों ही, कुछ काम करता रहा।"

"यह क्या लाए हैं, कुछ और लिखा है ? वह कविता और कहानी आपकी सुन्दर थी। शशि के कहने से मैंने भी पढ़ी थी। पर अब तो बिना सिफ़ारिश के पढ़ूंगा—आप तो बड़ा सुन्दर लिखते हैं।"

शेखर ने मन-ही-मन इस व्यक्ति को सराहा, जिसके मुँह से बात अपने-आप ठीक निकलती आती है, चाहे उसके पीछे अनुभूति हो, न हो! वह स्वयं कुछ भी बोल नहीं सका।

"लाइए, यह तो देखें—"

शेखर का जी हुआ कि इन्कार कर दे। वह अधूरी हस्तलिपि उसे अपने व्यक्तित्व का इतना अपना अंग लगती थी कि उसे वह कम से कम रामेश्वर को नहीं देना चाहता था....पर यह सोचकर उसने अपने को सँभाला कि मना करने से रामेश्वर कहीं और उलटा अर्थ न करें, और अपनी अनिच्छा को बलपूर्वक दबाकर उसने कापी रामेश्वर को दे दी।

जब रामेश्वर उसके पन्ने अनमनी उँगलियों से इधर-उधर करने लगा, और शेखर को लगने लगा कि वे अनमनी ही नहीं, व्यंग्य से भरी हुई भी हैं, तब एकाएक अपने प्रति ग्लानि उसके मन में उमड़ आई। वह वहाँ से हट जाने के लिए उठ खड़ा हुआ। रामेश्वर के बैठने को कहने पर उसने कहा, "असल में मुझे सामने बैठकर अपनी चीज़ पढ़वाते संकोच होता है"—और मन-ही-मन सोचा कि यह पहले दिन की बात की भी अप्रत्यक्ष सफ़ाई है।

रामेश्वर ने शशि की ओर देखते हुए कहा, "वाह, संकोच कैसा? अभी तो ये छपेंगी न?" फिर एकाएक "नहीं तो इसे भी डाक से भेज देते—" और ठहाका मारकर हँस पड़े। "पर इतनी बड़ी कापी डाक से भेजने पर महसूल भी तो कितना लगता—"

ऐसे में निमन्त्रण वह कैसे दे? वह किसी तरह उठकर नीचे उतर गया....

•

चार-पाँच दिन फिर शेखर घर से नहीं निकला! कुछ लिखने की भी प्रवृत्ति उसको नहीं हुई। वह अनमना-सा खिड़की के आगे बैठा रहता, और कभी सर्दी अधिक हो जाती, तो उसे बन्द करके कमरे में टहलने लगता। एक आध दिन उसने पढ़ने का प्रयत्न भी किया; पर उसकी अनमनी आँखें बीच-बीच में एकाएक अनदेखी हो जातीं, फिर चौंककर वह सोचता कि जब समय नष्ट ही करना है, तब अपने साथ यह छल क्यों! कभी-कभी प्रातःकाल बिस्तर में लेटे-लेटे ही वह कविता के कुछ-एक पद्य पढ़ लेता, और आशा करता कि उनके प्रभाव से उसका दिन अच्छा बीत जाएगा।

लगभग एक सप्ताह बाद तीसरे पहर शशि वहाँ आ पहुँची। पहले उसने डरते-डरते किवाड़ खटखटाया, किन्तु जब शेखर को देखकर आश्वस्त हो गई कि वह भूल नहीं कर रही है, तब उसने खिलकर कहा, "आखिर मिल ही गया ठिकाना! नीचेवालों में कोई तुम्हारा नाम ही नहीं जानता!"

शेखर ने विनोदपूर्वक कहा, "यह क्यों नहीं पूछा कि घर-घुसना आदमी किस कमरे

में रहता है ? सबको मेरे बारे में यही कौतूहल है कि मैं कमरे में पड़ा-पड़ा करता क्या हूँ।"

"हाँ, तो, बाहर क्यों नहीं निकलते ?"

शेखर ने एक बार शशि की ओर देख भर दिया।

शेखर के बिस्तर का कोना हटाकर चारपाई पर बैठती हुई शशि बोली, "तुम्हारी पुस्तक मैं ले आई हूँ। मैंने सारी पढ़ ली है—जितनी तुम दे गए थे—और यही कहने आई हूँ कि इसे जल्दी पूरा कर डालो।"

"मुझसे तो और कुछ लिखा नहीं गया।"

"क्यों ? इतने दिन क्या किया ?"

"कुछ नहीं। जी नहीं लगता। सोचता हूँ कि यह सब लिख-लिखाकर होगा क्या !"

चिन्तित तीव्रता से, "हूँ ?"

"हाँ, और क्या। लिख चुकूँगा तो छपेगा नहीं। छप जाएगा तो लोग बेवकूफ़ बनाएँगे। बेवकूफ़ बनने में भी सन्तोष हो सकता है—पर किसके लिए ?"

"शेखर, क्या उद्देश्य के लिए कुछ क्लेश भोगने में तृप्ति नहीं मिलती ? मैं तो समझती हूँ कि बहुत बड़ी तृप्ति है। नहीं तो मैं—"

"मिलती है। पर—पता नहीं क्या। कभी मुझे लगता है कि उद्देश्य के रूप में एक नाम—क्रांति—काफ़ी नहीं है। आदर्श वह है, पर तृप्ति आदर्श से ही नहीं मिलती शायद; आदर्श के प्रतीक से मिलती है।"

"सच ?"

"हाँ, मुझे तो यही लगता है।"

"तो तुम चाहते हो कि तुम्हारे आदर्श का कुछ प्रतीक हो, जिसके लिए उद्योग करने में तुम्हें तृप्ति मिले ?"

शेखर ने सोचते हुए कहा, "हाँ।"

"हाँ।" शशि ने उसकी नकल करते हुए कहा, "कह दिया बच्चों की तरह 'हाँ'।" फिर कुछ रुककर, "प्रतीक कैसा, कोई वस्तु या कोई—व्यक्ति ?"

शेखर ने मानो अनसुनी कर दी। अब तक वह खिड़की पर कोहनी टेके हुए खड़ा था; अब वह बाहर की ओर देखने लगा।

शशि उठ खड़ी हुई। जिधर शेखर खड़ा था, उससे दूसरी ओर मुँह फेरकर बोली, "शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ?"

शेखर ने चौंककर कहा, "क्या ?"

"मैंने पूछा है, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ? मैंने नहीं सोचा था कि मुँह से कहना पड़ेगा, पर कहने में भी हर्ज कोई नहीं है।"

शेखर बढ़कर शशि के पास जा खड़ा हुआ। एक क्षण के विकल्प के बाद उसने

कन्धा पकड़कर शशि को अपनी ओर घुमाया, शशि की आँखें उसकी ठोड़ी पर टिकी रहीं, ऊपर नहीं उठीं। शेखर ने कन्धे से हाथ उठाया, फिर अपने स्थान पर जा खड़ा हुआ और बोला, "नहीं, शशि, मैं अनिष्ट हूँ। जो मेरे सम्पर्क में आता है, खण्डित ही होता है। मेरे द्वारा लिखी जानेवाली किसी चीज का महत्व इतना नहीं है कि—"

शशि ने फिर कहा, "मैंने पूछा है, मेरे लिए लिख सकते हो? और सुनो, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से क्लेश पाओगे। पर भीतर से तुम्हें शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बड़ी बात लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक उस शान्ति का ही नहीं, उस क्लेश का भी साक्षी हो सकता है।"

"शशि!"

शशि ने आँखें उठाकर भरपूर दृष्टि से उसकी ओर देखा। अबकी बार शेखर ने आँखें नीची कर लीं—व्यथा के उस अभिमान के आगे उसकी आँख नहीं टिकी।

शशि ने कहा "अच्छा, इससे आगे जो कुछ लिखा है, वह तो मुझे दिखाओ?"

शशि के स्वर से वातावरण बदल गया। शेखर ने कहा, "लिखा कहाँ है? कुछ नोट हैं, वह चाहे तो देख लो।" अलमारी में से कुछ कागज लाकर उसने शशि को दे दिए।

"और ये सब पुलिन्दे क्या हैं?"

"ये सब यों ही हैं, कालेज के दिनों का लिखा हुआ—"

"वह सब भी मुझे पढ़ना है। अब तो अपना लिखा हुआ एक-एक पुर्जा मुझे देना होगा, समझे?"

शशि शेखर के दिए हुए कागज पढ़ने लगी। शेखर ने पूछा, "इन पुस्तकों से यह कमरा अच्छा-अच्छा नहीं लगता?"

शशि पढ़ते-पढ़ते मुस्करा दी।

"ये सब किताबें तुम्हारी पढ़ी हुई हैं?"

शशि ने बिना मुँह उठाए ही कहा, "हूँ—ठहरो मुझे यह पढ़ लेने दो।"

शेखर फिर खिड़की पर जा खड़ा हुआ। बाहर देखते-देखते फिर उसके मन में शशि के प्रति कृतज्ञता जागने लगी—वह बिना बुलाए उसके मन की इच्छा पूरी करने जो यहाँ चली आई है....

"हाँ तो, इसे कब पूरा करोगे?" शशि सब कागज पढ़ चुकी थी।

"देखो।"

"देखो नहीं, पूरा करना पड़ेगा!" शशि हँसने लगी। फिर गम्भीर होकर बोली, "तुमने उन्हें कभी यहाँ क्यों नहीं बुलाया?"

शेखर ने कुछ खिन्न स्वर में कहा, "उस दिन बुलाने ही तो गया था।"

शशि ने कागज अलमारी में रखते हुए कहा, "अच्छा, अब मैं जाती हूँ। अबकी

आओगे, तो उन्हें निमंत्रित करना ही ।" एकाएक आलमारी में दस रुपये पड़े देखकर,
"यह कैसे हैं ?"

"सगुन है ।"

"ये अभी ऐसे ही पड़े हैं ? काम नहीं आए ?"

"इनका तो यहाँ पड़े रहना ही काम है ।" शेखर हँसने लगा ।

"खाते क्या हो ?"

"क्यों ? होटल से खाना आता है, कोई मज़ाक है ?"

"होटल का खाना !" शशि ने खोए-से स्वर में कहा । फिर प्रकृतिस्थ होकर पूछा,
"होटल का नाम भी तो सुनूँ ज़रा ?"

शेखर ने कुछ अकड़कर, आँखें चढ़ाकर, प्रत्येक अक्षर को स्वरित करते हुए कहा, "चितपूरनी देवी प्रेम शुद्ध पवित्तर भोजनालिया'—नाम से ही पेट भर जाता है !" और हँसने लगा ।

शशि ने कृत्रिम रोष से त्योरियाँ संकुचित करके कहा, "मेरे सामने मत ऐसे हँसा करो ! अच्छा, मैं जाती हूँ ।"

वह सीढ़ियाँ उतरने लगी । "चलो नीचे तक पहुँचा आऊँ"—कहकर शेखर भी पीछे-पीछे उतरने लगा ।

●

शशि और रामेश्वर दो-एक बार शेखर के घर हो गए । बैठक के साथवाली कोठरी की अलमारी में एक चाय का सेट और कुछ और बर्तन, छुरी-चाकू, दो-एक डिब्बे, एक बोतल मधु, एक पैकट बिस्कुट का, एक दियासलाई का—यह सब सामान पहुँच गया । बदले में दूसरी अलमारी से सगुन के रुपये गायब हो गए । शेखर ने विशेष कुछ लिखा नहीं; उसकी अलमारी में कागज़ बढ़े तो केवल कुछ-एक चिट्ठियाँ—दो-एक मौसी की, एक गौरा की, एक पिता की, जिसमें एक ओर उसके आवारापन पर रोष था और दूसरी ओर उसके जेल हो आने पर दबा हुआ-सा अभिमान भी; और साथ ही यह सूचना कि उसकी माता बहुत बीमार है और उसे उनसे मिलने तत्काल आना चाहिए; एक छो भाई रविदत्त की, जो उस वर्ष बी० ए० की परीक्षा दे रहा था; एक मद्रास से सदाशि की, जिसने लिखा था कि अगले वर्ष वह डाक्टर हो जाएगा और पूछा था कि शे कहाँ है, क्या कर रहा है । शेखर के जेल जाने की बात का उसे पता लग चुका था...

शेखर को उस घर में आए एक महीना हो चला था । एकाएक उसे याद आ कि अगले मास किराया देना होगा, और होटल का बिल भी चुकाना होगा—और पास तो कुछ है नहीं ! किराया तो कुछ देर बाद भी दिया जा सकता है, क्यों महीने पेशगी देना कोई जरूरी थोड़े ही है; पर होटल का तो महीना पूरा हो चु और वहाँ देर करने से रोटी नहीं मिलेगी....

उसे थोड़ी-सी चिन्ता हुई। फिर उसने सोचा, पुस्तक तो लगभग तय्यार है, किसी प्रकाशक से उसका कुछ-न-कुछ मिल ही सकता है। न सही अधिक, तत्काल का थोड़ा ही सही, पर कुल जमा पच्चीस रुपया महीना तो उसका खर्च है, तो एक साल का खर्च तो पुस्तक निकाल ही देगी....उसे पता नहीं था कि पुस्तक के लिए प्रकाशक कैसे क्या देते हैं, पर एक पुस्तक के तीन सौ रुपये कुछ बहुत अधिक हैं, ऐसा उसे नहीं लगा।

'हमारा समाज'....बिकाऊ है—तीन सौ रुपये में हमारा समाज बिकाऊ है—कोई गाहक? शेखर मन-ही-मन हँसा—कौड़ी मोल का नहीं है हमारा समाज, उसके तीन सौ रुपए!

शेखर ने शहर के दो-तीन मुख्य प्रकाशकों के यहाँ पूछताछ करने की सोची। चार दिन लगातार बैठकर उसने पुस्तक की प्रतिलिपि तय्यार कर ली, और उसे एक बड़े रुमाल में लपेटकर वाणी-निकेतन के मैनेजर से मिलने जा पहुँचा। मैनेजर से अपना अभिप्राय कहकर जब उसने हस्तलिपि उनके आगे रख दी, तब उन्होंने लिपि की बजाय शेखर को ही बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखना आरम्भ किया। थोड़ी देर बाद बोले, "साहब, हमारे यहाँ तो प्रतिष्ठित लेखकों की ही चीज छपती है। आप जानते हैं, हम यहाँ के प्रमुख प्रकाशक हैं, हमें अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखनी है। बिलकुल नए अनजान लेखक का प्रकाशन हम कैसे जिम्मे ले सकते हैं?"

शेखर ने आग्रह करते हुए कहा, "पर आपको चीज की भी तो परख करनी चाहिए। क्या प्रतिष्ठा ही उसकी कसौटी है? बड़े-बड़े लेखक भी तो पहले अनजान ही थे।"

"जी हाँ। पर तब उनकी पुस्तकें हमारे यहाँ से नहीं छपती थीं। हमने तो उन्हें तभी माना, जब उनकी रचनाओं का महत्व स्वीकार कर लिया गया। तब हमने उनको दूसरे प्रकाशकों से अच्छी टर्म्स देकर भी बुला लिया। जिनकी पुस्तकें रह गईं, वे रह गए।"

"पर यह तो दूसरे पत्तल से ग्रास छीनना हुआ फिर—"

"वैसा ही समझ लीजिए। पर बुद्धिमानी इसी का नाम है कि दूसरों की भूलों से अनुभव प्राप्त करे। हम असफल होने या हो सकनेवाले की चीज छापते ही नहीं।"

सरस्वती-कुंज के मैनेजर ने शेखर को अपने साहित्यिक सलाहकार के पास भेज दिया। जब शहर की एक गली में उनके घर का पता लगाकर शेखर वहाँ पहुँचा, तो उन्होंने शीर्षक देखकर पूछा, "क्या उपन्यास है?"

"जी नहीं। विवेचनात्मक निबन्ध है। मैंने समाज की वर्तमान अवस्था का चित्रण करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि—"

"तो आपने कुछ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है? पर साहब, पहले तो निबन्ध कोई पढ़ता नहीं। दूसरे ऐसा निबन्ध, जिसमें तर्क ही तर्क हो! आप साहित्यिक निबन्ध क्यों नहीं लिखते?"

"कैसा?"

"सैकड़ों विषय हैं। मसलन्—मसलन् 'छायावादी काव्य में नारी की कल्पना', या 'स्त्री-कवियों का नारी-रूप-वर्णन' या 'संस्कृत और हिन्दी काव्य में नायिका-भेद'। यह विषय तो आधुनिक भी रहेगा—आजकल तो तुलनात्मक अध्ययन का जमाना ही है।"

शेखर ने पूछा, "ऐसे निवन्ध कोई पढ़ता है?"

"वैसे तो नहीं पढ़ता, पर ऐसे साहित्यिक निवन्ध पाठ्य-पुस्तकों में रखे जा सकते हैं। तव किताव निकल भी जाती है।"

शेखर क्षणभर चुप रहा। सलाहकार फिर बोले, "आपको शायद मेरी सलाह अच्छी नहीं लगी; मैं तो आप ही के हित के लिए कहता हूँ—"

शेखर ने अनमने भाव से उत्तर दिया, "नहीं, आपकी सलाह के लिए आभारी हूँ। पर मुझे तो दिलचस्पी समाज और सामाजिक समस्याओं में है—"

"अच्छा, तो वैसा विषय चुन लीजिए—'रहस्यवादी काव्य का प्रियतम पुरुष होता था या स्त्री?' इधर एक मत चल रहा है कि रहस्यवादी कवियों का प्रेम-निवेदन किसी शरीरी व्यक्ति के प्रति ही होता था—फ़ारसी कविता के वारे में तो यह बात मानी हुई ही है कि उसका साक़ी या माशूक़ काल्पनिक नहीं होता था; पर नया मत कहता है कि यह साक़ी या माशूक़ न पुरुष होता था न स्त्री, वल्कि नपुंसक होता था। इस अध्ययन में आपको मध्ययुगीन समाज के भी अध्ययन का अच्छा अवसर मिलेगा। मेरी समझ में तो यह बड़े मौक़े का विषय है।"

शेखर चुप हो रहा। थोड़ी देर बाद बोला, "तो इस पुस्तक को आप प्रकाशन के लायक नहीं समझते?"

"नहीं, नहीं; यह मैं कव कहता हूँ। प्रकाशन के लायक तो सब कुछ है। पर प्रकाशित होता है वही जो खप सके, नहीं तो जोखम कौन उठाए? पर मैंने तो सरस्वती-कुंजवालों को सदा यही राय दी है कि नये प्रतिभावान् लेखकों को प्रोत्साहन देना ही चाहिए—चाहे उसमें थोड़ा-सा जोखम भी हो हीं, नहीं तो नया साहित्य वनेगा कैसे? और मेरी बात वे मानते भी हैं।"

शेखर के मन में आशा का संचार हुआ। वोला, "तो आप इसे पढ़ देखेंगे? मैं चाहता हूँ कि ज़रा जल्दी ही—"

"आप मैनेजर से मिलिए। मैं उन्हें यही सलाह दूँगा कि वे आपके खर्च पर पुस्तक छाप दें, और जहाँ तक हो सके जल्दी ही। नए लेखक को मौका मिलना चाहिए—प्रकाशक का यह कर्त्तव्य है।"

शेखर फिर हताश हो गया। उसने धीरे-धीरे वस्ता लपेटा और नमस्कार करके चल पड़ा।

शेखर ने दूसरी कोटि के प्रकाशकों के यहाँ भी चक्कर लगा डाला, फिर उसने एक विक्रेता के यहाँ से प्रकाशकों की पूरी सूची ले ली और जितने बच रहे थे, उन सबको एक सिरे से देखना शुरू किया।

एक सप्ताह हो गया। अन्त में 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' के संचालक ने उसकी पुस्तक इस शर्त पर छापना स्वीकार किया कि छपाई और कागज के दाम शेखर के जिम्मे रहेंगे, पर उसे नकद कुछ नहीं देना पड़ेगा; प्रकाशक पुस्तक छापकर और बेचकर पहले लागत वसूल कर लेगा, उसके बाद जो बिक्री होगी, उसमें चौथा अंश शेखर का होगा। दस दिन भटकने के बाद शेखर में इतना धीरज नहीं रहा था कि बैठकर हिसाब लगाए कि इसमें उसे मिला क्या और कब तक; उसने यही बड़ी कृपा समझी कि प्रकाशक उससे कुछ मांग नहीं रहा है....वह यह भी भूल गया कि वह पुस्तक बेचने इसलिए निकला था कि उसे बिल चुकाना होगा—जिसका तकाजा शुरू भी हो गया था।

उस दिन शेखर बस्ता लेकर नहीं निकला था। उसे आशा ही नहीं थी कि उसकी आवश्यकता पड़ेगी! अतः संचालक से तीसरे दिन आने का वायदा करके—दो दिन का अवकाश उसने केवल इसलिए रखा कि प्रकाशक यह न समझे कि वह बहुत उतावला है!—वह घर लौट आया।

आकर वह क्लान्त शरीर और उदास मन लिये बिस्तर पर लेट गया। क्षीण-सा विचार उसके मन में आया कि जाकर शशि को यह सूचना दे आवे, पर उत्साह नहीं हुआ। और अभी खबर भी क्या है? निर्निमेष नेत्रों से वह छत की ओर देख रहा था, एकाएक उसे लगा कि छत इतने दिनों से वैसी-की-वैसी है कि देखकर ऊब आती है। उसने मुंह खिड़की की ओर फेर लिया।

न जाने पुस्तक कब छपेगी, कैसा उसका स्वागत होगा....उससे कुछ आएगा? कब? लागत कितनी होगी? शायद दो सौ रुपये का कागज लगेगा। सौ-डेढ़ सौ ऊपर। पुस्तक की कीमत अगर एक रुपया होगी तो....शेखर ने हिसाब लगाना छोड़ दिया। 'हमारा समाज'--मूल्य एक रुपया। और मैं उसमें लागत काटकर चौथाई का हिस्सेदार हूं!....शेखर के मुंह पर एक रूखी और म्लान हंसी की रेखा दौड़ गई....न जाने कब वह सो गया।

जब वह जागा, तब घोर अन्धकार था। रात आधी जा चुकी थी, और ग्वालमण्डी के चौक पर भी सन्नाटा हो रहा था। शेखर का शरीर दिसम्बर के जाड़े से ठिठुर गया था ....भूख भी उसे लग रही थी। इस महीने के आरम्भ से ही उसने होटल से एक ही समय भोजन मंगाने का तय कर लिया था। होटलवाले से भी उसने कह दिया था कि शाम को वह स्वयं बना लिया करेगा....एक दिन वह चावल-दाल और आटा ले भी आया था, और उस दिन शाम को उसने स्वयं खिचड़ी बनाकर खाई भी थी।

क्या इस समय वह खाना बनाए? इतनी भूख तो उसे नहीं है। नहीं, भूख तो है, पर भूख को इतना महत्व देना ठीक नहीं है। उसने बिस्तर ठीक-ठाक किया और कम्बल ओढ़कर सोने का प्रयत्न करने लगा। पर वह इतना ठिठुर चुका था कि अब भी शरीर को गर्मी न आई। तब वह उठकर शरीर गर्म करने के लिए जल्दी-जल्दी टहलने लगा।

एकाएक अपने सब प्रयासों की विफलता का भाव, जिसे उसने शशि का बात के बा

से दबा रखा था, उसके भीतर बड़े वेग से उमड़ आया। अपने प्रयासों की ही नहीं, प्रयासमात्र की विफलता का....जीवन की इस बुदबुदाती दलदल में हाथ-पैर पटकने का लाभ क्या—उसमें धँसना वैसे भी है, वैसे भी है....पुस्तक लिखूँगा—पुस्तक, हुँः! जैसे आज तक किसी ने पुस्तक लिखी नहीं। जैसे आज तक किसी ने समाज बदलने का उद्योग नही किया। जैसे—

शेखर और भी तेज चलने लगा। क्या इस होने और बीत जाने के घातक अनुक्रम से कोई छुटकारा नहीं है? क्या इससे बाहर नहीं निकला जा सकता?

उसके मानसिक उद्वेग के गर्त में से बुलबुले की तरह उठकर एक विचार ऊपर आया—उसने अभी तक कोई ऐसी गहरी अनुभूति नहीं जानी है, जिसके प्रति वह अपने पूर्णतया उत्सर्ग कर दे—एक क्षण भी ऐसा नहीं आया है, जब कि शेखर के मन से यह ज्ञान बिलकुल मिट गया हो कि वह शेखर है। क्या इसमें समय का ही दोष है? उसका दोष कुछ नहीं है? क्या उसी ने नहीं सूम की तरह अपने को सहेज-सहेजकर रखा, जब कि बात करने को वह सारे संसार को उलट-पलट देने का स्वप्न देखा करता है! और तो और उसके जीवन में कितनी कन्याएँ आई हैं, उनमें भी किसी से उसकी सच्ची घनिष्ठता नहीं हो सकी। उसने स्वयं जीने से इनकार किया है! उससे तो मणिका की जीवन परिपाटी कहीं अच्छी थी—उसमें थी वह साहसिकता जो जीवन को मिट्टी की तरह फेंक सकती है! 'मेरे जीवन की मोमबत्ती दोनों ओर से जल रही है! वह रात भर नहीं जलेगी, पर मेरे बन्धुओ और मेरे शत्रुओ, उसकी दीप्ति कितनी सुन्दर है!' है उसमें भी यह सामर्थ्य कि ऐसी दीप्ति से नभ को आलोकित करे? मणिका ने मार्ग ठीक नहीं चुना, पर असल चीज़ तो उसमें थी, जीवन की आग, जिसे देवता मानव से छिपा-छिपा कर रखते हैं....

उसे एक और वाक्य याद आया, जो मणिका की दी हुई एक पुस्तक में उसने पढ़ा था—'संयम क्या है? तीव्र वासना की अक्षमता!' फिर उसे याद आई एक पठान की कहानी, जो उसने न जाने कहाँ सुनी थी, शायद जेल में; एक पठान को कोई मौलवी समझा रहा था कि आदमी को अफ़ीफ़ (संयमी) होना चाहिए, पर यह शब्द पठान की समझ मे नहीं आता था। मौलवी समझाने लगा कि संयमी वह होता है, जो नज़र नीची रखता है, औरतों के पीछे-पीछे नहीं जाता, स्त्री को—एकाएक पठान ने टोककर कहा, 'ओ, अम समज गया—अमारा जोवान में उसको खुसरा बोलता ए!'

शेखर रुक गया। उसे लगा कि उसके विचार जिस धारा में बहे जा रहे हैं, उसमें कोई दोष अवश्य है। जैसा नव विचारों में सच्चाई का कुछ अंश है, किन्तु पूरा सच नहीं है। कदापि नहीं है। क्योंकि, उसकी परिस्थितियों ने उसे जीने की इतनी अधिक सुविधाएँ कब दीं, कौन-से ऐसे बड़े अवसर आए, जो उसने हाथ से चले जाने दिए? कोई असाधारण बाधाएँ उसके मार्ग में न भी आई हों, तो भी कोई....औरों के जीवन भी बाधा और सुविधा के इसी तरह के घोल होते हैं....

तब क्या इतनी ही बात है कि वह भूखा है ? क्या यहाँ सारा विद्रोह प्रतृप्त वासना का घटाटोप है ? क्या यह वासना बढ़ती जाएगी और फिर एक विस्फोट होगा और बस फिस्स् ?

तब तो यह सब—हिस्टीरिया है !

उसने अनुभव किया कि उसकी प्राणशक्ति अन्तर्मुख हो रही है और क्रमशः उसी को भस्म कर जाएगी अगर किसी गहरे आन्दोलन ने फिर बहिर्मुखी न कर दिया....और यह होना ही चाहिए, क्योंकि बहिर्मुख शक्ति ही क्रान्ति कर सकती है, अन्तर्मुखी नहीं। अन्तर्मुख होकर वह एक विशेष प्रकार का कवि चाहे हो जाए; जो वह होना चाहता है, जो वह करना चाहता है, वह सब धूल हो जाएगा....

शेखर बिस्तर पर बैठ गया, उसने कम्बल ओढ़ लिया। अस्पष्ट रूप से उसने चाहा कि वह निरा लिखना नहीं, कुछ और भी काम करे, जिससे वह लोगों के सम्पर्क में आए, पर क्या और कैसे, वह नहीं सोच पाया। फिर मन ही मन तय करके कि शशि से सलाह लेगा, वह लेट गया।

दिन के प्रकाश के साथ ही तार आया कि शेखर की माँ का देहान्त हो गया है।

शेखर एक अजीब-सी शिथिलता का अनुभव करता हुआ उठा था। तार पढ़ने के बाद भी जैसे वह दूर नहीं हुई; उसकी कुछ समझ में नहीं आया कि उसने अभी-अभी क्या पढ़ा है। तार रखकर, ब्रुश और तौलिया लेकर वह नल पर गया और मुँह-हाथ धोकर भीतर आया; आकर उसने अलमारी में से कागज़ निकाले; उसके बाद ही एकाएक तार के चार शब्दों का आशय बिजली की तरह उसके मन में कौंध गया—माँ अब नहीं हैं !

उसके मन में एक विचित्र प्रकार की वेदना उठी, जो दुःख से भिन्न थी। दुःख का अनुभव उसे नहीं हुआ, और उसे अपने-आप पर थोड़ी-सी ग्लानि भी इस कारण हुई.... वह चाहता था कि वह एक बार रो दे—सीधे-सादे मातृहीन मानव की तरह सरल भाव से रो दे ! पर उसकी आँखें मानो और भी सूख रही थीं, एक जलन-सी उनमें हो रही थी।

वह शून्य भाव से कागज़ों की ओर देखता हुआ बहुत देर तक बैठा रहा। धीरे-धीरे अपने बाल्यकाल की बहुत-सी स्मृतियाँ उसके मन के आगे होती हुई जाने लगीं—किन्तु उन स्मृतियों में जैसे राग-तत्व बिलकुल नहीं था, शेखर की रागात्मक वृत्ति जैसे मूर्च्छित हो गई थी, केवल दृष्टि काम कर रही थी। देर बाद उसने जाना कि ये चित्र घूम-फिरकर फिर एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो जाते हैं—कि शेखर भोजन कर रहा है, और साथ के कमरे से माँ का स्वर कहता है, मुझे तो इसका भी विश्वास नहीं है ? किन्तु चित्र के साथ भी उस असह्य रोष का कोई अवशेष नहीं था, जो पहले इसके साथ गुँथा हुआ था....क्यों ? क्या उसने माँ को क्षमा कर दिया था ? उसे याद नहीं कि कभी वह जानते-बूझते इस परिणाम पर पहुँचा हो। शायद अनजाने में उसने

लिया था कि यों रोष को सहेजकर रखना मूर्खता है, या शायद अभी-अभी उसके मन ने निश्चय कर लिया था कि जो अब नहीं है, उसके प्रति कोई बुरी भावना रखना पाप है। उसने माँ के चेहरे की कल्पना करने का उद्योग किया; प्रायः वह इसमें सफल नहीं होता था, पर आज वह स्पष्ट ही उसे देख सका—वह चेहरा सुन्दर नहीं था, किन्तु आज उस पर वैसी रेखाएँ नहीं थीं, जो शेखर प्रायः देखा करता था; पर जो वह जानता था हर समय नहीं होतीं—चेहरा शान्त था, और ऐसा कुछ उसमें नहीं था, जिसका मातृत्व के साथ कोई विपर्यय हो....माताओं के अपने-अपने चेहरे होते हैं, पर मातृत्व का अपना एक विशेष चेहरा है—या होना चाहिए....

किन्तु शेखर रो क्यों नहीं सकता ?

अपने से यह प्रश्न पूछते ही उसका मन फिर शून्य हो गया। थोड़ी देर बाद एका-एक वह उठा कि और कुछ नहीं तो साधारण दिन-क्रम के काम ही वह करेगा। उसने कमरे की सफ़ाई की; बर्तन धोकर रखे; बिस्तर ठीक किया। फिर एक बार उसने अपने कमरे की सूनी दीवारों की ओर देखा। किसी दीवार पर कहीं कोई चित्र होता—फ़ोटो टाँगना उसे बहुत बुरा लगता है, पर इस समय अगर माँ का फ़ोटो ही उसके पास होता, तो शायद उसी को दीवार पर टाँगकर वह यत्न करता कि उस चेहरे से नया परिचय प्राप्त करे, जो इतना अपरिचित हो गया था....

अचानक उसे शान्ति की याद आई—उस मुद्रा में, जिसमें वह रोज़ेटी के चित्र-सी लगती थी—'मृत्यु का विराटत्व'....क्या मृत्यु विराट् ही होती है....और अब माँ भी नहीं है—

उसे वह कविता भी याद आई, जो शान्ति ने उससे सुनी थी; पर उसमें इस समय कोई विशेष सार्थकता उसे नहीं दीखी, उससे उसका मन टेनिसन की ही एक दूसरी कविता की ओर गया—'गोधूली, और साँझ की घंटाध्वनि और मेरे लिए एक स्पष्ट आह्वान; उस समय विदाई का अवसाद न हो जब मैं लंगर उठा कर खुले समुद्र की ओर चल दूँ'....कहते हैं कि यह टेनिसन की अन्तिम कविता थी, बयासी साल की आयु में लिखी हुई....

अपराह्न में न जाने क्यों शेखर उठकर रावी-तट की ओर चला। उसने श्मशान कभी देखा नहीं था, और उसे ध्यान हुआ कि मृत्यु की यथार्थता शायद एक देह का अन्तिम संस्कार देखे बिना समझ में भी नहीं आ सकती।

श्मशान में दो-तीन चिताएँ जल रही थीं। उन्हें जलते समय हो गया था, चिता के भीतर देह का आकार नहीं पहचाना जाता था और न वहाँ कोई व्यक्ति ही थे। शेखर अकेला ही था अगर कुछ-एक कुत्तों का साथ न गिना जाए....

किन्तु विराट् तत्व ? शेखर को लगा कि यह दृश्य लगभग उपहासास्पद है—कैसा बेहूदा अन्त ! उसका विश्वास था कि आग किसी भी चीज़ को एक शालीनता और भव्यता प्रदान करती है; पर यहाँ तो वह भी नहीं था, यहाँ के वातावरण से तो उलटे

भाग ही टुच्ची हो गई थी। एक कटु भावना लेकर शेखर ने सोचा कि शायद इस टुच्चे स्थान के साथ अपने बुजुर्गों का नाता जोड़कर लोग उनके विद्रोह को आसान बना लेते होंगे....

पर लौटते समय उसे शाम हो गई। आकर उसने देखा, लालटेन में तेल नहीं है। ऐसे ही मौके के लिए उसने दो-चार मोमबत्तियाँ ला रखी थी; दो एक-साथ जलाकर उसने आले में रख दी और चारपाई पर बैठ गया।

एकाएक मोमबत्तियों की लौ बुझ-सी चली, और सब तिड़-तिड़-तिड़ के स्वर के साथ दीप्त हो उठी। शेखर ने देखा, एक तितली से भी बड़ा पतंगा, जो नित्य लालटेन के आसपास चक्कर काटा करता था, मोमबत्तियों की लौ से टकराकर जल गया है।

एकाएक जीवन निरे अस्तित्व के रूप में उसके सामने आया; अस्तित्व, जो निरी एक घटना है....आज भी लालटेन होती तो पतंगा चक्कर काटता रहता एक तेल न होने की घटना से—'तिड़-तिड़-तिड़'—और निर्वाण !

सबेरे के तार का आशय फिर उसके सामने दौड़ गया। माँ अब नहीं है !

शेखर उठकर आले के नीचे घुटने टेककर मानो प्रार्थना की मुद्रा में बैठ गया; सिर आले पर टेककर एकाएक रो उठा, पहले निरश्रु, पर पिंजर को हिला देनेवाले रोदन के साथ, फिर धीरे-धीरे आर्द्र होकर....

जब उसके पीछे एकाएक शशि का पीड़ित स्वर बोला, "शेखर ?" तब अभी उसका रोना बन्द नहीं हुआ था। चौंककर उसने सिर उठाया, शशि ने धीरे से कहा, "तो तुम्हें सूचना मिल गई—" उसने सिर हिला दिया। फिर उँगली से आँसू झटक डाले और उठकर खड़ा हो गया। शशि के पास आकर उसके कन्धों पर हाथ रखे, और कोमल दबाव से उसे नीचे दबाते हुए चारपाई पर बिठा दिया। फिर भी वह हटी नहीं, एक हाथ से बहुत हलके और सान्त्वना भरे स्पर्श से उसका कन्धा सहलाती रही।

शेखर को लगा कि ऐसे तो उसकी रोने की शर्म गल जाएगी और वह फिर रो उठेगा। बोला, "मैं कुछ देर अकेला रहूँगा—"

"तो मैं अभी जाऊँ—"

"नहीं तुम बैठो, मैं अभी आया।" और शशि को बिना कुछ कहने का समय दिये वह बाहर निकल गया।

लगभग एक घण्टे बाद वह लौटा। शशि चारपाई के कोने पर चिन्तित बैठी थी। शेखर के आ जाने पर उसने कहा, "अब मैं लौटूँ—देर हो गई है। मुझे अभी शाम को खबर मिली, तभी तुम्हें देखने चली आई। धीरज से सहना भइया मेरे ! कल मैं फिर आऊँगी।"

शशि चली गई तो शेखर कुछ क्षण सीढ़ियों की ओर ही देखता रहा....फिर उसने देखा कि छोटी कोठरी में भी प्रकाश है। वह देखने गया। एक मोमबत्ती बड़े कमरे से उठाकर उधर ले जाई गई थी। अचम्भे में शेखर ने देखा, एक ढँकी हुई थाल रखी है।

शेखर की अनुपस्थिति में शशि बेसन की परांवठे बनाकर साथ में थोड़ा-थोड़ा अचार और मधु रख गई थी—और तो घर में था क्या !

शेखर की इच्छा कुछ खाने की नहीं थी। पर यह थाली देखकर उसे लगा कि निर्णय के बारे में वह स्वतन्त्र नहीं है।

○

शशि एक बार फिर आयी, और दो दिन बाद रामेश्वर के साथ एक बार और। उस दिन से क्रिसमस की छुट्टियाँ शुरू हो रही थीं, और रामेश्वर और शशि बाहर जा रहे थे। रामेश्वर ने अकारण ही कहा, "मैं तो कहता हूँ, आप यहीं रह जाइए, पर ये मानती नहीं। मैंने तो सोचा था कि इनके यहाँ रहने से आपका भी जी बहल जाएगा—दुःख में अकेले रहने से तो और कष्ट होता है।"

शेखर ने कहा, "जी नहीं, कोई बात नहीं, मैं तो अकेले ही रहने का आदी हूँ।"

चलते समय शशि ने कहा, "तुम एक बार घर हो आते तो अच्छा था। पिताजी से मिल आना चाहिए।"

शेखर दुविधा-सी में चुप रह गया।

सप्ताह भर बाद पिता की चिट्ठी आई कि वे स्वयं आ रहे हैं। हरिद्वार जाएँगे, वहाँ से लौटते हुए लाहौर होते जाएँगे। चौथे दिन वह आ भी गए। शेखर उन्हें स्टेशन लिवाने गया; पिता के चेहरे पर थकान, उदासी और दुःख की गहरी रेखाएँ देखकर वह स्तब्ध रह गया। इससे पहले उसने कल्पना नहीं की थी कि वह प्रौढ़ गरिमायुक्त चेहरा कभी बूढ़ा भी हो जाएगा, पर इस समय चेहरे पर और आँखों में वह क्लान्ति स्पष्ट थी, काल के दुर्गम पथ पर वत्सर-रूपी कई मील चल आने के बाद धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है।

सीढ़ियों पर एक बार कहकर कि 'कहाँ जाके मकान लिया है !' पिता उसके पीछे-पीछे उसके कमरे में आ गए। सामान एक ओर रख-रखाकर ताँगेवाले को विदा कर दिया गया; उसके बाद पिता ने पूछा, "यहीं रहते हो ?"

प्रश्न अनावश्यक था, पर उसमें जो असम्मति ध्वनित होती थी, वही प्रकट करने के लिए यह बात कही गई थी। शेखर ने कहा, "जी।"

"नौकर है ?"

"जी नहीं।"

"खाना-पीना कैसे होता है ?"

"एक वक्त होटल से आ जाता है।"

"और दूसरे वक्त ?"

शेखर चुप रहा।

पिता ने कुछ सोचते हुए-से स्वर में कहा, "अपने-आप ही करते होगे कुछ टीप-टाप—"

प्रश्न के इस रूप में गुंजाइश थी कि उत्तर दिए बिना काम चल जाए ? शेखर झूठ बोलना भी नहीं चाहता था, और सच बताना भी नहीं चाहता था।

"और सफ़ाई-उफ़ाई—बर्तन ?"

"ज़रा-सी तो जगह है, सफ़ाई में क्या देर लगती है ?"

थोड़ी देर के मौन के बाद पिता ने फिर कहा, "ऐसे रहकर तुम्हें शर्म नहीं आती ?" उनके स्वर में क्रोध उतना नहीं था, जितना आहत अभिमान।

शेखर फिर चुप लगा गया।

पिता कमरे में टहलने लगे। शेखर आवश्यक प्रबन्ध के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करने लगा। कोठरी का सामान बाहर रखा, एक पड़ोसी से थोड़ी देर के लिए बालटी माँगकर पानी भरकर कोठरी में रख दिया। पिता का अटैची-केस भी वहीं आले में रख दिया, तौलिया और धोती खिड़की पर टाँग दी। पिता ने एक बार कहा, 'रहने दो, मैं आप ही कर लूँगा', पर जब वह अपना काम करता ही रहा, तब चुपचाप उसे देखते रहे।

पिता जब नहाने जाने लगे, तब शेखर ने कहा, "मैं ज़रा होटल तक हो आऊँ—"

"अच्छा। और बाज़ार से मेरी दवा भी लेते आना।"

पिता ने नाम बताकर दस-दस के दो नोट शेखर को दे दिए, तो उसने विस्मय से पूछा, "कितने की आती है ?"

"जितने की हो। और एक डिब्बा बिस्कुट का भी ले आना—शाम को चाय के साथ कुछ—निरी चाय तो अच्छी नहीं लगती है।"

शेखर ने जब दवा ली और उसका कुल एक रुपये कुछ आने का बिल चुकाया, तब उसे सन्देह हुआ कि बीस रुपये देने का कारण कुछ और था। जब वह लौटा, तो पिता स्नानादि करके पाकेटबुक में कुछ लिख रहे थे। शेखर ने दवा उनके सामने रख दी और जेब में से शेष रुपये निकालने लगा।

पिता ने कहा, "रहने दो अभी—और भी तो कुछ मँगाना होगा—" तब शेखर का सन्देह पक्का हो गया।

थोड़ी देर बाद खाना आ गया। रोज़ तो लड़का खाना छोड़कर चला जाता था और फिर किसी समय बर्तन उठा ले जाता था। आज शेखर ने उसे काम के लिए रोक लिया।

पिता ने एक बार थाली के प्रत्येक व्यंजन को ध्यान से देखा, उसके बाद पाँच-सात कौर खाए और अनमने-से होकर हाथ खींच लिया।

ऐसी बात शेखर से कभी होती नहीं थी, बल्कि औरों के मुँह से सुनकर भी उसे विचित्र लगती थी, पर आज कुछ तो उसके मन में उत्तरदायित्व की भावना थी,

कुछ वह यह भी अनुभव कर रहा था कि पिता का पहले-सा आतंक उस पर नहीं है; उसने साहस करके कहा, "आपने तो कुछ खाया नहीं—"

पिता ने असाधारण स्वर में उत्तर दिया, "अब क्या खाना—मेरा खाना-पीना तो उसी के साथ गया—" और एकाएक उठ खड़े हुए। शेखर चुपका-सा हो गया, उसने भी थाली सरका दी और लड़के को इशारा किया कि हाथ धुला दे....

अगले तीन-एक दिनों में कोई विशेष घटना नहीं हुई, केवल एक बार फिर कुछ चीज लाने के लिए पिता ने शेखर को कहा और फिर दस का एक नोट देने लगे। शेखर ने कहा, "अभी तो मेरे पास है—" तो कहा "तो यह भी उसी में जोड़ लेना—"

किन्तु तीन दिन में पिता की और उसकी बातें कई बार हुईं; बीच-बीच में अचानक कोई प्रसंग आता कि पिता को शेखर की माता की याद आ जाती और वातावरण में एक बोझिल और विपन्न क्लान्ति छा जाती; किन्तु थोड़ी देर बाद फिर सिलसिला आगे चल पड़ता। पिता से शेखर की बातचीत पहले बहुत कम होती थी, होती भी थी तो प्रायः एक ही पक्ष से, पर अब शेखर पिता में भी कुछ थोड़ा-सा परिवर्त्तन देख रहा था, और अपने में भी एक बराबरी का भाव पा रहा था, और इसके कारण बातचीत में बात और चीत का अनुपात लगभग बराबर का ही था, यद्यपि उसका प्रवाह अब भी एक-सा नहीं होता था; बात अकस्मात् ही बीचोंबीच में शुरू हो जाती थी और अचानक अधर में ही समाप्त....

"ऐसे कब तक रहोगे ?"

"..........."

"कुछ करो-धरोगे नहीं ? होटल की रोटियाँ तोड़-तोड़कर बनेगा क्या ? यह कोई ढंग है रहने का ?"

"कर तो रहा हूँ। बल्कि इतनी मेहनत तो मैंने पहले कभी नहीं की—"

अविश्वासपूर्वक—"करते होगे; पर बिना उद्देश्य के मेहनत किस काम की ? निरी मेहनत से कुछ थोड़े ही होता है ? जीवन का एक प्लान् चाहिए, जिसके अनुसार मेहनत हो। सबसे पहले रहन-सहन व्यवस्थित होना चाहिए—यह क्या साँसियों की तरह एक पोटली फैलाकर बैठ गए !"

"उद्देश्य तो मैंने अपने सामने रखा है। वह आपको पसन्द न आए, यह दूसरी बात है; पर मैं मेहनत तो उद्देश्य से ही कर रहा हूँ।"

"क्या उद्देश्य ? पढ़ाई तो तुमने छोड़ दी है। आगे क्यों नहीं पढ़ते ? कम-से-कम एम० ए० तो कर लो। मेहनत करो तो बड़ी अच्छी तरह पास हो सकते हो—स्कालरशिप भी मिल जाएगी। फिर यहाँ न पढ़ना चाहो, विलायत चले जाना।"

"पढ़ाई में तो अब रुचि नहीं है। एम० ए० करके भी क्या होगा—आज तो एम० ए० पासों की भरमार हो रही है, और सब नालायक भी नहीं हैं। मुझमें ही ऐसी कौन-सी बात है कि—"

"न सही एम० ए०, कोई और लाइन ले लो। वह बैरिस्टर और इंजीनियर बनने की सब बातें हो थीं ? ये लोग तो लोक-सेवा भी कर सकते हैं—या फिर एजुकेशनल लाइन ले सकते हो अगर सेवा करने की धुन है। कोई बुरी बात थोड़े ही है सेवा—"

"अब मैं समझ गया हूं कि उन बातों में दूसरों के आदर्श बोलते थे, मेरे नहीं। और जिस काम में जी नहीं है, उसमें मेहनत करके मेहनत भी नष्ट ही होगी।"

"तो आखिर तुम्हारा कुछ तो विचार होगा—"

"मैंने तो साहित्य का क्षेत्र चुना है।"

"चुना है ! साहित्य से क्या होगा ? साहित्य के सहारे जीवन थोड़े ही चलता है ? और फिर साहित्य तो दूसरे कामों के साथ-साथ भी हो सकता है। क्या डाक्टर और वकील और प्रोफ़ेसर लेखक नहीं हो सकते ? हिन्दी में तो जिस लेखक का नाम देखता हूं, साथ में प्रोफ़ेसर लिखा होता है। ये लोग आखिर कुछ पढ़ाते ही होंगे न कहीं। अच्छा है, सेवा भी है, जीवन में निश्चिन्तता भी है, और साहित्य भी है। बात हुई न। और—"

"पर सब लेखक ऐसे तो नहीं होते। जो अच्छे-अच्छे साहित्यकार हुए हैं, वे तो—"

"उनकी बात और है। हर कोई शेली और कीट्स थोड़े ही होता है। और कालिदास ने क्या दरबार में अपनी ड्यूटी नहीं भुगताई होगी ? या फिर कोई सूरदास या तुलसीदास जैसा सन्त हो—वह तो असाधारण आदमियों की बात हुई, हर कोई थोड़े ही उनके मार्ग पर चल सकता है।"

"देखिए, या तो मुझमें कुछ प्रतिभा है, या नहीं है। अगर नहीं है, तो आप यह क्यों समझते हैं कि मैं ही एम० ए० करके दूसरे एम० ए० पास बेकारों से अच्छा हो जाऊंगा ? और अगर है तो क्या पता, मैं साहित्य-क्षेत्र में भी कुछ कर ही सकूं—"

"हूं, दलीलें छांटता है !"

बात ठप हो गई।

इसके काफ़ी देर बाद, एकाएक, "लिखोगे किसमें, हिन्दी में ?"

"जी।"

"हूं; हिन्दी में क्या रखा है ? अंग्रेज़ी में लिखकर तो कुछ प्रतिष्ठा भी बनेगी। अच्छी आमदनी न हो, तो कम-से-कम प्रतिष्ठा से ही आदमी सन्तोष कर लेता है। हिन्दी से क्या मिलेगा ?"

"पर लिखने का कुछ उद्देश्य तो होना चाहिए। निरी प्रतिष्ठा के लिए थोड़े ही लिखना होता है ? अंग्रेज़ी की पुस्तक तो इने गिने ही पढ़ेंगे—हिन्दी तो करोड़ों—" (फिर एकाएक याद करके कि हिन्दी-भाषी करोड़ों हों भी, पाठक तो बहुत कम होंगे !) "या कम-से-कम लाखों पढ़ सकते हैं।"

"पर पाठक किस श्रेणी के ? हमारे जीवन में हिन्दी की हैसियत ही क्या ?"

शेखर ने कुछ अभिमान के साथ कहा, "हिन्दी जन-भाषा है। करोड़ों व्यक्तियों के प्राण इसमें बोले हैं।" फिर यह सोचकर कि ऐसी दलील पिता को रुच सकती है, जान-बूझकर शरारत की भावना से (यद्यपि ऐसा नहीं था कि इस युक्ति में उसे विश्वास बिलकुल न हो) "और हमारी जाति की परम्परा इसमें बोलती है—हमारा सारा अतीत इसमें बँधा हुआ है !"

"होगा। पर जिससे आदमी का भविष्य न बने, उसके अतीत को लेकर क्या करें, चाटें ?"

"मुझे तो भविष्य दीखता ही हिन्दी में है—अगर हिन्दी हम सबसे छूट गई तो भविष्य हुआ न हुआ बराबर है।"

"तुम्हें तो दीखेगा ही—हर बात में मेरा खण्डन जो करना हुआ। तुम्हारी माता तुम्हें बहुत याद करती रहीं। पर तुम ऐसे नालायक निकले कि आए ही नहीं। माता-पिता बुरे ही सही, तब भी ऐसे कोई करता है ?"

शेखर चुप।

"और वह तो बिचारी अन्त तक तुम्हारी बात सोचती रही। उसने निश्चय किया था कि तुम जेल से लौटोगे तो तुम्हारा व्याह कर देगी। तुम्हारे लिए बहू भी देख रही थी।"

तीर की तरह शेखर के मन में स्मृति चुभ गई, "अबकी बार वह लौटकर आए तो उसकी शादी कर दो।" बड़ा भाई ईश्वरदत्त जब घर से भागा था, तब उसके लिए माँ ने यह प्रस्ताव किया था....एकाएक उसे लगा कि उसका सारा उद्योग—मानसिक और शारीरिक—जीवन के मानचित्र में ही एक ठीक जगह बैठा दिया गया है, जो सदा से वैसे उद्योगों के लिए निश्चित है—कि अबकी बार वह लौटकर आए तो शादी कर दो ! जैसे उसके सब विचार एक परिचित रोग हैं, जिसका स्पष्ट उपचार है—अमुक नम्बर का मिक्शचर ! शेखर ने उत्तर देना चाहा 'सब भाइयों के लिए एक ही नुस्खा होगा ?' पर फिर संयत-भाव से बोला, "मेरा क्यों ? मैं तो व्याह करना नहीं चाहता। और अभी तो बड़े भाई हैं।"

"तुम्हारे चाहने का क्या है ? लड़कों के चाहने से थोड़े ही व्याह होते हैं। यह तो सामाजिक कर्त्तव्य है। लड़का, कन्या, माता-पिता, बिरादरी, सभी उसमें होते हैं। हाँ, यह बात ठीक है कि पहले बड़े भाइयों का होना चाहिए। पर ईश्वर की सगाई हो ही गई है, प्रभु की भी हो ही जाएगी। सगाई का तो पहले-पीछे का कुछ होता भी नहीं, जिसके योग्य कन्या मिले, सगाई हो जाती है। और—"

शेखर ने देखा कि यह तो प्रश्न बड़ी आसानी से हल होते चले जा रहे हैं ! उसने जोर देकर कहा, "मुझे अभी विवाह करना ही नहीं तो—"

"क्यों ? प्रभु तो अभी पढ़ रहा है; इंजीनियर बनते उसे दो साल और लगेंगे। तुमने तो पढ़ाई छोड़ दी है, अब तुम्हें ढंग से रहना चाहिए, आगे का कुछ सोचना

चाहिए। घर-गिरस्ती बनाओ, चार पैसे कमाओ, अलग निश्चिन्त होकर रहो। बहू अच्छे घर की होगी तो थोड़े में भी काम चला लेगी, बल्कि आधी गिरस्ती तो बहू के साथ आती है। और मैंने कुछ जोड़ा तो है नहीं, जो कुछ होता रहा है, तुम लोगों पर खर्च कर दिया है; पर फिर भी जो कुछ बन पड़ेगा, कर ही दूँगा। मुझे कौन साथ ले जाना है—जैसा पीछे दिया, वैसा अब दिया। ब्याह अच्छी तरह हो जाएगा, तो समझ लूँगा कि उसके मन की एक साध पूरी हो गई। जीवन में तो बिचारी ने सुख देखा नहीं। अब पहले जमाने की बात थोड़े ही है—पहले तो बहुएँ कितनी-कितनी सेवा किया करती थी—" पिता फिर कुछ अन्यमनस्क-से हो गए।

शेखर ने कहा, "देखिए, मुझे विवाह करने की रत्ती भर इच्छा नहीं है। और मैं उसके योग्य भी नहीं हूँ—कुछ कमाता नहीं हूँ, और ऐसी डिगरी भी नहीं है कि आगे चलकर कुछ कमाने की आशा हो। क्लर्की में तीस-चालीस मिल सकते होंगे, पर वह मैं कभी नहीं करूँगा। ऐसी दशा में यह बन्धन पालना पाप भी है और मूर्खता भी। और फिर—" एक क्षण रुककर शेखर फिर आग्रहपूर्वक कहने लगा, "फिर मैंने अपने जीवन का एक मिशन चुन लिया है, अब जान-बूझकर उसके मार्ग में बाधा क्यों खड़ी करूँ?"

"क्या मिशन? कैसा मिशन?"

"मुझे कुछ कमाना-जोड़ना नहीं है। लिखना है, तो वह भी पैसा जोड़ने के लिए नहीं। वह साधन होगा एक बड़े उद्देश्य का—मैं अपने समाज की, अपने आस-पास के जीवन के सब अंगों की व्यवस्था बदल देने का व्रत ले रहा हूँ—यह तो आप भी मानेंगे कि परिवर्तन आवश्यक है? और नहीं तो इतना तो आप मानेंगे ही कि देश को स्वाधीन होना चाहिए?"

पिता ने कुछ खीझ और कुछ पितृत्व के अभिमान के स्वर में कहा, "कितनी बातें सीख गया है!" फिर थोड़ा हँसकर बोले, "हम तुम्हें अपने जीवन की बातें बतलाते हैं—हमने कभी कही नहीं, पर अब छिपाने में क्या रखा है, अब तुम बड़े हो गए।" उनकी आँखें बहुत दूर चली गईं और गहरे स्वर में उन्होंने कहना प्रारम्भ किया, "जब मैंने पढ़ाई समाप्त की, तब हम तीन-चार लड़कों ने भी ऐसा व्रत लिया था। हमारी पढ़ाई तो गुरुकुल में हुई थी, जब हम वहाँ से निकले तो हमने आपस में सलाह की कि पचीस वर्ष की आयु होने में जितने-जितने वर्ष बाकी हैं—मेरी आयु तब अठारह वर्ष की थी—उतने-उतने हममें से प्रत्येक व्रत का पालन करते हुए बिताएगा, क्योंकि ब्रह्मचर्य की अवस्था पचीस तक की होती है। तन पर जो कपड़े थे, उनके अलावा केवल एक लाठी और एक झोले में दो-तीन पुस्तकें ही हमारी पूँजी थी। तुम व्यवस्था बदलने की बात कहते हो; हमारे उद्देश्य बहुत स्पष्ट थे। अंग्रेजों को निकाल बाहर करना और हिन्दू राष्ट्र की संगठित करके विशुद्ध आर्य-संस्कृति की पुनःस्थापना....चार साल तक हम लोगों ने भीख माँग-माँगकर प्रचार किया। ऐसे-ऐसे बीहड़ स्थलों में हम गये कि तुम कल्पना भी नहीं कर सकते; देखे तो तुमने क्या होंगे! और—" कुछ रुककर एक झेंपी-सी

हँसी हँसकर, "अंग्रेजों के विरुद्ध हमने जितना विष-वमन किया—आज के आतंकवादी क्या करेंगे ! पर अन्त में—" उनकी भँवों और कन्धों ने संकेत से वाक्य पूरा किया कि 'सब निष्फल' !

पिता ने शेखर की ओर देखा। उसके चेहरे पर कौतूहल स्पष्ट देखकर फिर कहने लगे, "एक साल तक हम लोग इकट्ठे रहे। फिर अलग-अलग मार्ग पकड़े। अपना कर्त्तव्य हमारे आगे इतना स्पष्ट था कि राह चलते कोई इक्का-दुक्का अंग्रेज मिल जाए तो उसकी बुरी गत बनाते थे ! मैं—" उनके नथने अभिमान से फूल गए—"बहुत तगड़ा था—और चेहरा ऐसा लाल होता था कि बस ! आजकल की तरह थोड़े ही। बाबू साहब नहीं थे हम !"

फिर थोड़ी देर के लिए उनकी दृष्टि अन्तर्मुख हो गई, मानो दूर दबी हुई स्मृति को खोदकर ला रहे हों...."पर अन्त अच्छा नहीं हुआ। दो साथी किसी आतंककारी दल के साथ पकड़े गए और फाँसी लग गए। तीसरे का कुछ पता नहीं लगा कि वह कैसे मर गया। पता यही लगा कि कुछ ईसाई मिशनरियों ने उससे चिढ़कर उसे विष दिला दिया था। चौथा—चौथा मैं था। चार साल तक यह करते-करते मुझे लगने लगा कि मैं व्यर्थ काम कर रहा हूँ—केवल इसलिए नहीं कि यह टटीहरी का प्रयास है; अधिक इसलिए कि यह घृणा का प्रचार कभी अच्छा फल नहीं ला सकता....फिर एक दिन एक घटना से मेरी आँखें बिलकुल खुल गईं और—" एकाएक विषय बदलकर उन्होंने कहा, "घृणा का प्रचार तो यह है ही। तुम भी क्या करोगे ? जो अच्छा नहीं है, उसके विनाश का ही तो प्रचार करोगे न ?"

"उतना ही नहीं, जो हम चाहते हैं उसका—"

"हाँ, हाँ; पर परिस्थिति की लाचारी है कि विनाश पर ही तुम्हारा आग्रह हो जाएगा। मैंने देखा है कि सब प्रचार अन्ततः घृणा का प्रचार है; क्योंकि घृणा में शक्ति है, प्यार में वह नहीं है। वैसे ही जैसे विष में शक्ति है। लड़ाई लड़ी जाती है, जिहाद होते हैं, तो घृणा के सहारे....और घृणा सचमुच विष है। वह दूसरे को भी मारती है, अपने को भी नहीं छोड़ती। और जब दूसरों को नहीं मार पाती, तब तो अपने को इतनी जल्दी खा लेती है कि...."

वे एकाएक चुप हो गए। शेखर कुछ प्रतिवाद भी करना चाहता था, और यह भी पूछना चाहता था कि वह घटना क्या थी, पर उसे डर हुआ कि पूछने से कहीं पिता का मूड ही न बदल जाए। क्योंकि आज तक अपने अतीत की बात उन्होंने कभी नहीं कही थी। सचमुच शेखर ने कभी इस कल्पना से साक्षात्कार नहीं किया था कि पिता भी कभी एक ऐसे युवक रहे होंगे ! अतः वह चुप ही खड़ा रहा। थोड़ी देर बाद पिता फिर बोले—"तुम भी पागल हो जाओगे।" और फिर खो-से गए। फिर जैसे अपने को जगाकर कहने लगे, "तीन चार साल में अपने कामों से आस्था बिलकुल उठ गई। तब मुझे इस बात की बड़ी आवश्यकता जान पड़ने लगी कि किसी से उपदेश लेना चाहिए। पर

ऐसा था ही कौन ! फिर किसी ने मुझे बताया कि टिहरी की तरफ़ हिमाचल की किसी गुफ़ा में एक महात्मा रहते हैं, उन्हीं से सच्चा उपदेश मिल सकता है। संस्कार तो ऐसे थे ही कि हिमाचल की कन्दराओं में सच्चे साधक और ज्ञानी रहते हैं; मैं इधर ही को चल पड़ा। कई महीने भटकने के बाद एक दिन जंगल पार करते-करते एक खुले-से टीले पर बैठ गया। टीले के नीचे ही एक पहाड़ी नाला बहता था; उसकी धारा का ऊपर का भाग तो पथरीली जमीन में शोर करता हुआ बहता था, पर निचला एक चौड़े-से थाले की घास में खो गया था, और वहाँ दलदल-सी भी हो रही थी।

साँस लेकर पिता फिर कहने लगे, "थोड़ी देर बाद उधर से एक भीमकाय मूर्ति आती दीखी। काला चमकता हुआ शरीर, लम्बी-लम्बी रूखी जटा और सिंह की-सी अयाल, बदन पर एक कौपीन। जहाँ से दलदल आरम्भ होती थी, वहीं बैठकर उसने हाथों से बहुत-सा कीचड़ खोदा और टीले के ढलाव पर जमा करने लगा। जब काफी कीचड़ जमा हो गया, तब वह उसे थाप-थापकर जाने क्या करने लगा। मैं वहाँ से बहुत दूर था, अतः बिना उसे चौंकाए कुछ पास आने के लिए मैंने दूसरी ओर से टीले का चक्कर लगाया और जहाँ वह बैठा था, वहाँ से कुछ ही नीचे एक पेड़ की ओट खड़े होकर उसे देखने लगा। जो मैंने देखा, उससे मैं चकित रह गया।

"उसने मिट्टी की एक तोप बनाई थी। नीचे झुककर निशाना देखता, फिर हाथ की एक लकड़ी से तोप को आग देता, और फिर मुँह से जोर का शब्द करता—'ठाँय !' फिर एक अट्टहास से जंगल गुँजाकर वही क्रम दुहराने लगता...."

पिता ने रुककर देखा कि शेखर पर इसका क्या असर हुआ है, फिर बोले, "मैं बहुत देर तक मुग्ध भाव से यह देखता रहा। फिर मैंने देखा, उसी स्थान के आस-पास और भी कई मिट्टी की तोपें पड़ी हैं, जिनकी मिट्टी सूखकर टूट गिरी है....दो घण्टे बाद मैं उठकर चला आया।"

अबकी शेखर ने पूछा ही तो, "फिर ?"

"बाद में पूछताछ करने पर मुझे पता लगा कि वह सन् सत्तावन का एक विद्रोही सिपाही था, जो पीछे जब अंग्रेजों ने अमानुषी ढंग से बदला लेना आरम्भ किया, तब भागकर वहाँ आ छिपा था। तब से उसका यही नित्य-क्रम था—चालीस बरस से वह ये मिट्टी की तोपें दाग रहा था !"

बहुत देर तक मौन रहा।

"उस घटना से अपने प्रयासों की विफलता मेरे सामने स्पष्ट हो गई। मैंने महात्माओं की खोज छोड़ी, और लौटकर दूसरे आश्रम में प्रवेश किया। इस बात को पैंतीस साल हो गए। मुझे नहीं लगता कि मैंने भूल की।" फिर क्षण भर रुककर सोचते हुए—"घृणा का यही अन्त होता है—हो ही यही सकता है। पागलपन।" फिर कुछ इस भाव से कि इसके आगे सब तर्क परास्त हैं, उन्होंने कुछ मुस्कराकर शेखर की ओर देखा।

शेखर के मुँह पर दर्जनों प्रतिवाद एक साथ आ गए। बोला, "यह आप कैसे कह सकते हैं? पहले तो यही सिद्ध नहीं है कि वह घृणा से पागल हुआ—या कि घृणा से ही उसे असफलता मिली। जंगल में रहकर मिट्टी की तोपें दागने का असल कारण तो था आतंक—वह छिपकर तोप दागता था, इसीलिए मिट्टी की तोप थी। वह बेबसी का विद्रोह था—और बेबसी भी आप मोल ली हुई, इसीलिए विद्रोह भी विफल था। न छिपता, लड़ मरता, तो घृणा क्यों असफल मानी जा सकती? और मान ही लीजिए कि वह विद्रोह करने के कारण पागल हुआ, तो आपके पास यह कहने का क्या कारण है कि उसका जीवन कम सिद्ध हुआ? पागल तो सभी होते हैं, उसके पागलपन में एक असाधारण एकाग्रता थी, बस इतना ही तो सिद्ध हुआ न?"

पिता ने झल्लाकर कहा, "पागल होओगे क्या, तुम तो अभी पागल हो।"

पिता ने कहा, "निश्चिन्तता बड़ी बात होती है।"

शेखर कुछ सोच नहीं सका कि क्या कहे।

"तुम अभी इसका महत्व नहीं समझोगे। जीवन में सिक्योरिटी बड़ी चीज है। साहित्य से कुछ टका-पैसा आ भी गया, तो उसका क्या भरोसा? आमदनी की बरकत तब होती है जब नियम से एक-सी आती रहे, चाहे थोड़ी हो। इसीलिए कहता हूँ, घर बसाओ, कुछ कमाओ, चैन से रहो। जीवन का कुछ ढंग हो तो आदमी को पता रहता है कि वह कहाँ खड़ा है।"

शेखर फिर चुप रहा। पिता ने कहा, "बोलते क्यों नहीं?"

"क्या बोलूँ, मेरी तो समझ में नहीं आता।"

"इसमें समझने की क्या बात है? ऐसा कौन है, जो जीवन में सिक्योर होना नहीं चाहता? नहीं तो यह बीमा, प्राविडेण्ट फण्ड, पेंशन आदि का रिवाज ही कैसे होता? आजकल तो कोई नौकरी करता है, तो पहले पूछता है कि पेंशन या प्राविडेण्ट फण्ड है या नहीं। क्यों, मेरी बात ठीक नहीं है?"

"ठीक है। पर मैं तो सिक्योर होना नहीं चाहता। आप घर-गिरस्थी, निश्चित आमदनी और सिक्योरिटी की बात कहते हैं; मुझे यही जीवन के रोग लगते हैं—इन्हीं से तो मैं बचना चाहता हूँ। यह चैन की जिन्दगी, यह आश्वासन का भाव, यह दिनों-दिन जोखम की अनुपस्थिति—यही तो घुन है, जो जीवन की शक्ति को खा जाता है। मैं इन सबका उलटा चाहता हूँ। चाहता हूँ निरन्तर आशंका और जोखम का वातावरण, ताकि मैं हर समय लड़ने को बाध्य होऊँ; अपने हाथ से तोड़कर नष्ट करूँ और अपने ही हाथ से फिर नए सिरे से बनाऊँ।"

"खाहमखाह बहस करने के लिए बहसते जाओगे। दो दिन सचमुच ऐसे रहना पड़े तो नर्वस ब्रेकडाउन हो जाए! जोखम राह चलते आता है तो भुगत लिया जाता है, कोई माँगता भी है? तुम बहुत विज्ञान बघारते हो, क्या यह सभ्यता के विकास की ही गति नहीं है कि मानव निरन्तर निरापद अवस्था की ओर बढ़ता गया है?"

"सभ्यता ! यह सभ्यता तो ढकोसला है। विक्टोरियन, सुख-शान्ति और [illegible] की सब बातों का असली मतलब यह है कि मानव का बचपन लम्बा होता जाता है। जो जितना सभ्य है, उसकी बचपन की अवस्था उतनी लम्बी है। सभ्यता तो परावलम्बिता का नाम बन गया है। पशुओं में बचपन एक साल का होता है, हद से हद दो साल का। जंगली लोगों में दस-बारह साल का होता होगा। हम लोग इतने सभ्य हो गए हैं कि अब तीस-तीस साल तक बच्चा, बच्चा ही बना रहता है, अपने पैरों नहीं खड़ा होता। कई लोग तो बचपन से निकले बिना ही मर जाते हैं।"

"क्या मतलब ?"

"अब मैं ही इक्कीस साल का हो चुका। अभी आप मुझे इस लायक नहीं समझते कि लाहौर जैसे निरापद शहर में अपना मकान लेकर रह सकूं। मैं तो समझता हूँ कि आपके ऐसा सोचने का मतलब यही है कि आपने बीस साल तक मुझे जो कुछ सिखाया-पढ़ाया है, उस सबको आप रद्दी कर रहे हैं, क्योंकि उसने मुझे इस लायक नहीं बनाया। मुझे लगता है कि हम जरूरत से ज्यादा सभ्य हो गए हैं। हमारे [illegible] क्या हाल होता होगा! क्या इस तरह व्यक्ति को जबरदस्ती पर निर्भर नहीं बनाया जाता, उसके सच्चे व्यक्तित्व को और आन्तरिक शक्ति को कुचला नहीं जाता? [illegible] का क्या यही अर्थ होना चाहिए कि जीवन की ललकार को अनसुनी कर दें [illegible], बल्कि उससे टक्कर लेने की शक्ति को कुचल दिया जाए? आप ही बताइए कि अगर आर्य शुरू से ऐसे आराम चाहनेवाले होते, तो जावा और कम्बोज और चीन तक उनकी संस्कृति कैसे पहुँचती? बल्कि आर्य होते ही कहाँ—आर्य तो वे तब कहलाए जब कहीं से वे एक नए देश में आकर बसे।"

पिता ने झुँझलाई हुई सराहना के साथ शेखर की ओर देखकर कहा, "ये सब पढ़ी हुई बातें बोल रहे हो, या अपनी सोची हुई?"

शेखर को एकाएक बाबा मदनसिंह की याद आई। 'अपनी व्यथा में से सूत्र खोजना होता है'....शायद उसकी दलीलों पर बाबा के विचारों की छाप है, पर क्या इतनी कि शेखर केवल तोते की तरह दुहरा रहा है? क्या जो कुछ वह कह रहा है, उसका अनुभव उसकी नाड़ियों में नहीं है?

उसने खिन्न होकर मौन साध लिया....

पिता ने दो-तीन दिन और शेखर के साथ मगज मारा। बीच में [illegible] वे कुछ घूमघाम कर लोगों से मिल भी आए; और दो-एक व्यक्ति वहीं आकर [illegible] मिल गए। तीसरे दिन रामेश्वर के साथ शशि भी उन्हें मिलने आई—[illegible] लाहौर लौटे थे। जब उसके समवेदना के वाक्यों से पिता का हृदय [illegible] माता के संस्मरण कहने लगे, शेखर दबे-पाँव उठकर बाहर चला गया। [illegible] उसकी अनुपस्थिति में शशि अधिक सहज भाव से उन्हें वहाँ सान्त्वना दे सकी, [illegible] की शेखर में तनिक भी योग्यता नहीं है—पता नहीं और किसी को भी वह सान्त्वना

दे सकता है या नहीं, पर पिता से ऐसी बात करते तो उसकी जीभ ऐंठ जाती है।

रात को शेखर एकाएक चौंककर जागा। उसने स्वप्न नहीं देखा था, उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्यों ऐसे घबराकर उठ बैठा है। घबराहट और असह्य बेचैनी बड़ी स्पष्ट थी—उसने मुड़कर पिता की ओर देखा और फिर चौंका—पिता भी उठकर बैठे हुए थे। एकाएक पिता के भर्राए हुए कण्ठ से एक विचित्र स्वर निकला, जो न चीख थी, न कराह—और शेखर ने जाना कि इसी स्वर से वह हड़बड़ाकर जागा था....वह थोड़ा-सा कांप गया; पिता ने शायद जान लिया कि वह उठ बैठा है, तब वह जल्दी से उठकर और जूता घसीटते हुए बाहर आँगन में चले गए।

शेखर ने पिता को कभी रोते नहीं देखा था—और इस बेबस ढंग से रोते....उसके अन्तर में बहुत गहरे कहीं दर्द होने लगा, और शब्दहीन समवेदना उसमें उमड़ने लगी। वह नहीं जानता था कि पिता इतना दुःख मना सकते हैं; अब तक उसने यह भी नहीं समझा था कि दैनिक व्यवहार की कठोरता और रुखाई का मोल हर कोई कभी कहीं अकेले में चुकाता ही है—कि सन्तान पर कठोर शासन करनेवाले पिता की भी नैसर्गिक मानवी कोमलता आखिर कहीं तो प्रकट होती ही होगी....

बाहर आँगन से उसने हाँपे हुए कण्ठ का 'हुँहुँक—हुँहुँक' सुना, और फिर नाक साफ करने की आवाज....फिर चप्पल के स्वर से अनुमान करके कि पिता भीतर को आ रहे हैं, वह जल्दी से मुंह ढँककर लेट गया, और साँस को नियमित बनाकर हृद्गति की तीव्रता को छिपाने का यत्न करने लगा....

थोड़ी देर बाद पिता आकर चारपाई पर बैठ गए, एक बड़ी लम्बी और टूटी हुई आह उन्होंने भरी; फिर धीरे से लेट गए।

बहुत देर बाद तक शेखर सोचता रहा कि वे अभी सो गए हैं या नहीं और अन्त में स्वयं सो गया।

अगले दिन पिता को लौटना था। प्रातःकाल मुंह-हाथ धोकर और सामान ठीक करके चाय पीते समय उन्होंने रूखे स्वर से पूछा, "फिर क्या निश्चय किया तुमने ?"

रात की स्मृति अभी तक बनी होने के कारण शेखर नहीं चाहता था कि कोई ऐसी बात उसके मुंह से निकले, जिससे पिता को क्लेश हो। उसने अपना स्वर यथासम्भव विनीत बनाकर कहा, "जी, मैं तो पहले ही बता चुका हूं। एक पुस्तक तो मैं छपने भी दे रहा हूँ—" इतने दिन तक शेखर वह हस्तलिपि देने नहीं गया था।

"अच्छा ? क्या पुस्तक है ?"

"'हमारा समाज' शीर्षक रखा है। उसमें—"

"तो समाज के पीछे लाठी लेकर पड़े हो। तुम्हारी मर्जी बाबा ! अक्ल की बात सुनोगे थोड़े ही।" फिर जैसे कुछ ढीले पड़कर, "हम भी कब सुनते थे। जवानी का लहू ही ऐसा होता है। आप पटकी खाए बिना मानता कौन है।"

शेखर ने मन ही मन कहा, 'तो ठीक तो है।' पर प्रकाश्य कुछ नहीं बोला।

इतने में शशि आ गई। पिता ने उसकी ओर देखकर पूछा, "तुम क्यों नहीं समझातीं इसे? सुना है, तुम्हारी बहुत मानता है।"

शेखर ने पूछा, "किससे सुना है?"

"किसी से सुना सही। क्यों, बात ठीक नहीं है?"

शशि ने कहा, "मेरी बात कब सुनते हैं—मुझे तो झट डाँट देते हैं।"

"डाँटने का क्या मतलब उसका? तुम क्यों सुनती हो?"

शशि के झूठे अभियोग पर शेखर को हँसी आने लगी; वह उठकर कुछ लाने के बहाने कोठरी में चला गया और वहाँ से आँगन में; काफी देर तक वहीं घूमता रहा। फिर उसे विस्मय भी हुआ कि अभी तक उसकी बुलाहट नहीं हुई। शशि न जाने कैसे बिना झिझक पिता से बातें कर लेती है—वह भी तो उससे एक स्निग्ध स्वर में बोलते हैं, जिसमें अधिकार की भावना नहीं होती। उन दोनों में लगातार सहज भाव से वार्तालाप हो सकता है, शेखर और पिता के बीच तो बहस ही होती है, या फिर खिंचा हुआ मौन।

एकाएक शेखर को याद आया, उसके पास रुपये पड़े हैं, जिनका हिसाब नहीं दिया गया। वह भीतर चला, इतने में पिता की आवाज आई, "शेखर!"

शेखर ने अपने कुर्ते की जेब में से नोट और रुपये निकालकर पिता की ओर बढ़ाते हुए कहा, "यह लीजिए बाकी; हिसाब भी मैंने एक पर्ची पर लिख दिया है।"

पिता ने किंचित् डाँटकर कहा, "अच्छा-अच्छा, रखो; बड़ा आया हिसाब देनेवाला!"

शेखर क्षणभर किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा रहा। फिर शशि को इशारे से कहता पाकर कि इस प्रसंग को तुरंत बन्द कर दे, उसने रुपये जेब में रख लिए।

थोड़ी देर में ताँगा आया, शशि प्रणाम करके लौट गई और शेखर पिता के साथ स्टेशन चला।



'हमारा समाज' की पाण्डुलिपि प्रकाशक को दे आने के बाद शेखर को ऐसा अनुभव होने लगा कि जो उद्देश्य उसने अपने सामने रखा है, उसकी ओर एक सीढ़ी वह चढ़ गया है। इससे उसे बहुत सान्त्वना मिली, और वह कुछ अधिक नियमित होकर काम करने का प्रयास करने लगा। अबकी बार उसने संसार के विभिन्न समाजों में पुरुष और स्त्री के अधिकारों का तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया। प्रतिपाद्य विषय यह था कि इस समय पुरुष और स्त्री के आपस के सम्बन्धों को, और एक-दूसरे के सम्मुख प्रत्येक के अधिकार को, नियमित करनेवाली जो रूढ़ियाँ हैं, उनमें बहुत कम ऐसी हैं, जो विवेक की नींव पर खड़ी हुई हैं, या कि जिनके पीछे प्रकृति ही विशालतर अर्थशास्त्र का व्यवस्था है, उस अर्थशास्त्र की, जिसकी पूँजी की इकाई रुपया न होकर जीव है। इतना ही नहीं, इससे आगे बढ़कर वह यह भी सिद्ध करना चाहता था कि सुधारकों में भी जो

प्रचलित तर्क-परम्परा है—कि रूढ़ियाँ किसी जमाने में ठीक थीं, क्योंकि उस समय की परिस्थिति के लिए बुद्धि-संगत थीं, पर अब नई परिस्थिति में असंगत हो गई हैं—वह भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि बहुत से विश्वासों की जड़ नवीन या प्राचीन किसी भी परिस्थिति में अनिवार्य नहीं है—अर्थात् अतीत की परिस्थिति के साथ भी उनका अपरिहार्य कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। उनकी जड़ है विशुद्ध अन्धविश्वास या जादू-टोने की तर्कातीत क्रियाओं में। टोने की प्राचीन रीतियों के ही बहुत से अवशेष हैं, जिन्हें हम अनन्तर बुद्धि-संगत बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं। यह प्रयास वैसा ही है, जैसे पुरानी टूटी हुई मिट्टी की लुटिया मिल जाने पर हम उसमें पीतल की नई पेंदी टाँकना चाहें—पर ऐसा उप-हासास्पद प्रयास हम नित्य ही करते हैं।

शेखर यह भी कहना चाहता था कि इन सुधारकों के असफल होने का कारण यह भी है। वे ऐसी रूढ़ियों को पुराने जमाने की दृष्टि से ठीक मानकर मानव के अहंकार को पुष्ट करते हैं—वह और भी आग्रहपूर्वक कहने लगता है कि अजी साहब, पुराने सब रिवाज तो ऋषियों ने निर्दिष्ट किए थे—आप खुद मानते हैं कि वे समयानुकूल थे! इससे फिर वह आसानी से एक सीढ़ी और बढ़ता है जब वह देखता है कि बहुत से नए रिवाज भी बुद्धिसंगत नहीं हैं, तब वह कहता है, 'साहब, वे तो ऋषि थे, वे जो निश्चित कर गए, वह उसी जमाने के लिए नहीं, युग-युगान्तर के लिए ठीक था, क्योंकि वे तो त्रिकालदर्शी थे—अगर वह अपने जमाने के लिए बुद्धि-संगत विधान बना सकते थे, तो क्या भविष्य के लिए नहीं बना सकते थे?' बस, इस दृष्टिकोण के आगे सुधारक की एक नहीं चल सकती—यह रूढ़ि का दुर्भेद्य कवच है।

शेखर चाहता था उसकी पुस्तक में निरे सिद्धान्त का प्रतिपादन न हो, जो युक्तियाँ वह उपस्थित करे, उन्हें पुष्ट करने के लिए इतिहास, मनोविज्ञान और जीव-विज्ञान—विशेषकर मानवशास्त्र से प्रमाणों का ऐसा पहाड़ खड़ा कर दे कि उसकी एक-एक युक्ति अकाट्य हो जाए। वह अनुभव कर रहा था कि इसके लिए उसका अध्ययन पर्याप्त नहीं है। कालेज में विज्ञान उसका विषय ही रहा था, और वैसे भी वह इधर-उधर की बहुत पुस्तकें पढ़ता था, और जेल के दस महीनों में भी उसने बहुत कुछ पढ़ा था, जिससे समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में उसकी रुचि भी परिष्कृत हुई थी; पर वह अच्छी तरह जानता था कि मानव का ज्ञान-पुंज जिस तीव्र गति से बढ़ रहा है, उसके साथ-साथ चलना बहुत कठिन है, विशेषकर उस व्यक्ति के लिए, जिसके अध्ययन को किसी बहुज्ञ का निर्देश न मिल सकता हो—वह चाहता था कि नगर के प्रमुख सार्वजनिक पुस्तकालय का सदस्य बन जाए, ताकि पढ़ने की सामग्री मिल सके; और पिता के दिये हुए रुपये में से होटल का बिल आदि चुकाकर बारह-एक रुपए उसके पास बाकी भी थे; पर पुस्तकालय का आठ रुपये तो वार्षिक चन्दा था, और जिन विषयों की पुस्तकें वह लेना चाहता था, उनके लिए बीस रुपये का डिपाजिट भी आवश्यक था....

एक दिन बैठे-बैठे उसे ध्यान हुआ, उसकी कई किताबें खो गई हैं अवश्य, पर बहुत-सी बची हुई भी हैं। जो पुस्तकें वह पढ़ चुका है; उन्हें पूंजीपतियों की तरह संजोकर रखने का उसे क्या अधिकार है? वे उसे बहुत प्यारी हैं, बल्कि उन्हें वह अपने विशाल-तर अर्थात् सामाजिक शरीर का एक अंग मानता है; पर ज्ञान क्यों कम प्यारा हो? और ज्ञान क्यों बिना प्रयास मिले—ज्ञान क्या कोई चूरन की पुड़िया है कि मुफ्त चखने को मिल जाए!

शेखर ने आलमारी के पास जाकर पुस्तकें देखना प्रारम्भ किया। दो-एक बार सब देख चुकने के बाद उसने अधिक दामोंवाली तीन पुस्तकें निकाली; फिर एक बार सब पुस्तकों को देखकर दो वापस रख दी और एक और निकाली; फिर सबको वापस रखकर टहलने लगा....फिर उसने बड़े आकार की दो जिल्दों की एक पुस्तक निकाला—वेल्स लिखित 'इतिहास की रूपरेखा'। जल्दी-जल्दी उसके बहुत-से पन्ने उलट डाले, फिर मन-ही-मन कहा, यह तो जनरल पुस्तक है, और इसे बार-बार देखने की आवश्यकता तो पड़ती नहीं—दो बार पढ़ ही चुका हूँ। और उसे बाहर रख लिया। फिर दो चक्कर काटकर उससे भी बड़े आकार की एक पुस्तक निकाली—चुग़ताई का चित्र-संग्रह.... इसके दो-एक चित्र देखकर वह जैसे पुस्तक को सम्बोधित करके मन-ही-मन कहने लगा, जब और संग्रह नहीं रहे, तब इस एक से क्या होगा! फिर चुग़ताई कौन दुनिया का सबसे बड़ा चित्रकार है—और चित्र तो आदमी तब रखे जब रखने लायक जगह हो। यहाँ क्या जाने कब दीमक लग जाए—और उसने अपने को याद दिलाया कि उसकी पहली रचना को कीड़े खा गए थे; और दूसरी को गाय खा गई थी पर उसके मन का भाव चोर का-सा अधिक था, निश्चय उसमें बिलकुल नहीं था ..

शेखर ने तीनों पुस्तकों की जिल्दें खोलकर फिर देखी। ये पुस्तकें उसे कालेज में पुरस्कार मिली थी, और जिल्द के अन्दर इस आशय का प्रमाण-पत्र भी चिपका हुआ था। क्षणभर शेखर उसे देखता रहा, फिर एकाएक उसने दृढ़ हाथों से प्रमाणपत्र कोने से पकड़-पकड़कर उखाड़ डाले, पुस्तकें पुराने अख़बार में लपेटीं और बाहर चल दिया।

पुस्तकें कुल लगभग अड़तालीस रुपये की थी, पर बाजार में उनके अठारह रुपये से अधिक नहीं लगे। दो-एक जगह पूछकर शेखर ने वेल्स का इतिहास एक सेकण्डहैंड पुस्तक-विक्रेता के पास साढ़े पन्द्रह रुपये में बेच दिया—यह उसकी कीमत का ठीक आधा था। दूसरी पुस्तक के चार रुपये से अधिक देने को कोई तय्यार नहीं हुआ, क्योंकि शेखर को पता लगा, मूल्य सत्रह होने पर भी नई पुस्तक बाजार में पचास प्रतिशत कमीशन काटकर साढ़े आठ में मिल रही थी। अतः शेखर उसे लेकर कालेज के एक लड़के के पास गया, जो उसका परिचित भी था और चित्रकला में रुचि रखता था; शेखर ने वह पुस्तक किसी तरह उसके मत्थे मढ़कर उससे आठ रुपये से लिए—यद्यपि शेखर ने स्पष्ट अनुभव किया कि ग्राहक पर जितना दबाव डाला जा सकता है, उतने [illegible] तरह भी कम वह नहीं डाल रहा है...

किन्तु सदस्य बनकर जब वह पहले ही खेप में फ्रेज़र की 'गोल्डन बो', क्रॉली की 'मिस्टिक रोज़' और पालिनोस्की की....तथा मनुस्मृति का एक सटीक और विशद आलोचना-युक्त संस्करण ले आया, तब उसके मन का अवसाद उतर गया, और इन पुस्तकों को, जिनका उल्लेख बार-बार पढ़कर उसकी उत्कण्ठा तीव्र हो चुकी थी, वह मनोयोग-पूर्वक पढ़ने में जुट गया। पढ़ना स्थगित करके जब वह पुस्तक अलमारी में रखता, तब उसे ऐसा जान पड़ता कि ये भी पराई नहीं हैं, उसकी आत्मीयता के घेरे में आ गई हैं....

एक दिन शेखर ने लिखते-लिखते चौंककर देखा कि कोई उसके द्वार पर खड़ा प्रतीक्षा कर रहा है कि वह मुँह उठाए तो अनुमति लेकर प्रवेश करे। शेखर ने हड़बड़ा-र कहा, "आइए-आइए—" और इधर-उधर फैले हुए काग़ज़ समेटकर चारपाई पर स्थान बनाने लगा।

आगन्तुक ने चेहरे पर बनावटी मुस्कान का जाल फैलाते हुए कहा, "मेरा नाम अग्रोलुक राय है, और मैं यहाँ की हिन्दू सुधार सभा का मंत्री हूँ।"

शेखर ने कहा, "आज्ञा ?"

"मैंने सुना है कि आप समाज-सुधार के कार्य को अपने जीवन का मिशन बनाना चाहते हैं। आप अध्ययनशील भी बहुत हैं, यह तो प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ। असल में साधना ही सुधार की पहली माँग है। मैं—"

शेखर ने विस्मय से पूछा, "आपने यह सब कहाँ सुना ?"

"प्रतिभा छिप थोड़े ही सकती है—आप विनय से लाख छिपाएँ—"

यह नहीं हो सकता—कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। शेखर ने कुछ रुखाई से कहा, "कैसे कृपा हुई ?"

"यों ही दर्शन के लिए चला आया। समाज सेवा के काम में इतने कम व्यक्तियों को दिलचस्पी होती है—और आजकल के नौजवान तो आप जानते हैं जैसे हैं—किसी काम के काम में उन्हें रुचि नहीं—सेवा के तो नाम से चिढ़ते हैं—आपसे हमें बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं—"

"कहिए, मैं क्या कर सकता हूँ—"

"आप बहुत कुछ कर सकते हैं। आपमें उत्साह है, लगन है, जवानी का बल है। आप कभी हमारी किसी सभा में आकर देखिए, हमारा कार्यक्रम देखकर आप स्वयं जान लेंगे कि आप कितनी मदद कर सकते हैं।"

शेखर ने कुछ रुचि दिखाते हुए कहा, "अवश्य आऊँगा। पर आप कुछ संक्षेप में—"

"हाँ, हाँ। सुधार तो हम बहुत-सी बातों का चाहते हैं, पर यह अनुभव करके कि समाज की बुनियाद परिवार पर खड़ी है, और समाज का सुधार तभी हो सकता है जब पहले परिवार का जीवन सुधारा जाए, हमने उसी को अपना क्षेत्र चुना है।"

"बहुत ठीक—"

"और परिवार की बुनियाद विवाह है, इसलिए हम सबसे पहले विवाह की परिपाटी में सुधार चाहते हैं।"

"यह तो बड़े महत्व का काम है। आपका कार्यक्रम क्या है?"

"कोई एक बात हो तो बताऊँ न? ऐसे काम में बहुमुखी उद्योग करना पड़ता है। नवयुवकों और नवयुवतियों और उनके माता-पिताओं सबका सहयोग आवश्यक होता है; फिर पत्र-पत्रिकाएँ अपना महत्व रखती हैं, फिर नेताओं, पंडितों आदि को भी प्रसन्न रखना पड़ता है—"

"क्यों?"

"क्योंकि व्यर्थ का विरोध बढ़ाने से लाभ? अपना काम जितने कम विरोध के साथ सम्पन्न हो सके उतना ही अच्छा, क्यों आपकी क्या राय है?" लाला अमोलक राय कुछ हँसे।

"ठीक है। अच्छा, मैं अवश्य आपकी सभा में आऊँगा। कब है?"

"आइए हो नहीं, आपको बोलना भी अवश्य पड़ेगा—"

शेखर ने कुछ झिझकते हुए कहा, "बोलने का तो मुझे बिलकुल अभ्यास नहीं है, मैं तो बातचीत करके ही अधिक उपयोगी हो सकता हूँ—"

"वाह! यह भी कोई बात है? समाज-सुधार के काम में समाज से भागने से कैसे चलेगा? और फिर कोई बड़ा जलसा थोड़े ही है—इने गिने आदमी होंगे जिन्हें काम में रुचि है। समझ लीजिए कि वर्करों की मीटिंग है—बाकी हमारा सब काम तो बाहर होता है, मीटिंग में केवल विचार-विनिमय होता है—"

अन्त में तय हुआ कि शेखर मीटिंग में जाएगा और विचारों के आदान-प्रदान में हिस्सा लेने के लिए कुछ कहेगा भी। लाला अमोलक राय चले गए।

यद्यपि शेखर ने इस निमंत्रण की बात शशि को बड़े शान्त भाव से बताई, और उसकी सहमति भी शान्त भाव से स्वीकार कर ली, तथापि भीतर ही भीतर उसके उत्तेजना बढ़ने लगी—एक ओर नए दायित्व की भावना और काम के लिए मार्ग मिलने का उत्साह, दूसरी ओर पहले-पहल शास्त्रार्थ का संकोच और डर....कालेज में और विशेषकर 'एथिनीयम क्लब' में वह काफ़ी उत्साह के साथ अपने मत का पोषण कर लेता था, पर वह बात और थी—वहाँ सब परिचित और साथी थे, और वहाँ स्वयं क्लब के निर्माताओं में वह एक था, यहाँ पर वही एक गैर होगा, निमंत्रण की औपचारिकता में बँधा हुआ, और अनुभवी समाज-सेवियों में एक अकेला नौसिखिया 'अमेचर' ....फलतः उसने बड़े परिश्रम से तय्यारी आरम्भ की—और अपने वक्तव्य के लिए 'पाइंट' लिखते-लिखते पूरा एक निबन्ध लिख डाला....उन दिनों वह जो कुछ पढ़ रहा था, उसका और उसके दृष्टान्तों का उसने भरपूर उपयोग किया—कौटुम्बिक प्रणाली के सुधार की बात करते हुए उसने कुटुम्ब की उत्पत्ति से आरम्भ करके, [illegible]

का निरूपण किया—सिद्ध किया कि आरम्भ में उस विकास और जीवन के अर्थशास्त्र में कोई सम्बन्ध नहीं था और कौटुम्बिक जीवन की प्रागैतिहासिक रूढ़ियों की आर्थिक भित्ति खोजना मूर्खता है; किन्तु क्रमशः रूढ़ियों का विकास जादू-टोने की परिधि से निकलकर आर्थिक नियमों से प्रभावित होने लगा, और फलतः आर्थिक विकास के साथ-साथ उनका भी घोर परिवर्त्तन होता रहा। मनुस्मृति से उद्धरण देकर उसने प्रमाणित किया कि स्मृतिकाल का परिवार-चिन्तन तात्कालिक आर्थिक परिकल्पनाओं से बँधा हुआ था—इसीलिए स्मृतियों की तर्क-परम्परा ही नहीं, उनके रूपक और दृष्टान्त भी एक विशेष अवस्था की कृषि-मूलक सभ्यता के द्योतक हैं। इसीलिए स्त्री के अधिकारों का नियमन करने में बराबर गाय, घोड़ी, ऊँटनी, दासी, महिषी के दृष्टान्त देकर निर्धारणाएँ की गई हैं—पुरुष को 'उत्पादक' मानकर इन सबको और स्त्री को उत्पादन का उपकरण माना गया है—और कृषि की भाँति ही इन सबकी सन्तान को उत्पादक की सम्पत्ति, इन सबके धन को स्वामी का धन! पितृत्व का निर्णय करने के लिए भी क्षेत्री और क्षेत्र और फल का रूपक व्यवहृत हुआ। किन्तु यह कहने में स्मृतियों की अवज्ञा नहीं है—जब तक समाज का नियमन सभ्यता की तात्कालिक अवस्था के साथ विकसित होता रहा, तब तक समाज ठीक रहा और उसके भीतर सड़ाँध नहीं उत्पन्न हुई। किन्तु (शेखर ने प्रतिपादन किया) आधुनिक युग में यह सामंजस्य नष्ट हो गया—हमारे जीवन की परिस्थितियाँ अधिक तेज़ी से बदलने लगीं, पर समाज का विकास रुक गया। इसका एक कारण निस्सन्देह यह था कि विदेशी शासन-सत्ता ने एक नई और कृत्रिम स्मृति खड़ी कर दी—समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिए उसने जोड़-बटोरकर जहाँ-तहाँ के प्रचलनों का एक पुंज खड़ा किया और उसको प्रमाण मान लिया....यह भूलकर कि प्रमाण भी सदा विकासशील रहे हैं और रहते हैं; और जिस परिस्थिति में ये प्रमाण इकट्ठे किए गए थे, वह तो अपेक्षाकृत और भी अधिक स्थायी, अनिश्चित और द्रव थी! बहते पानी को एकाएक बाँधकर जमा लिया गया—उस जमी हुई बर्फ़ीली पपड़ी के नीचे नया बीज फूटता और बढ़ता तो कैसे? किन्तु यह बाहरी कारण केवल एक कारण था—दूसरा और हमारे लिए अधिक महत्व का कारण अवश्य यह था कि समाज के भीतर ही दुर्बलता और जड़ता थी—उस लचकीलेपन की कमी जो जीवन का अपरिहार्य धर्म है....इन साधारण सैद्धान्तिक स्थापनाओं के बाद शेखर ने पारिवारिक जीवन के मुख्य-मुख्य अंगों का विवेचन करके आधुनिक सभ्य जीवन की परिस्थितियों के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक परिवर्त्तनों का उल्लेख किया था।

ज्यों-ज्यों सभा का दिन निकट आता गया, त्यों-त्यों शेखर की उत्तेजना बढ़ती गई—'हमारा समाज' की समाप्ति के बाद भी वह इतना उतावला नहीं हुआ था जितना इस मीटिंग के लिए हो गया....

एक पथरीले नीले रंग की धूमिल साँझ—चौतल्ले के एक अकेले कोणाकार कमरे की खुली खिड़कियों में से ठण्डा और बोझीला और तेज़ाब की तरह घुननेवाला, साँप के केंचुल-सी भरी और बदरंग चिकनाहट लिये शहर के धौंए का धुआँ भीतर पैंठा चला आ रहा है। नीचे और आसपास फैले हुए अदृश्य शहर में से प्रेत-सा आकारहीन और धुएँ के कफ़न को भेदकर ऊपर उठ रहा है, पर उसकी नीरव चाप मानो कमरे के पथराए हुए सन्नाटे को बढ़ा रही है। शेखर धुएँ से अंधी, पर जलन के कारण और भी निर्जन आँखों को बलात् खोले हुए खाट के एक कोने में दुबका बैठा है, और धूमिल भाव से अनुभव करता है कि यह बाहर का चित्र उसकी भीतरी अवस्था की अच्छी विडम्बना है....

शेखर को सुधार-सभा की बैठक से लौटे घण्टा भर हुआ है। वह अपने को मना लेना चाहता है कि बैठक की बात को वह बिलकुल भूल चुका है, पर जैसे पक्षाघात उत्पन्न करनेवाले विष से पैदा होनेवाली जड़ता ही उसके प्रसार की चेतना उत्पन्न करे, वैसे ही शेखर की स्तब्धता उस मीटिंग के अनुभव की आवृत्ति का रूप ले रही थी....

सभा में सौ से ऊपर व्यक्ति देखकर शेखर ने विस्मय से सोचा था कि क्या सचमुच समाज सुधार के इतने 'वर्कर' शहर में हैं? उसके मन में आशा का नया संचार हुआ था, और कार्यवाही के विषय में जो नया कौतूहल जागा था, उसमें वह अपने वक्तव्य की अकुलाहट भूल गया था। किसी तरह सभा आरम्भ हुई—पहले वक्ता ने अपना विषय घोषित किया 'ब्राह्मण समाज में विवाह की समस्याएँ'—शेखर एकाग्र होकर सुनने लगा, पर क्रमशः एकाग्रता कम होने लगी, और थोड़ी देर बाद उसका मन बिलकुल उचट गया। वह वक्ता की ओर से मन सर्वथा हटाकर श्रोताओं में से एक-एक की मुद्रा का अध्ययन करने लगा। अनेक बहुत एकाग्र होकर सुन रहे थे—बल्कि उनकी तन्मयता यहाँ तक पहुँची थी कि वे हाथ या सिर हिलाकर, होठ और भावों की भंगिमा बदल-बदलकर न केवल अनुमोदन कर रहे थे, बल्कि वक्ता के अमूर्त्त विचारों को मानो मूर्त्त क्रियाओं में अनुवादित भी करते जा रहे थे। शेखर सहसा अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर सका—क्योंकि वह किसी तरह भी अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पा रहा था, बल्कि वक्ता पर कुढ़ भी रहा था। धुँधला-सा ज्ञान उसे रहा कि वक्ता ने प्रस्ताव का रूप ले लिया है—कि प्रस्ताव का आशय यह है कि ब्राह्मणों में वर इतने दुर्लभ हो रहे हैं कि कुमारियों के विवाह की भीषण समस्या उपस्थित हो गई है, अतः उनकी सहायता के लिए और उन माता-पिताओं के निस्तार के लिए सुधार-सभा एक कमेटी बना दे, जो ब्राह्मण-कुमार-विवाह-प्रबन्धक-समिति कहलाए, और जिसका सबसे पहला काम हो प्रान्त भर के विवाह-योग्य ब्राह्मण कुमारों की एक सर्वाङ्गपूर्ण सूची तय्यार करके प्रकाशित करना, जिससे किसी जरूरतमन्द पिता को अपनी कन्या के लिए उपयुक्त वर का पता मिल जाए और साथ ही अन्य ज्ञातव्य सूचनाएँ भी—आयु, आय, कुल, गोत्र, पिता की आय, पद, रंग-रूप, रुचि व्यसन, कैसी कन्या पसन्द है, भविष्य के लिए प्लान इत्यादि...इस प्रकार की वार्

ी सुविधा हो जाएगी, कितनी दौड़-धूप, कितना कष्ट और व्यय बच जाएगा ! पेश भी हो गया, मत लिये बिना सर्वसम्मति से पास भी हो गया...शेखर ने र की एक लम्बी साँस ली और अगले वक्ता की प्रतीक्षा करने लगा, जिसका य देने के लिए लाला अमोलक राय खड़े हुए थे। एकाएक चौंककर उसने जाना तने सब प्रशंसात्मक विशेषणों के साथ जिसे बखाना जा रहा है, वह शेखर ही है ! का मन और भी डूब गया; पर किसी तरह साहस बटोरकर (उस समय उसके साहस बटोरना मीटिंग के अनुभवों की छाप को बिखेरने का ही पर्याय था !) आगे आया और पहले से तय्यार की हुई योजना के अनुसार अपनी बात कहने लगा। ारम्भ करते ही अगली कतार में दो-एक व्यक्तियों की कानाफूसी और उसके बाद एक द्वारा अमोलक राय से कहा हुआ वाक्य, 'लड़का तो अच्छा मालूम होता है; लालाजी, बधाई—' सुनकर उसे कुछ ढाड़स भी हुआ और कुछ उलझन भी, पर जिस वीर भाव से नया साधक सब प्रलोभनों को दुतकार कर मन बाँधता है, कुछ उसी भाव से शेखर अपने प्रतिपाद्य से चिपटा रहा....

किन्तु तपोबल से अपनाया हुआ अन्धापन भी दूर होता ही है—उर्वशी और तिलोत्तमा को देखकर नहीं, ऊब से फैले हुए जमुहाए मुख-विवरों को और तिरस्कार से कुंचित भनों को देखकर ! एक क्षण ऐसा आया कि शेखर समूची सभा की उपेक्षा की ओर अनदेखी नहीं कर सका—अपनी बात की गति दूनी तेज करके भी नहीं....तब जैसे उसका मन एक साथ ही दो-तीन स्तरों पर काम करने लगा, और उसकी स्मृति भी मानो पूर्वापर का ज्ञान छोड़कर कई एक बातों या घटनाओं को साथ मिलाने लगी... सभा के बाद अँधेरे होते हुए कमरे में बैठा हुआ प्रत्यत्नलोकी शेखर किसी तरह भी इस उलझन के तार अलग न कर सका—क्या पहले हुआ, क्या बाद में, वह नहीं निश्चय कर पाया; एक साथ ही वह सुनने लगा कि शेखर मनुस्मृति के उद्धरण दे रहा है, कोई कह रहा है (या कह रहे है ?) 'लड़का राजी है, लड़की का बाप राजी है, तो बाबा हमें क्या ? शादी करो, छुट्टी करो, हमारी क्यों मिट्टी-पलीद करते हो ? पण्डितजी आप तो आप, यहाँ तो मनु की मिट्टी-पलीद है ! विलायती पढ़ाई जो न करे सो थोड़ा ! आखिर ईसाई लोग पढ़ाएँगे तो हिन्दू-धर्म का आदर रहेगा कैसे—वे हिन्दू धर्म का प्रचार करने थोड़े ही आए हैं ? लालाजी ने यह नहीं सोचा होगा ! खत्री लड़की ब्राह्मण लड़के से शादी करेगी—ब्राह्मण लड़का मनु की नाक काटेगा ! चाल तो लालाजी की खूब थी, पर आखि ब्राह्मण क्वाँरियों के भाग्य तगड़े हैं—शेखर मालिनोवस्की का प्रमाण देता है, अमोल राय का नाम सुनता है; या कि अमोलक राय का प्रमाण देता है और मालिनोवस्की लड़की की बात सुनता है; याकि दोनों याकि कोई नहीं—वह कुछ समझ नहीं पा थोड़ा-सा जानता है कि उस सभा में कहीं वह खो गया है, पर असल में मंच पर होकर बोल रहा है याकि मंच खो गया है और वह सभा में है, याकि सभा खो ग और मंच—तब एकाएक जलता हुआ एक बाण शेखर की चेतना की ढाल को बेध

है और वह सब समझ जाता है—अमोलक राय की कन्या विवाह योग्य है, और वे खत्री हैं, पर ब्राह्मण जमाई पाकर प्रसन्न ही होंगे; और समाज-सुधारक ससुर को समाज-सुधारक दामाद मिल जाए तो और क्या चाहिए—सम्बन्ध का सम्बन्ध, सुधार का सुधार !—और वह खड़ा है इस सब जाननेवाली भरी सभा के आगे घोषित करने को कि देखो, मैं शेखर उल्लू बनाया जा रहा हूँ और इसके लिए मनु प्रमाण है, मालिनोवस्की प्रमाण है....

घुप्प अच्छा है, तेजाब की चुभन अच्छी है, केंचुल की मरी बदरंग ठण्डी चिकनाहट अच्छी है, सबको घुस आने दो इस चौवल्ले की कब्र में—समाज-सुधारक शेखर !

उस खण्डित अवस्था में लोंदे-सा शेखर सब कुछ के लिए तय्यार था; तय्यार नहीं था तो उसी बात के लिए जो हुई—किसी ने दरवाजा खटखटाया और बिना उत्तर की प्रतीक्षा के भीतर चला आया—हड़बड़ाकर उठते हुए शेखर ने देखा कि एक अपरिचित व्यक्ति के साथ सामने खड़े हैं—*लाला अमोलक राय !*

नैसर्गिक विनय ने कहा कि बत्ती जला ले, पर विनय शेखर को अपने साथ अन्याय लगा। उसने कहा, "कहिए ?"

लाला अमोलक राय ने कुछ आहत स्वर में उत्तर दिया, "आप तो बहुत नाराज जान पड़ते हैं ?"

"मेरी क्या नाराजी—"

"आप थक गए मालूम होते हैं—लाइए, मैं बत्ती-वत्ती जला दूँ—"

शेखर ने जल्दी से बत्ती जलाकर एक ओर रख दी और बोला, "बैठिए !"

लाला बोले, "ये स्वामी हरिहरानन्द हैं। हम लोग आपसे मीटिंग के बारे में बात करने आए हैं—"

शेखर ने देखा कि नवागन्तुक गेरुआधारी हैं, और मुंडी हुई चिकनी खोपड़ी के कारण उनके तैलाक्त गाल फूले हुए मालूम होते हैं। अधूरा-सा प्रणाम करते हुए उसने पूछा, "*मीटिंग की क्या बात ? मीटिंग तो हो चुकी*—"

स्वामीजी बोले, "कर्म अपने-आप में पूरा नहीं होता, उसका फल भी होता है। मीटिंग से जो सिलसिला चला था वह...." इसके बाद वे ऐसे रुक गए, जैसे ज्ञान के इस चारे को पगुराना आवश्यक हो।

लाला ने कहा, "आपकी स्पीच से तो मीटिंग में तहलका मच गया। मैं तो आपको बड़ी आशा से ले गया था—"

शेखर ने भभककर कहा, "आशा ? मुझे आपने अच्छा बेवकूफ बनाया। यही बात थी तो—"

"क्या बात—कैसी बात—मैं तो बिलकुल शुभेच्छा से आपको ले गया था, लोग तो बकते हैं—"

स्वामीजी ने समर्थन किया, "हाँ, बेटा, लोगों की तो आदत होती है, ईर्ष्या से जलते हैं।"

शेखर ने रुखाई से कहा, "अच्छा जाने दीजिए। अब तो खत्म हुई बात—"

"मीटिंग को बात छोड़िए, अब आपसे हमारा परिचय हो गया है तो उसे पुष्ट रना चाहिए—"

"यह आपकी कृपा है। मैं तो जंगली आदमी हूँ, अकेला रहने का आदी हूँ—मुझसे परिचय से क्या लाभ—"

"समाज में रहना तो हर आदमी का कर्त्तव्य है; बल्कि समाज के बिना कोई जी ही कैसे सकता है—"

"मुझे तो समाज के बीच में जीना ही कठिन मालूम होता है—उतना ही कठिन जितना डिब्बे के 'वैकुअम' में ! अकेले रहना तो बहुत आसान है—रहे, सो रहते चले गए !"

"माना कि आप असाधारण व्यक्ति हैं। पर असाधारण आदमी भी—"

स्वामीजी ने बात काटकर कहा, "क्यों असाधारण ? हर बात में असाधारण की दुहाई देने से नहीं चलता। मैं कहता हूँ, सब आदमी साधारण हैं, और होने चाहिए।"

शेखर ने कहा, "मैंने तो असाधारण होने का कभी दावा नहीं किया ; मैं साधारण हूँ और साधारण ही बना रहना चाहता हूँ—आप ही मुझ पर असाधारणता का जामा लादकर मेरी जान मुसीबत में डाल रहे हैं—"

स्वामीजी ने दुहराया, " सब कोई साधारण हैं। और कोई खास बात किसी में हो भी तो क्या ? उसके सहारे जिया नहीं जा सकता। आपकी नाक लम्बी है तो क्या आप पाखाने नहीं जाते ? नाक कट भी जाए तो भी आदमी जी सकता है ; पाखाने जाए बिना नहीं जी सकता। इसीलिए सब कोई साधारण हैं।"

शेखर को इस आदमी से, उसके तर्क से, और उसके बात को दुहराने के ढंग से विराग हुआ। उसने बहस से बचने के लिए कहा, "आप ठीक कहते हैं।"

"इसीलिए कहता हूँ, समाज जरूरी है। आप समाज में जाइए, नाक फिर भी लम्बी रहेगी। (शेखर ने चाहा, स्वामीजी से कहे कि वे अपना वाक्य सुधारकर क कि 'आप पाखाने जाइए, नाक फिर भी लम्बी रहेगी,' पर चुप रहा)—क्यों, आप सहम नहीं हैं ?"

शेखर कुछ बोला नहीं, वह चाहता था कि बात किसी तरह खत्म हो और ये जाएँ !

'आप उत्तर नहीं देते। मन में सोचते होंगे कि इनको बकने दो। नौजवानी अहंकार सबमें होता है। मुझमें भी था—उसका नतीजा यह देख लीजिए—"

शेखर ने अबकी बार कुछ दिलचस्पी से हरिहरानन्द की ओर देखा।

"मैं संन्यासी हूँ, गेरुआ पहने हूँ। आप संन्यास का अर्थ जानते हैं। पर मैं स इसलिए नहीं हूँ कि मैंने सब छोड़ा है, इसलिए हूँ कि सब कुछ मुझसे छिन गया सब अहंकार के कारण। अहंकार ही खाता था; फिर वह भी टूट गया। मैं प्रचा

फिरता है, पर यह गेरुआ झण्डा नहीं है, फ़क़ीरी है। मिट्टी के रंग की—जो मिट्टी सब कुछ ढक देती है। सब कोई साधारण होते हैं—"

स्वामीजी की इस स्वीकारोक्ति की स्पष्टता शेखर को छू गई। उसने कुछ नर्म पड़कर कहा, "मैं अहंकार के कारण चुप नहीं, चुप इसलिए था कि कुछ कहना नहीं है। मैं अपनी अकिंचनता जानता हूँ। पर अकिंचन हूँ, इसलिए अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारूँ, यह तर्क मेरी समझ में नहीं आता।"

"लालाजी आपके शुभचिन्तक हैं। वे जो कहते हैं, ठीक कहते हैं। प्रतिमा का हौवा नहीं बनाना चाहिए, सब कोई साधारण होते हैं और इसलिए विवाह ठीक बात है।"

"मैं कब कहता हूँ कि ठीक नहीं है। पर मुझे अभी नहीं करना है, और किसी के कहने से नहीं करना है। चाहता ही नहीं, चाहता भी तो योग्य नहीं हूँ।"

"क्यों ?" लाला ने कुछ आशा से पूछा।

"पचास बातें हैं। पर छोड़िए उन्हें—"

"आखिर कुछ तो बताइए—"

"नहीं, रहने दीजिए। अभी विवाह की बात सोचना आफ़त मोल लेना है।"

एकाएक हरिहरानन्द ने उत्तेजित स्वर में कहा, "ठीक है, आफ़त मोल लेना है। तो है हिम्मत—बढ़ो आगे और लो आफ़त सिर पर—"

शेखर ने एक बार फिर ध्यान से हरिहरानन्द की ओर देखा, फिर बोला, "क्षमा कीजिए, मैं थका हूँ। यह बहस तो समाप्त होगी नहीं, मैं अपने मन की बात आपसे कह चुका हूँ।"

आखिर लालाजी का आसन हिलता देखकर उसने तसल्ली की साँस ली....



शशि से दुबारा मिलने पर शेखर ने मीटिंग की सारी कहानी उसे सुना दी, और मीटिंग के बाद अमोलक राय और हरिहरानन्द से हुई बातचीत भी। शशि पहले चुपचाप सुनती रही, फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर कुछ गम्भीर होकर उसने पूछा, "बहुत दुःखी हुए थे तुम ?"

शेखर ने झिझकते हुए कहा, "उस समय तो काफ़ी क्षोभ हुआ था। अब सोचता हूँ कि तुम्हारी तरह मैं भी क्यों न हँस सका—"

शशि फिर हँसने लगी।

थोड़ी देर बाद शशि ने पूछा, "वे लोग फिर आएँगे ?"

"सन्देशा तो है। पर मैंने उनको बात मन से बिलकुल निकाल दी है।"

"बिलकुल ? अच्छा, एक बात पूछूँ, शेखर ? उन दोनों की फि[illegible] सार मिला ?"

"सार ? किसी में नहीं—किस बात में—?"

"कि 'बढ़ो आगे और लो आफ़त सिर पर'—"

शेखर एक क्षण शशि की ओर स्थिर भाव से देखता रहा। फिर बोला, "हाँ, कुछ तर्क था तो मेरे जैसे लोगों के मन के अनुकूल, पर—" एकाएक कुछ चौंककर—"शशि, तुम्हारा अभिप्राय क्या है?"

शशि चुप रही। शेखर ही फिर बोला, "तुम्हें भी इस ब्राह्मण कुमार के भविष्य की चिन्ता है क्या?"

"हाँ, कुछ है तो। सचमुच, तुम शादी क्यों नहीं कर लेते—"

"शशि!"

थोड़ी देर सन्नाटा रहा। फिर शशि कहने लगी, "पिताजी मुझसे कहते थे, तुम्हें समझाऊँ। समझाने की तो बात क्या है, पर तुमने जिस तरह अपने को संसार से अलग खींच लिया है, इस तरह आदमी बहुत देर तक काम का रहेगा, इसमें मुझे सन्देह होता है। इससे यथार्थ पर तुम्हारी पकड़ छूट जाएगी—"

"यथार्थ पर मेरी—या मुझ पर यथार्थ की?"

"एक ही बात नहीं है क्या? यों कहो कि यथार्थ का और तुम्हारा सम्बन्ध-सूत्र टूट जाएगा—"

शेखर ने जैसे एकाएक बहुत-सा साहस बटोरकर कहा, "देखो, शशि, हम लोगों ने इस ढंग की बात कभी की नहीं, पर तुम सच-सच बताओ, तुम्हीं ने शादी में क्या पा लिया है?" फिर शशि के मुँह पर वेदना की हल्की-सी रेखा देखकर—"मैं तुम्हें कष्ट नहीं देना चाहता, पर—"

शशि ने सुस्थ होकर कहा, "नहीं, मैं समझती हूँ। पर मेरी बात उदाहरण नहीं बन सकती—मेरे ब्याह की तो बुनियाद ही और है। मैंने ब्याह किया नहीं था, मेरा तो ब्याह हुआ था। ब्याह करके कुछ पाने का प्रश्न मेरे आगे नहीं था; पाना तो"—वाक्य अधूरा ही रह गया।

थोड़ी देर बाद शेखर ने कहा, "पर फिर मेरे लिए परिस्थिति भिन्न कैसे हुई—मेरे लिए भी तो....या क्लेश पाना ही अगर पाना हो तब तो—"

"नहीं, वह मैं नहीं कहती। तुम्हें एक साथी खोजना चाहिए, जो बराबर साथ चल सके, साथ क्लेश भोग सके और साथ सुख पा सके—क्लेश या सुख बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात साथ की है—साझा करने की क्षमता को!"

"शादी करने से यह सब मिल ही जाएगा, इसका क्या प्रमाण है? और विशेषकर ब्राह्मणकुमार बनकर—"

"प्रमाण नहीं है, यह मैं जानती हूँ। और मैं नहीं कहती कि वैसे ढंग से शादी करो। मैं इतना ही कहती हूँ कि अगर ठीक साथी तुम्हें मिल सके तो—"

शेखर ने संक्षेप से कहा, "तो छोड़ो इस बात को—अगर वैसा कोई मिलेगा तो

देखी जाएगी। यह स्पष्ट है कि ढूँढ़ने से वह नहीं मिलेगा—मिलेगी; राह चलते
जाएगी तो मिल जाएगी, तब आँचल पसार लूँगा, बस?"

एकाएक उसने देखा कि शशि का ध्यान उसकी बात की ओर होकर भी
उसकी बड़ी-बड़ी आँखें किसी बड़ी दूर के पथ पर कोई दृश्य देखती हुई और भी
गई हैं, मानो उस दूर दृश्य के अर्थ का अभिनन्दन करने को उसकी आत्मा द्वार खो
है....शेखर ने भी कुछ सोए-से पर साथ ही कुछ कौतुक भरे स्वर में कहा, "मो
राह चलते मोती मुझे मिलेगा, तब मैं कोई प्रश्न नहीं पूछूँगा, संशय नहीं करूँगा,
नहीं बाँधूँगा। जो देवता देते हैं....",

शशि बिलकुल नहीं सुन रही थी। शेखर ने जान-बूझकर उसे चौंकाने के लिए क
"जो देवता देते हैं, उसके लिए शास्त्रों की भी साक्षी क्यों माँगी जाए?"

शशि ने सहसा जागकर कहा, "क्या?"

उनकी आँखें मिलीं और जैसे जकड़ी गईं। शेखर ने बलात् कल्पना कहकर उसे
निकाल देना चाहा, पर फिर भी वह देखता रहा कि उन खुले कपाटों के पीछे आलोक
है, उस आलोक के भीतर गहरी वेदना है, उस वेदना के भीतर और गहरा आहत
आलोक—

और इस इतने अपलक काल तक उसके भीतर किसी गुम्फा में प्रतिध्वनि गूँजती रही,
'साक्षी क्यों माँगी जाए....साक्षी क्यों माँगी जाए...

●

एक विचित्र शान्ति उसके मन पर छा गई और वह लगन से पढ़ने और लिखने
लगा। सुधार-सभा वाले लेख का परिष्कार; दो नए निबन्ध, दो कहानियाँ—इतना सब
काम समाप्त करके जब उसने साँस ली, तब सभावाली घटना को लगभग दो सप्ताह हो
गए थे; और शशि को आए भी दस दिन—इन दस दिनों में शेखर ने होटलवाले लड़के
के सिवा किसी को नहीं देखा था; केवल एक दिन नीचे तीन तल्लेवालों के दो बच्चे न
जाने किस बाल-सुलभ विश्वास के साथ उसके पास चले आए थे, "आपको पतंग बनानी
आती है?" शेखर के स्वीकार करने पर वे कह गए थे, "अच्छा, हमको पैसे मिलेंगे तो
हम कागज ले आएँगे—हमें पतंग बना दीजिएगा, जरूर।" शेखर ने हँसकर वचन दे
दिया था, और साथ ही यह भी पता लगा लिया था कि किसको कितने पैसे मिलेंगे; कितने
र और खर्चों में खर्च हो जाएँगे और कितने मञ्जा तय्यार करने में—पसन्द मगर
ब लेकर स्वयं पतंग न बनाई जाएगी तो केवल एक पतंग आ सकेगी और वसन्त-
मी के दिन एक-एक पतंग से क्या होगा?

वसन्त-पंचमी....क्यों न शेखर स्वयं उन बच्चों के लिए सब सामान ला दे और उनके
और परिश्रम बचा दे? वसन्त-पंचमी....पर पैसे कहाँ हैं? और होटल का बिल और
ड़ा....

शेखर ने निश्चय किया कि जो कुछ लिखा है, सब पत्रिकाओं को भेज देगा और सब से पारिश्रमिक माँगेगा—कोई तो कुछ देगा ही....पर सब रचनाएँ लौट आईं। सबके साथ प्रशंसात्मक पत्र थे। शेखर यह विरोधाभास पहले नहीं समझ सका, पर अन्त में एक सम्पादकीय पत्र के अस्पष्ट संकेत से जान गया कि जो मुफ्त अच्छा है वह पारिश्रमिक का भी अधिकारी ही है, ऐसा नहीं है....उसने दुबारा उद्योग करने की ठानी, पर डाक-महसूल का भी जुआ खेलने की उसकी सामर्थ्य नहीं थी। एक बार उसने सोचा कि पुराने ही लिफाफे का पता काटकर फिर भेज दे, पर नए पत्र के सामने पहले से ही यह स्वीकार कर लेना कि रचना और कहीं से लौटकर आई है, कुछ बुद्धिमानी नहीं जँची.......अन्त में उसने रचनाएँ स्वयं लेकर स्थानीय सम्पादकों के द्वार खटखटाने की ठानी।

'हमारा समाज' वाले ही चक्कर की आवृत्ति फिर हुई, अबकी बार कुछ और करुण रूप में, और कुछ अधिक निष्परिणाम....केवल एक साप्ताहिक के सम्पादक ने उससे वसन्त-पंचमी के विषय पर कहानी या कविता माँगी, क्योंकि पत्र का विशेषांक निकलनेवाला था। शेखर ने अपना पुराना निश्चय याद किया कि फरमाइशी साहित्य वह कभी नहीं रचेगा; पर फिर सोचा कि जो फरमाइशी है, उसे साहित्य कहने की कोई बाध्यता नहीं है और जो साहित्य है, उसे तराजूबाट से ऊपर रखने के लिए आवश्यक भी है कि रोटी कमाने का साधन दूसरा हो....उसने कहानी लिखना स्वीकार कर लिया और पारिश्रमिक के बारे में इतना आश्वासन पर्याप्त समझा कि 'रचना पर विचार किया जाएगा, जो कुछ पत्रंपुष्पं—'

किन्तु वैसी रचना आसान नहीं थी। घण्टों अपने साथ युद्ध करके भी शेखर वसन्त-पंचमी पर कहानी नहीं लिख सका; और बार-बार उसका परास्त और कुंठित मन तीन-तल्लेवाले बच्चों और उनकी पतंग की माँग की ओर जाने लगा....वसन्तोत्सव....पतंगोत्सव....वह कल्पना में देखता, वह पतंग और डोर और चरखी और मंझा सब ले आया है, और बच्चे किलकारियाँ मारते हुए छत पर कूद रहे हैं; और शेखर उन्हें सिखा रहा है कि पतंग कैसे उड़ाएँ—वह जानता हो, यह नहीं है, पर उन बच्चों के सामने वह 'जानकार' जो है....और फिर उसकी कल्पना की पतंग कट जाती, और यथार्थ की सूनी चरखी घुमाता हुआ वह सोचता कि वसन्त-पंचमी की कहानी और होटल का बिल.... एकाएक उसे ध्यान आया, क्यों न यही बात वह कहानी के रूप में लिख दे? यह विचार उसे ओछा लगा; कुछ उन बच्चों के साथ विश्वासघात भी लगा, पर हिन्दी में नित्यप्रति ऐसी चीजें छपती हैं, और अगर वह उसे साहित्य मान लेने की भूल नहीं करता, तो क्या हर्ज है? फरमाइशी काम है अनासक्त भाव से श्रमिक की तरह वह पसीने की रोटी कमाता है तो क्या बुरा है....इस तर्क से उसकी तसल्ली नहीं हुई, फिर भी उसने कहानी लिख डाली—नाम रख दिया 'पतंग-पंचमी'।

सम्पादक ने एक बार शीर्षक और एक बार शेखर का चेहरा देखकर कहा, "आप बड़े उत्साही युवक हैं—"

शेखर ने संक्षेप से कहा, "जी।"

सम्पादक ने रचना एक ओर रख दी, फिर शेखर की ओर यों देखा, मानो उपयोगिता समाप्त हो जाने के बाद किसी वस्तु का जहाँ-तहाँ पड़े रहना उनकी व्यवस्था-बुद्धि को पसन्द नहीं है।

शेखर ने जान-बूझकर रूखे स्वर में कहा, "और मेरा पारिश्रमिक ?"

सम्पादक ने अत्यन्त विस्मय जताते हुए कहा, "पारिश्रमिक ? ओ—हाँ।' पारिश्रमिक तो हमारे यहाँ त्रैमासिक हिसाब के समय दिया जाता है—और अभी तो निर्णय—"

शेखर ने क्रोध दबाते हुए कहा, "निर्णय अभी कर लीजिए न ?"

सम्पादक ने शान्त और चिकने स्वर में कहा, "साहित्य तो बड़ी साधना चाहता है—"

एकाएक शेखर को लगा कि शिष्टाचार व्यर्थ है यानी फलप्रद नहीं है; और जो धर्मिक है, उसके लिए फल अनिवार्य है। बोला, "चाहता होगा जो साहित्य होगा। पर आप ऐसी चीज को साहित्य समझने की भूल करते भी हों तो मैं नहीं करता। जब साहित्य लिखूँगा तब साधना भी कर लूँगा, अभी तो अपना श्रम बेचता हूँ, नकद दाम चाहता हूँ।"

सम्पादक ने ध्यान से और नए विस्मय से शेखर को सिर से पैर तक देखा, फिर कहा, "देखिए, नियम तो मैंने आपको बता दिया, पर आपने मेरे अनुरोध से ही यह कहानी लिखी थी, इसलिए इसके प्रकाशित होते ही पारिश्रमिक की व्यवस्था करूँगा।" फिर खाँसें काढ़कर "पर आप जानते हैं, हमारी परिस्थिति....केवल पत्रंपुष्पं—"

शेखर ने अनमने-से स्वर से कहा, "धन्यवाद!" और लौट चला....

एक और चक्कर में जब वह युगान्तर साहित्य मन्दिर की ओर जा निकला तो उसने सोचा, 'हमारा समाज' का भी हाल पूछता चलूँ। संचालक महोदय स्वयं उपस्थित थे, शेखर को देखकर बोले, "आप अच्छे आये—मैं सोच रहा था कि किसी को आपके यहाँ भेजूँ—"

"क्यों, कुछ विशेष बात है—"

"नहीं, यों ही"—अर्ध-निमीलित नेत्रों से वे कुछ देर शेखर को देखते रहे, फिर बोले, "बात यह है कि—असल में—मैंने वह पुस्तक दो-एक विशेषज्ञों को दिखाई है, उनकी राय है कि उसमें कुछ संशोधन आवश्यक है—"

शेखर ने विनीत भाव से कहा—"हो सकता है। मैं केवल अध्येता हूँ, विशेषज्ञ नहीं हूँ। क्या-क्या संशोधन उन्होंने सुझाए—"

"देखिए, यह तो मैं जबानी नहीं बता सकता, पर यह समझ लीजिए कि परिणाम-वाले परिच्छेद उनकी राय में ठीक नहीं हैं और बदले जाने चाहिए—"

"यह तो आमूल परिवर्त्तन हो गया। इतना बड़ा परिवर्त्तन तो लेखक—"

"मेरा तो विचार है कि आप सब परिवर्त्तन करके उनकी अनुमति से उनका नाम भी दे दें तो अच्छा हो; उनके सम्पादकत्व में किताब छपेगी तो बिक्री भी निश्चित है और—"

"वे सज्जन हैं कौन?"

प्रश्न का उत्तर न देते हुए संचालक फिर बोले, "अन्तिम परिच्छेद बदलने में समय नहीं लगेगा—"

"किन्तु तथ्यों से जो परिणाम निकलते हैं, उन्हें बदला कैसे जाए? परिणाम तो–"

"परिणाम तो अपना-अपना मत है। एक ही तथ्य से पाँच परिणाम निकल सकते हैं, सब दृष्टिकोण की बात है। और जब परिणाम बदल जाएँगे तो तथ्य—"

शेखर ने आग्रह से कहा, "तथ्य से परिणाम निकलते हैं कि परिणाम से तथ्य? जो तथ्य हैं, उनकी अनदेखी तो नहीं हो सकती—"

"तथ्य आखिर क्या है। जो कुछ है सब तथ्य है। जो नहीं है, वह भी तथ्य है—उसका न होना तथ्य है? आदमी अपनी रुचि के अनुसार तथ्य चुनता है, फिर उन तथ्यों से परिणाम निकालता है, अतः परिणाम भी रुचि द्वारा नियमित हुए न?"

"अच्छा, ऐसे ही सही। तब फिर मैंने अपनी रुचि के तथ्य और परिणाम पुस्तक में रख दिए, संशोधन का प्रश्न ही कहाँ रहा? पर मैं तो यही कहता हूँ कि तथ्य तथ्य है, और मेरी समझ में जो परिणाम मैंने निकाले हैं, वे अनिवार्य हैं।"

संचालक ने कुछ दृढ़ता के साथ कहा, "यह तो आपका हठ है। रुचि अपनी होती है, पर रुचि का परिष्कार भी तो हो सकता है। और समाज की आलोचना बड़े दायित्व का मामला है—हम तो विशेषज्ञों की राय अवश्य लेते हैं। आपके लिए तो बड़ा अच्छा अवसर है—पुस्तक के साथ योग्य सम्पादक का नाम होगा तो बिक्री भी होगी और भविष्य के लिए मार्ग खुल जाएगा—आपको तो कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने इतने परिश्रम से परिवर्त्तन कर दिया है—"

शेखर ने चौंककर कहा, "कर दिया है? पर आपको पहले मुझसे पूछना तो चाहिए था? आखिर वे विशेषज्ञ हैं कौन?"

"बड़े अनुभवी विद्वान् हैं और समाज-सेवा तो उनके जीवन का व्रत है—"

"आखिर नाम तो बताइए—"

"लाला अमोलक राय—"

शेखर ने रुक-रुककर प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुए कहा, "मेरी पुस्तक ज्यों की त्यों छपेगी—अपने तर्क और मत के लिए मैं उत्तरदायी हूँ।"

"पर हम तो विद्वानों की राय के विरुद्ध—आप जानते हैं, प्रकाशक के उत्तरदा
का मामला है—हम तो आपके हित—"

शेखर ने पूछा, "क्या आप यह कहना चाहते हैं कि बिना परिवर्तन के आप पुस
नहीं छापेंगे ?"

"देखिए—हमारी असमर्थता—यह आवेश में आने का मामला नहीं है—"

"तो आप मेरी हस्तलिपि लौटा दीजिए—"

"आप सोचकर देखिए—"

शेखर ने दृढ़ता से कहा, "मेरी हस्तलिपि आप तुरत लौटा दीजिए—"

"आप तो मानते नहीं। मुझे बड़ा खेद हो रहा है—"

शेखर ने फिर कहा, "हस्तलिपि मुझे देने की कृपा कीजिए तो मैं जाऊँ—"

संचालक ने आवाज़ दी, "चपरासी !" एक सुस्त-सी मूर्ति सामने आकर खड़ी हो
गई।

"जाना लाला अमोलक राय के यहाँ से काग़ज़ ले आना—उन्हें कहना कि 'हमारा
समाज' के काग़ज़ दे दें—नाम याद रहेगा न 'हमारा समाज' ?"

"जी। 'हमारा समाज'।"

"हाँ।"

शेखर ने पूछा, "कितनी देर लगेगी ?"

"घण्टे डेढ़ घण्टे में आ जाएगा—"

शेखर वहाँ ठहरना नहीं चाहता था। बोला, "अच्छा, मैं दो घण्टे बाद आऊँगा—"
और उठकर चल दिया।

ऐसा आन्दोलित मन लेकर वह घर नहीं लौटना चाहता था, और बाहर उसे कोई
र काम था नहीं; शेखर निरुद्देश्य सड़कों और गलियों में चक्कर काटने लगा। केवल
क बार एक दुकान के बाहर कई एक चरखियाँ टँगी हुई देखकर वह थोड़ी देर रुक
ा और चरखियों को तथा दुकान के भीतर के अंधकार में धुंधली-सी दीखती हुई दो
हंडियों और कोने में पतंगों के ढेर की आकृति का अध्ययन करता रहा; फिर आगे
पड़ा। और एक जगह फलों की एक और दुकान देखकर उसे याद आया, जेल में
ाद्यतत्त्व पर एक पुस्तक पढ़ी थी और सोचा था कि वह फलाहारी हो जाएगा। कुछ
ुककर उसने दुकानदार से कन्धारी अनारों का भाव पूछा, सुना कि सवा रुपये
और एक अनार लगभग चौदह आने का होगा। उसके बाद वह और कहीं नहीं
ाढ़े चार बजे के लगभग वह फिर 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' पहुँचा; और वहाँ
हस्तलिपि लेकर, बिना एक शब्द बोले संचालक को सस्मित नमस्कार करके घर
...दिन बहुत छोटे हो गए थे, कुछ बदली-सी भी थी, और साढ़े चार बजे ही
लगा था कि दिन ढल रहा है....
ुँचकर शेखर ने हस्तलिपि नीचे पटक दी और चारपाई पर लेट गय

एकाएक उठा और हस्तलिपि उठाकर पन्ने उलटने लगा....उत्तरांश के कई पन्ने निकाल दिए गए थे और उसकी जगह नए पन्ने थे, किसी और हाथ के लिखे हुए—अक्षरों से स्पष्ट था कि हाथ कच्चा है, और शायद लड़की का है....शेखर ने झटककर उन पन्नों को अलग किया और दो टुकड़े करके फेंक दिया। फिर उसने देखा, कई पन्नों पर उसके लिखे हुए अंश काट दिए गए हैं और हाशिये में नया कुछ लिखा हुआ है। इन पन्नों को भी उसने झटककर अलग किया—पुस्तक की मूल असंशोधित लिपि तो उसके पास थी ही!—और उसी तरह दो टुकड़े करके एक ओर डाल दिया। फिर शेषांश को दो-एक बार उलट-पलटकर देखा, फिर एक खिन्न 'हुँः' के साथ उसे भी नीचे डाल दिया और पैर से पन्ना-पन्ना इधर-उधर बिखेर दिया।

एक बार उसने चारों ओर देखा, फिर चारपाई पर औंधे लेटकर तकिये में मुंह छिपा लिया।

तकिये के भीतर रुई का गुदगुदा अन्धकार—स्वागत, अन्धकार! तुम सूक्ष्म और अमूर्त नहीं हो, तुम्हारा आकार है, भार है, घनत्व है, तो और भी स्वागत!....शेखर को लगा, किसी तरह उसी अन्धकार में वह भी पिघलकर मिल जाए—तो—तो....

एक अन्धी-सी धुन्ध में वह उठा और धीरे-धीरे नीचे उतरकर फिर सड़क पर आ गया। क्रमशः ठिठुरते और संकुचित होते हुए दिन का फीकापन उसके भीतर जम गया, पर उसके बिना भी शेखर के अन्दर पर्याप्त अन्धकार था....अन्धकार और एकान्त—निर्लिप्त शून्य—विविक्त, अनासक्त, अन्धकार... किसी चीज में कोई अर्थ नहीं है; सब कुछ एक परिणाम है, जिसका आधारभूत तथ्य खो गया है....कारण से कार्य है, पर उद्देश्य न कारण का है, न कार्य का, अनुद्देश्य ही सत्य है....अनुद्देश्य, भ्रांति, भटकन....

वह क्या कर रहा है—कहां जा रहा है—पर कर रहा है और जा रहा है तो क्या हुआ? आगे और धुन्ध अभी बाकी है, और जमता हुआ अँधेरा आंखों में चुभता है तो आंखों को देखने से मतलब क्या है....जंगल में जब लोग खो जाते हैं तो अपने आप उनके पैर चक्कर काटने लगते हैं, चक्कर काटते ही वे मर जाते हैं। उसे कहीं जाना नहीं है, चक्कर काटना नहीं है। बर्फ से अन्धे हुए-हुए पहाड़ी बकरे की तरह वह सिर झुकाए लड़खड़ाता चला जा रहा है, चला जा रहा है। वह जानने लगा है कि उसकी इस उद्देश्यहीनता में छिपा हुआ उद्देश्य है; कि वह उद्देश्य पुनः उद्देश्यहीनता है, बुझ जाने की मांग है....

पीछे मोटर का हार्न बजता है, वह अनसुनी करता है, मोटर पास से निकल जाती है। हार्न फिर बजता है, शेखर फिर उपेक्षा करता है, वैसा ही बीच सड़क चलता जाता है। हार्न फिर बजता है, जोर से बजता है, धृष्टता से बजता है, ललकार से बजता है, धमकी से बजता है—

अनुद्देश्य, अनुद्देश्य; वह चला जा रहा है बीच सड़क—

एकाएक दो हाथों ने उसकी बांह पकड़कर जोर से उसे खींच लिया; ब्रेकों की चोख

को दबाती हुई एक चीख निकली, "बाबूजी !" शेखर ने आँख उठाई—एक स्त्री
जवान नहीं थी, सुन्दर नहीं थी। मोटर शेखर को छूकर सर्राती हुई निकल गई
दबने से जो सड़सड़ाहट उसमें आई थी, वह छिप गई और पालिश की झकझक को
में खो गई।

शेखर ने अत्यन्त चिड़चिड़े स्वर में कहा, "क्यों, तुम्हें क्या ?"
किसी को क्या—वह मरे, जिये, मोटर के नीचे आए, नदी में डूबे, आग में प
किसी को क्यों कुछ मतलब ?

स्त्री ने आहत विस्मय में कहा, "बाबूजी, मैंने तो—" और चुप रह गई।

शेखर की आँखें उसकी आँखों से मिलीं। नहीं, वह जवान नहीं थी। वह सुन्दर नहीं
ी। पर उसकी आँखों में वह आग्रह, वह वत्सल डर....

शेखर ने सहानुभूतिहीन स्वर में कहा, "बहिन, मुझे माफ़ करो—" और जल्दी से
मुड़कर घर की ओर चल पड़ा। किन्तु उसके पैरों की चाप आगे अब भी अर्थहीन ललकार
से दुहराती जाती थी, "किसी को क्या, किसी को क्या"....

सीढ़ियाँ चढ़कर कमरे की देहरी पर पैर रखते-रखते शेखर एकाएक ठिठक गया।
कमरा ज्यों का त्यों था, पर बत्ती जल रही थी और चारपाई के कोने में सिमटकर बैठी
हुई शशि एकटक उसकी ओर देख रही थी।

•

जाने कितनी देर तक कोई नहीं बोला, न हिला। फिर शशि ने कहा, "कहाँ थे,
शेखर ? मैं कब से बैठी राह देख रही हूँ....और यह सब क्या है ?" और फिर एकाएक
लपककर शेखर के पास आकर उसके दोनों कन्धे पकड़कर घबराए हुए स्वर में कहा—
"शेखर ! शेखर ! क्या हुआ—"

शेखर ने शशि की दोनों कलाइयाँ पकड़ लीं और मृदुल दबाव से उसे पीछे धकेलता
आ चारपाई तक ले गया; उसी मृदुल दबाव से उसने शशि को चारपाई पर बिठा
या। फिर धीरे से अपने कन्धे छुड़ाकर बिखरे हुए कागजों को रौंदता हुआ कमरे के
 जाकर स्वयं खड़ा हो गया, और क्षण भर बाद कागजों के बीच में भूमि पर बैठ
।

"कुछ नहीं, शशि; होना क्या था—"

शशि फिर उठकर शेखर के पास आ खड़ी हुई।

"बताओ शेखर ! यह सब क्या करने गए थे। और—और क्या करके आए हो ?"

सर चुप रहा। सामने खड़ी शशि के पैरों पर उसकी दृष्टि गड़ी रही।

कहो, शेखर ! तुम नहीं जानते कि अभी राह देखते-देखते मैं—"

य अधूरा छोड़कर शशि चुप हो गई। न जाने कितनी देर तक दोनों चुप और
रहे ; फिर कागजों में कहीं एक 'टप्' सुनकर शेखर चौंककर उठ खड़ा हु

किन्तु शशि की पीठ लैम्प की ओर थी, उसका मुख अँधेरे में था....शेखर ने एकाग्र दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कन्धे से पकड़कर शशि को घुमाना चाहा, पर उसके स्पर्श करते ही शशि का शरीर कठोर पड़ गया और वह हिली नहीं...शेखर ने एकाएक उसका कन्धा छोड़ दिया ; चारपाई के पास जाकर धप् से बैठा और फिर लेट गया; उसके बुझते मन ने जाना कि आगे कुछ गति नहीं है—उसकी आँखें अपलक छत को देखने लगीं—अनुद्देश्य, अनुद्देश्य, जड़ अनुद्देश्य—

शशि अपने आप आकर उसके सिरहाने खड़ी हो गई। एक अनिश्चित स्वर में उसने पुकारा, "शेखर ?" और उसके ऊपर को तनिक-सा झुकी—टप् से एक बूंद शेखर के माथे पर गिरी—

एकाएक शेखर ने हाथ बढ़ाकर उसे धीरे-धीरे नीचे झुका लिया, उसकी छाती में मुँह छिपाकर फूटकर रो पड़ा....उसका पिंजर बेतरह हिलने लगा, उसकी मुट्ठियाँ शशि के कन्धों पर जकड़ गईं। शशि एक शब्द भी बोले बिना वैसे ही उस पर झुकी रही, जैसे पहाड़ी सोते के ऊपर छायादार सप्तपर्ण का वृक्ष....

सप्तपर्ण की छाँह में से समीर काँपता हुआ जाता है, एक प्रच्छन्न शिथिलता अंगों में भर जाती है, छाँह के अमूर्त स्पर्श तले सब कुछ क्रमशः शान्त होता जाता है। एक रेशमी स्पर्श शेखर के बालों को सहलाता हुआ पूछता है, "अब बताओगे ?"

नहीं, जीवन में कोई उद्देश्य नहीं है, तो चुप रहने में, छिपाने में भी कोई उद्देश्य नहीं है, बात अगर नहीं छूती तो उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया भी नहीं छू सकती.... शेखर ने कहा, "गया था तब नहीं जानता था, पर चलते-चलते जान पड़ा कि आत्महत्या का उपाय खोज रहा हूँ।"

एक हल्की-सी सिहरन सप्तपर्ण को कँपा गई !

"क्यों, शेखर ?"

"यों ही ; समझ में आया कि मरने के लिए कारण ढूंढ़ना आवश्यक नहीं है, प्रमाण तो जीने के लिए चाहिए। जिसके जीने का स्पष्ट उद्देश्य नहीं है, उसका मर जाना तो स्वतः सम्मत है।"

चिन्तित और बहुमुख प्रतिवाद का स्वर—"शेखर !"

"पाने के लिए न जियो, देने के लिए जियो। माना ! पर क्या दो ? निरुद्देश्य, कारणहीन, अर्थहीन आत्मपीड़ा ? क्यों दो, किसके लिए दो ? अगर साध्य एक है जनमात्र का सुख, तो देय भी एक है सुख—नहीं तो कुछ नहीं है, सब धोखा है। और मैं देखता हूँ कि अपने होश के अठारह-बीस सालों में मैंने—" एक कँपाती हुई सिसकी, फिर उसकी शिथिल देह को हिला गई।

"मैंने किसी को सुख नहीं दिया; एक अहंकार के लिए जिया हूँ और सबको क्लेश देता आया हूँ—"

"तुम कैसे जानते हो, शेखर ?"

"नहीं जानता, यही जानना है। जिनसे स्नेह किया है, उन्हें भी कुछ नहीं
पूछा नहीं, पर क्या स्नेह इतनी भी बुद्धि नहीं देता कि कोई जान ले, जिसे स्नेह
उसे कुछ भी देता है कि नहीं?"

शशि ने धीरे-धीरे उठते हुए कहा, "शायद नहीं देता। नहीं तो तुम देख
वह धीरे-धीरे चलकर खिड़की के पास गई, क्षण भर चौखटे पर हाथ रखकर
देखती रही—एकाएक बूँदें पड़ने लगी थीं, जो खिड़की के चौखटे में घिरे हुए
आलोक में आकर पल भर चमक जाती थीं—एक शून्य में से आकर दूसरे में लीन
फिर उसने वहीं खड़े-खड़े घूमकर कहा, "और शेखर, क्या स्नेह ही देय नहीं है—
से बढ़कर देय?"

"हूँ, बहुत बड़ा देय है—पर इसीलिए कि वह इतना बड़ा सुख है। अगर स्नेह सु
नहीं देता, जलाता ही जलाता है, तो उसका भी दग्ध होना ही अच्छा—"

शशि जल्दी से फिर अपने स्थान पर लौट आई; शेखर के सिरहाने चारपाई के कोने
पर बैठती हुई कुछ डपटकर बोली, "चुप रहो, शेखर, तुम्हें कुछ पता नहीं है कि तुम
क्या कहे जा रहे हो।"

शेखर चुप हो गया, और वहीं लेटे-लेटे आँखें ऊपर उठाकर शशि को ओर देखने
लगा। शशि किसी ओर नहीं देख रही थी, ठीक सामने ही उसकी दृष्टि गड़ी थी, पर
उसने अवश्य जाना कि इस ऊपर देखने के प्रयास से शेखर के माथे पर त्योरियाँ पड़ गई
हैं, क्योंकि एक हाथ से वह उन्हें सहलाने लगी, जैसे कोई रेशमी कपड़े में से सलवटें
निकाल रहा हो। जब यह उद्योग सफल नहीं हुआ, तो उसकी उँगलियों ने बढ़कर
शेखर की पलकों को बलात् बन्द कर दिया—फिर वे वहीं टिकी रहीं, आँखों पर से हटीं
नहीं।

शेखर ने बहुत धीमे स्वर में कहा, "सुनो, शशि।"

शशि फिर उसके ऊपर किंचित् झुक गई।

"शशि, तुम क्या हो, कुछ समझ में नहीं आता—"

स्थिर स्वर से, "क्यों, शेखर?"

"कब से तुम्हें बहिन कहता आया हूँ, पर बहिन जितनी पास होती है, उतनी पास
तुम नहीं हो, इसलिए वह जितनी दूर होती है—उतनी—दूर भी तुम नहीं हो।" एका-
एक उसने शशि की उँगलियों को दोनों हाथों से अपनी आँखों पर जोर से दाब लिया,
मानो आँखें खुलने से कुछ अनर्थ हो जाएगा...

शशि की काँपती हुई आवाज में शेखर जैसे बाहर की वर्षा की अनवरत मार सुन
रहा था—"क्या अभिप्राय है तुम्हारा, शेखर?"

शेखर ने फिर दोनों हाथ उठाए, कनपटी के पास से शशि का सिर हल्के से पकड़
उसे अपने ऊपर झुका लिया, फिर बोला, "अभिप्राय मैं नहीं जानता, तुम्हें जान
और जानता हूँ कि जितने स्वप्न मैंने देखे हैं, सब तुममें आकर पुंज जाते हैं—"

शशि के झुकने में न अनुकूलता थी न प्रतिरोध; वह झुकी हुई थी पर स्तब्ध, निःशब्द थी....

वह स्तब्धता जैसे शेखर के प्राणों में भी समा गई; उसे लगा कि सब कुछ ज्यों का त्यों स्तिमित हो गया है; क्योंकि आगे और कुछ होने को नहीं है, सब कुछ वहाँ पहुँच गया है जहाँ कैवल्य है, क्योंकि निर्वाण है....यद्यपि, दूर कहीं, बादल की गर्जन थी और बूंदों का फूत्कार, और कौंध का वह प्रकाश, जो स्वयं भी कुछ नहीं दिखाता और बाद के अन्धकार को भी घना कर जाता है।

और शेखर के ऊपर थी सप्तपर्ण के तरुण गाछ की छाँह, जिसे दूर की कोई बहती साँस कँपा जाती थी; दूर दक्षिणी किसी समीर की साँस, क्योंकि उसमें स्निग्ध गर्माई थी, और जब-तब एक सोंधापन शेखर के नासा-पुटों को भर देता था—वह सोंधापन, ालय के प्राणद पहले स्पर्श में होता है....

सप्तपर्णी, मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं मानता। यह मिट्टी शायद अनुर्वर ही है, पर तुम्हारी छाँह में यह साँस उसे छूती हुई चली जाती है, तो उसे और कुछ नहीं चाहिए, वह जीती है...

एक सीमा होती है, जिससे आगे मौन स्वयं अपना उत्तर है, और सब जिज्ञासाएँ उसमें लीन हैं, क्योंकि वह परम अ-प्रश्न है....न जाने कब और कैसे शेखर की बाहरी शिथिलता उसके भीतर समा गई और वह सो गया—थोड़ी-थोड़ी देर बाद बिजली की कड़कन से कुछ चौंककर वह जागा, पर वह जागरण एक तन्द्रिल व्यामोह से आगे नहीं बढ़ा, और ऊपर छाए हुए सप्तपर्णी के सोंधे प्रच्छन्न आश्वासन में फिर लवलीन हो गया ...केवल एक बार जैसे उस द्रवित अवस्था में जीवन के ठोस ज्ञान ने व्याघात डालना चाहा, शेखर ने चौंककर कहा, "शशि, बहुत देर हो गई, तुम्हें वापस जाना है"—और मानो उठने का उद्योग किया, पर शशि हिली नहीं, उसकी निश्चलता में पौष की हिम-शीत वर्षा ने ही उत्तर दिया कि अब वापस जाने के लिए भी अधिक देर हो गई है; फिर शेखर ने कहा, "तुम थक जाओगी, शशि," और दुबारा उठने का उद्योग किया ताकि ढंग से बैठ जाए; पर शशि ने फिर एक हाथ से उसके उद्योग जड़ित कर दिए और उसने पाया कि उसके मन की संकल्प-शक्ति और पेशियों की प्रेरणा-शक्ति एक चिकने अमूर्त और सर्वथा स्वीकार्य बन्धन में बँधी है; फिर वह तन्द्रा पूर्ववत् छा गई और सप्तपर्णी की छाँह में अस्तित्व सो गया....

अवश्यमेव यह अरुणाली स्वप्न की है—वातावरण में स्फटिक की-सी शीतल स्वच्छता है, किन्तु उसमें रंग की स्निग्धता भी है—शेखर अपना सिर तनिक-सा उठा-कर अपने ऊपर छाए हुए सप्तपर्णी के गाछ को छूता है—क्या उसका माथा सप्तपर्णी के भीतर के जीवन-प्रवाह की नाड़ी देख सकेगा—उसके हृदय का स्पन्दन अनुभव कर सकेगा ?

शशि की आत्मा बोली—आत्मा का स्वर कितना कोमल होता है!—
हो, शेखर?"

"हूँ—"

"तुमने जो कुछ कहा था, वह याद है?"

"हाँ—"

"उसका अभिप्राय समझते हो?"

मौन बोला कि हाँ समझता हूँ।

"अब मैं भी कुछ कहूँ, सुनोगे?"

मौन ही फिर बोला कि सुन रहा हूँ।

"तुमने जो दिया है, उसमें लज्जा नहीं है। वह वरदान है, यह मैं भी बिना लज्
के देखती हूँ। वरदान में अस्वीकार का विकल्प नहीं है।"

"... ..."

"मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दे दिया है, अपने को, इह क
सकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसकी ओर मे
मैं कुछ नहीं कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ,
और—न कुछ दे सकती हूँ।" वह चुप हो गई, बहुत देर तक कोई नहीं बोला केवल
वातावरण का स्फटिक कुछ और शीतल जान पड़ने लगा—

"अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की—अपने हाथ से दिया—होम कर
दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—जल ही गया है। यह नहीं सोचा कि घोर।
खाया, मैंने स्पष्ट देखा था कि नहीं होगा।

शान्ति में कितनी व्यथा हो सकती है और स्वप्न के स्फटिक की लाली में कितनी
हिम-विजड़ित पराजय यही है सब कुछ का अन्त—स्वप्न का भी अन्त—

शशि की आत्मा ने एकाएक बल पाकर—जैसे नई आहुति से होमाग्नि दीप्त
हो उठे!—कहा "पर तुम से मेरा यह जीवन है, जो मैं हूँ जो मेरा मैं है।"

फिर एक विश्राम

"और वह मूर्त नहीं है इसीलिए कम सच नहीं है, कम जीना नहीं है। शेखर,
तुम मुझे बहिन, माँ, भाई बेटा कुछ मत समझो क्योंकि मैं—अब—कुछ नहीं हूँ।
एक छाया हूँ।" और फिर किसी आन्तरिक तेज से भरकर—"और अमूर्त होकर मैं—
तुम्हारा अपना-आप हूँ, जिसे तुम नाम नहीं दोगे।

फिर मौन, जिसमें वह लाल स्फटिक कौंधता-सा है—

"शशि, क्या इसमें—तुम्हारे लिए—सिद्धि है—सम्पूर्ति है?"

"सिद्धि! नहीं। मेरा जीवन न इतना सिद्ध था, न इतना हुआ—। किन्तु पी
पूर्णता नहीं है पर मैं सन्तुष्ट हूँ शेखर और सन्तोष का यह सुख है (

वह स्फटिक अरुणाली में घुल गया है, वह शीतलता स्वप्न की नहीं है, पौष के कड़कड़ाते वर्षा-धुले प्रत्यूष की है....शेखर ने एकाएक अपने को सप्तवर्णी की छाँह के नीचे से खींच लिया और उठ बैठा, चेतना की एक दीप्ति उसे सहसा पिछले दस घण्टों के जीवन-विकास की एक द्रुत झाँकी दिखा गई ; सहसा इस भावना से भरकर कि आज भोर की पहली किरण के साथ वह शशि को नए रूप में देखेगा, और कुछ बाल्य-काल में रटे हुए और हाल में दुबारा नए प्रकाश में पढ़े हुए वैदिक भावगीतों के श्रद्धा-भाव से आप्लावित होकर उसने स्थिर दृष्टि से शशि की ओर देखते हुए कहा, "मेरी आँखें पुनीत हों—"

शशि के खोए-से स्वर ने उसकी मनःस्थिति को भरपूर अपनाते हुए कहा, "और मेरा जागरण...."

शशि उठ खड़ी हुई थी, रात भर चारपाई के सेरुए पर जहाँ वह बैठी रही थी, वहाँ पड़ी हुई एक सलवट को उसने हाथ से सँवारा, फिर जाकर खिड़की के सामने खड़ी हो गई। चौखटे के साथ सटकर उसने दोनों बाँहें बाहर फैला दीं।

सप्तपर्णी के इस प्रतनु, लचकीले, पर उद्ग्रीव गाछ को देखकर शेखर का हृदय हठात् एक कृतज्ञ आशीर्वाद-भाव से उमड़ आया। खिड़की के चौखटे में जड़े हुए उस विमुख आकार को सिर से पैर तक एक वत्सल दृष्टि से छूकर उसने मन-ही-मन शब्दहीन प्रार्थना की, और प्रतीक्षा करता रहा कि आलोक की पहली किरण शशि की आकार-रेखा को कुन्दन से मढ़ दे....

अरुणाली का आश्वासन दीप्ति की यथार्थता नहीं बना, केवल एक फीका उजाला बनकर रह गया—दिन निकलते-निकलते बदली फिर घनी हो गई थी। शेखर न जाने किस विनोद-भरी उमंग से नीचे बिखरे हुए 'हमारा समाज' के पन्नों के मुख्यांश पर बैठ गया था; शशि वहीं खिड़की में खड़ी थी, पर अब शेखर की ओर उन्मुख।

"शशि, तुम अब भी गाती हो ?"

एक अन्तर्मुख, म्लान 'हुँह !' ने मानो कहा, "अब, गाना !" पर प्रकट शशि बोली, "अब मैं वापस जा रही हूँ।"

शेखर ने हाथ के इशारे से बिखरी हुई हस्तलिपि को एक घेरे में बाँधते हुए कहा, "हमारा सारा समाज प्रतीक्षा कर रहा है—" (फटा हुआ, चिथड़े-चिथड़े बिखरा हुआ समाज और लाला अमोलक राय सुधारक द्वारा संशोधित समाज !....)

शशि ने कहा, "गाए एक वर्ष हो गया—" पर इसमें प्रतिवाद नहीं था, केवल आग्रह की स्वीकृति थी, "अभी गाऊँगी नहीं, पाठ ही कर सकती हूँ—"

क्रमशः स्पष्टतर होती हुई स्वरलहरी से कमरा गूँजने लगा—

"अभयं नः करोत्यन्तरिक्षं अभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।

अभयं मित्रादभयममित्राद् अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तं भयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥"

किन्तु अपने आप ही शशि मुड़कर फिर खिड़की में प्रत्यभिमुख होकर खड़ी हो गई, और क्षण भर गुनगुनाने के बाद निष्कम्प किन्तु गूँजते स्वर में गाने लगी—सतेज और स्पन्दनशील प्रवाह के साथ, जैसे स्वस्थ धमनी में रक्त....

"आजि मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे !
पल्लवे-पल्लवे हिल्लोले-हिल्लोले थरथर कम्पन लागिलो रे ।
"................."
आजि मम अन्तर माझे
कोथा पथिकेर पद-ध्वनि बाजे
ताइ चकित-चकित घुम भांगिलो रे—
आज मर्मर ध्वनि केन जागिलो रे !"

उस स्वर को सुनते हुए, और उस सधी हुई पीठ के तरंगायित आरोह-अवरोह को देखते हुए शेखर का मन बहुत दूर चला गया । कितनी दूर लगता था वह समय, जब वह छिपकर शशि की उत्फुल्ल गीत-लहरी सुनने का यत्न किया करता था, जब वह स्तब्ध होकर उसका गाना सुना करता था—उसी से नहीं, शशि से भी कितनी दूर....तब वह सुखी थी—उस रुग्णहीन सुख से सुखी, जो स्वयं अपने अस्तित्व को नहीं जानता ; और आज यह जानती है कि सुख में भी वह सुखी नहीं है, केवल सन्तुष्ट है—सन्तुष्ट अर्थात् धैर्यवान्—अपने व्यक्तित्व के इस भंग, इस विभागीकरण को गौरव मानकर अपनाती हुई...

किन्तु यदि यही है, यदि शशि आज इस क्षण सन्तुष्ट भी है, तो क्या यही अब शेखर के जीवन का सबसे सार्थक क्षण नहीं है, क्योंकि इससे बड़ा सुख वह अब शशि को नहीं दे सकता ? और—और क्योंकि इस क्षण ने कल और आज के बीच में उसका जीवन बदल दिया है—

उसे याद आया कि रात ही एक अजनबी स्त्री द्वारा खींचकर बचा लिए जाने पर वह झल्लाया था और खीजता हुआ लौटा कि किसी को क्या—किसी को क्या....आज—आज किसी को दुख है—और वह जानता है कि किसी को दुख है . .

तब जो कल वह करने जा रहा था, क्या उसका उचित समय आज नहीं है—इस क्षण नहीं है ? सिद्धि और सन्तोष के दिये हुए और पाए हुए सुख में बुझ जाना—कितनी बड़ी सिद्धि !... अगर वह अभी चुपचाप खिसक जाए, कानों में शशि के गाने की चिरन्तन गूंज लेकर लुप्त हो जाए—

वह धीरे-धीरे द्वार की ओर खिसकने लगा, चौखटे को छूते ही सीधा खड़ा हो गया—

एकाएक शशि ने गाना बन्द करके कहा, "कहाँ, शेखर ?"

वह जड़ित हो गया । शशि ने घूमकर फिर पूछा, "कहाँ जा रहे थे ?"

शेखर कुछ नहीं बोला ।

"अभी तुम्हारा मन नहीं धुला ? शेखर, मैं कहती हूँ, तुम नहीं जाओगे ।"

घात में पकड़े गए चोर की-सी उद्धतता से शेखर ने कहा, "क्यों ?"

शशि ने अधिकार के स्वर में कहा, "'क्यों' नहीं है । मैं कहती हूँ, तुम नहीं जाओगे ।" फिर उतने ही स्थिर किन्तु सर्वथा बदले हुए स्वर में, "मेरी तरफ़ देखो, शेखर—मेरी आँखों की तरफ़ । क्या तुम मनमानी कर सकते हो—अकेले ही ?"

शेखर ने आँखें नीची कर लीं । परास्त भाव से कमरे में लौट आया ।

"क्या करूँ बताओ, क्या कहती हो—"

शशि ने हाथ के इशारे से एक मीठी फटकार देते हुए कहा, "अब बहुत समय है कहने-सुनने को । अब मैं चली—सवेरा हो गया है । पर अब कुछ पागलपन किया तो—" तर्जनी उठाकर उसने वाक्य अधूरा छोड़ दिया ।

शेखर ने कहा, "मेरी अकल को कुछ हो गया है—बिलकुल पागल हूँ ।" उसके स्वर में खिन्न लज्जा का भाव था ।

शशि ने विचारक के गम्भीर स्वर से, पर हँसती आँखों से कहा, "पागल—पागल तो नहीं; बहुत बड़ा बच्चा !" और सीढ़ियाँ उतर गई ।

शेखर 'हमारा समाज' के बिखरे पन्ने बटोरने लगा ।

एकाएक प्रातःकाल का भाव उसके मन में फिर उमड़ आया, और विस्मय से उसने अपने-आपसे पूछा कि उसके मनोभाव का प्रतिबिम्ब कैसे इतनी जल्दी शशि के मन में उदित हो आता है....इस जिज्ञासा से और भी पुष्टि हुई । कृतज्ञता से उसने फिर कहा, 'मेरी आँखें पुनीत हों....'

शशि ने जोड़ा था, 'और मेरा जागरण' । किन्तु जागरण तो मेरा है, शशि, जागरण तो मेरा है—मैं तुम्हारे पुण्यायन का जागरूक हूँ....

७

चतुर्थ खंड

धागे, रस्सियाँ, गुंझर

बदली और शीत, किन्तु दिन के प्राण सुन्दर हैं—सुन्दर और स्निग्ध, सद्य स्नात.... वह संगीतकार होता, तो आज के दिन की आत्मा को स्वरों की तूलिका से आँक लेता—चित्रकार होता तो उसका चित्र खोंचता; मूर्तिकार होता तो स्फटिक शिला में उसके प्राण को बाँधकर अमर कर देता—अमर नहीं, अमर तो वह स्वयं है, उसके आकार को मूर्त की परिधि में ले आता....क्योंकि आनन्द का भी आकार अवश्य होता है, जो बोध की उँगलियों से छुआ जा सकता है—मगर वह आकार मूर्त नहीं है, तो यह केवल शिल्पकार की रूप-सज्जा को स्वच्छन्दता देता है—आकृति और उत्कण्ठा दासियाँ बनकर उस रूप को सँवारती है—

शेखर लिखेगा। हो सका तो कविता लिखेगा, किन्तु कुछ भी लिखेगा अवश्य, क्योंकि जैसा धुला हुआ उसका मन आज है, वैसा उसे याद नहीं, इससे पहले कब था, और जिस जीवन-लहर का शिखर इतने युगों बाद पाया है, उसकी दूसरी उठान कब होगी, कौन जाने....

क्या ऐसा कुछ नहीं है, जो लिखने से परे है, जो बहुत विशाल है, जो बहुत गहरा है, जो घिरता नहीं, क्योंकि वह स्वयं घेरनेवाला है ?

अवश्य है। किन्तु उसे पकड़ने की स्पर्धा कौन कर रहा है ? सप्तपर्णी की छाँह ऊपर है, सब ओर है; किन्तु उसकी साँस का मर्मर तो मैं पी सकता हूँ, और उसमें विलीयमान होकर उसके सुर में गुनगुना भी सकता हूँ ...

कृतित्व सबसे पहले कृतज्ञता है....

शेखर लिखने लगा।



नौ, दस, ग्यारह, साढ़े ग्यारह—

जेल में शेखर ने पैरों की चाप से व्यक्ति की मनोदशा भाँपना सीख लिया था, इसलिए सीढ़ियों पर पैरों की चाप सुनकर वह चौंका। जीवन के दलदल और शैवाल के जाल में से अपने को आगे घसीटने की इतनी अनिच्छा, इतनी क्लान्ति—कौन है यह अभागा, जो आज के पुनीत दिन—

शेखर ने एक बार अपने सामने पड़े हुए स्याही-रंगे कागजों को देखा और फिर सीढ़ियों की ओर के किवाड़ को—

एक निदिन पैर देहरी पर लटकाए, एक हाथ और कोहनी चौखटे पर और दूसरा हाथ पर टेके, बेरंग चेहरे में धुँधले काँच-सी जड़ित आँखें शून्य पर टिकाए सामने शशि खड़ी थी।

उसने हड़बड़ाकर उठते हुए कहा, "अरे, कैसे आ गई—" और शशि के मुँह को देखकर सहारा देने को लपका।

"आ गई, बस—अब वहाँ लौटना नहीं होगा—नहीं, मुझे मत छुओ, मैं अभी चली जाऊँगी—"

"अयँ, क्या कहती हो, शशि—"

"उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया है।"

"क्या—क्यों ?" एकाएक स्तब्ध होकर, "भीतर आओ, शशि, बैठकर बात कहो—"

"नहीं, शेखर, मैं पति द्वारा परित्यक्ता हूँ, कलंकिनी हूँ, मुझे कहीं स्थान नहीं है। मुझे भीतर मत बुलाओ—"

शशि को वहीं देहरी पर बैठने के लिए झुकती देख, शेखर ने मर्माहत स्वर में कहना आरम्भ किया, "शशि—" फिर एकाएक उसने जाना, वह बैठना स्वेच्छामूलक नहीं है, शशि इसलिए बैठ रही है कि वह खड़ी नहीं रह सकती....उसने दौड़कर भुजा पकड़कर शशि को सँभाला और भीतर की ओर लिवाने लगा।

"हाँ, मैं कहती हूँ। सोच लो, शेखर, अभी समय है। कोई कारण नहीं है कि तुम मुझे भीतर बुलाओ या आने दो। मैं रुकने नहीं आई—किसी को संकट में डालना मुझसे नहीं होगा—और—तुम्हें—तो—कभी नहीं...." उसका स्वर टूट गया, आयासपूर्वक उसने कहा, "तुमने आगे ही जो दिया है—"

शेखर ने दूसरे हाथ से उसका मुँह बन्द करते हुए उसे चारपाई तक पहुँचाया, बलात् बिठा दिया, और फिर हल्के दबाव से लिटाने का यत्न करने लगा—

दबी हुई कराह के साथ शशि ने कहा, "नहीं, बैठी रहने दो—"

शेखर ने तनिक अलग हटकर कहा, "क्यों निकाल दिया है, शशि ?" और फिर तत्काल ही, "अगर कहने में कष्ट होता है तो रहने दो—"

"कहूँगी। अभी मुझे जाना जो है। उन्होंने कहा है, मैं भ्रष्टा हूँ, पापाचारिणी हूँ।"

थोड़ी देर की स्तब्धता के बाद "क्यों ?"

"मैं रात भर बाहर रही थी—"

"क्या तुमने उनसे कहा नहीं कि तुम यहाँ आई थीं—मेरे पास थीं ?"

शशि देख तो कहीं कुछ नहीं रही थी, फिर भी उसने मुँह फेर लिया, बोली नहीं।

"तुमने क्यों नहीं कहा ? मैं अभी जाता हूँ—"

तड़पकर, "नहीं, नहीं ! तुम मत जाओ—"

"क्यों—"

"नहीं, शेखर, नहीं ! मैं—"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं—"

यह अनावश्यक आग्रह क्यों? शेखर ने चिन्तित स्वर से पूछा, "डाक्टर बुला लाऊँ?"

"नहीं, कुछ नहीं है शेखर—" किन्तु चारपाई पर लेटती हुई शशि फिर एकाएक सिकुड़कर अधबैठी रह गई; फिर मुश्किल से एक करवट सिमटकर निश्चल हो गई, एक हाथ धीरे-धीरे उठकर माथे तक गया और टिक गया; उँगलियाँ सरककर केशों की ओर बढ़ीं और तीन नख धीर-बहूटी से ओझल हो गए—एकाएक शेखर ने देखा कि यद्यपि शशि की आँखें खुली हैं तथापि वह न कुछ देखती है, न जानती है, यह भी नहीं कि शेखर यहाँ है—या कि वह है भी....

क्या एकता का बल मृत्यु का बल है—क्या एक दूसरे को पहचान लेने का यही पुरस्कार है कि दोनों के पास कहने को कुछ नहीं है, विनिमय के लिए कुछ नहीं है; एक ओर अनदेखती निस्पन्द आँखें और दूसरी ओर विमूढ़, हतबोध पाषाण? एकाएक समूची परिस्थिति की इयत्ता—रामेश्वर के वार की, शशि की चोट की दारुणता—शेखर के चेतना-मुकुर पर हथौड़े की मार की तरह पड़ी; वह तिलमिला गया। एक तनाव उसके सारे शरीर में जागकर उसकी भवों में संचित हो गया, और शशि पर टिकी हुई उसकी दृष्टि को क्षण भर के लिए धार दे गया; फिर उसने झुककर धीरे-धीरे शशि के पैताने से कम्बल खुलाकर उसे ढका दिया; पुरानी शाल कन्धे पर डाली और बाहर चल पड़ा।

"कहाँ—जा रहे हो?"

शेखर चौंक पड़ा, पर बिना रुके बोला, "मैं—आया, शशि, तुम लेटी रहो—" और जल्दी से उतर गया। कोई कार्यक्रम उसके मन में स्पष्ट नहीं था, केवल इतना स्पष्ट था कि वह रामेश्वर से साक्षात् करने जा रहा है।

रामेश्वर देहरी के ठीक सामने बैठा था; शेखर ने उसे क्षण भर पहले देखा; किन्तु क्षण ही भर में रामेश्वर के चेहरे का मन्द झिलमिल का-सा भाव प्रतिकूलता से कँटीला हो आया; घनी और पहले ही मिली हुई भवें सेहुँड़ के झाड़-सी उलझ गईं—

"तुम्हारी इतनी मजाल—क्या करने आये हो तुम यहाँ पर—"

रामेश्वर की गरज की उपेक्षा से एक ओर ठेलते हुए शेखर ने कहा, "क्या करने आया हूँ, यह तो यहीं पर तय करूँगा; पर आपने यह किया क्या है—होश में हैं आप?"

"बेहया पैरवी करने आया है—तेरे पास गई मालिक मेरे—निकल जाओ मेरे घर से—तुम्हारी क्या लगती थी वो—" रामेश्वर का चेहरा घृणा और प्रतिहिंसा से बेहद कुरूप हो आया, उसके नथने और ओठ फड़कने लगे; शेखर ने जान लिया कि उसका विक्षेप असंगति की उस सीमा पर पहुँच गया है कि अगर रुक-रुककर नहीं बोलेगा तो तुतलाने लगेगा। पर आखिर उसे इतने रोष का अधिकार क्या है—क्या यह क्योंकि

है ? वह नृशंस, अन्धा, आततायी ! उसने कड़े पड़कर कहा, "मैं जवाब देने नहीं, माँगने आया हूँ—"

रामेश्वर कई क्षणों तक गीले पलीते की तरह "तु-तु-तु-" करता रहा, मानो शेखर की स्पर्धा पर उसके चेहरे का तमतमाया हुआ विस्फार निर्वाक् हो गया हो। शेखर ने इस अवसर से लाभ उठाते हुए एक तने हुए, द्रुत एकस्वर से कहना शुरू किया, "शशि मेरे पास थी, मैं देर से लौटा था, वह मुझे आत्म-घात—" क्षणभर अटककर, "तसल्ली देने ठहरी थी, फिर वर्षा—" किन्तु फिर अनुभव करके कि वह जवाब दे रहा है, और वह भी कुछ असंगत, उसने ओठ काटकर वह वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया। "आप कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हैं, आपको पता नहीं है। शशि—आप उसके पैर छूने लायक भी नहीं हैं, और आप—" उसे विस्मय हुआ कि शशि के प्रति कोई अव्यक्त दायित्व उससे अब भी इस व्यक्ति को 'आप' कहकर सम्बोधन करा रहा है।

फटे हुए बाँस पर आरी के दराँतों का जैसा स्वर होता है, वैसे स्वर में रामेश्वर के पिछली तरफ दूसरे कमरे के किवाड़ से कोई सहसा बोला, "तो जा, चाट उसके तलुवे तू—तुझसे चटवाकर उसका जी ठण्डा होगा—"

शेखर ने चौंककर देखा, रामेश्वर के पीछे एक स्त्री का चेहरा है, जिसकी असंख्य सांवली झुर्रियों में से रामेश्वर की बासी प्रतिकृति झाँकती है; वही झंखाड़-सी भवें हैं; किन्तु उनके नीचे के विवरों में आँख की जगह फफूँद के गुल्म हैं....क्या रामेश्वर की माँ है ? शेखर ने उसे पहले नहीं देखा था, न जानता था कि वह कब, कैसे आयी है।

"तसल्ली देने ठहरी थी इसे ! रात भर तसल्ली पाकर ही इतना हौसला हो गया है—बदमाश बदकार कहीं का !" साँप की फुफकार की तरह शेखर की ओर थूककर मानो उसे आवेश की नई निधि मिली, और शेखर ने देखा कि उसके पार्श्व में एक बूढ़ा चेहरा और आ गया है, जिसकी खिचड़ी मूँछें काँप रही हैं।

"यही असली पाजी है, कम्युनिस्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काटकर आया है, भले घर में कोई घुसने नहीं दे; कम्युनिस्ट तो औरत को साझा-माल मानते हैं, नास्तिक ! इनका तो काम ही है लड़कियों को बरगलाना और सुधार के नाम पर रंडियाँ बनाना। टुच्चे तो होते हैं, पैसा पास नहीं होता, सस्ता तरीका यही है। पहले बहिन, फिर कामरेड, फिर रंडी। किसी का घर बिगड़े, इन्हें क्या—इन्हें तो रंडी मिलती है—भले घर की, जवान, और मुफ्त !" मानो इस जाति के लोगों का अपराध वर्णनातीत हो, इस भाव से भरकर अपने भीतर का सारा विष एक ही शब्द में उगलते हुए उन खिचड़ी मूँछों ने क्षण भर रुककर फिर कहा, "कम्युनिस्ट !"

शेखर को लगा कि यह कोई दूसरी दुनिया है; कर्दम और फिसलन और काली वमी की कोई दुनिया, जिससे विषैली भाप उठती है—चकित और विमूढ़ वह इस कुत्सित दुहरे आक्रमण पर क्रुद्ध भी नहीं हो सका, केवल हतवाक् रह गया। पर रामेश्वर के

गुस्से का घोड़ा जैसे दस कोड़े की दुहरी मार से तिलमिलाकर लगाम छुड़ा भागा—रामेश्वर ने एकाएक आगे बढ़कर एक थप्पड़ शेखर के मुँह पर मार दिया।

अवश्य ही यह एक दूसरी दुनिया है, जिसमें सोचकर, विवेक से—या इच्छा से भी—कुछ नहीं होता, सब कुछ अपने-आप, घटना के भीतर किसी अमित, आसुरी शक्ति की प्रेरणा से होता है—घटना की कौंध अपने आपको आँक जाती है....धुँधली-सी रेखा कि शेखर के मुँह पर थप्पड़ पड़ी है; स्वयंचालित प्रतिक्रिया कि शेखर के हाथ ने उठकर आक्रान्ता की कलाई को जकड़ लिया है कि मुट्ठी क्रमशः कड़ी पड़ती जाती है और कलाई को पीछे मोड़ती जा रही है—कलाई जिसमें हिंसा थर्रा गई है और जो अब उस जकड़ के नीचे काँपने लगी है। धुँधला-सा विचार कि वह जकड़ इतनी कड़ी पड़ जाएगी कि कलाई की हड्डियाँ कड़कड़ा जाएँगी—कि कलाई रामेश्वर की है, कि वह कलाई न होकर रामेश्वर की गर्दन होती तो—होती तो....

किन्तु क्यों है यह कलाई, क्यों नहीं है यह गर्दन? अवश्य वह गर्दन है; जैसे कलाई कड़कड़ाती है, वैसे ही गर्दन भी कड़कड़ा सकती है, क्योंकि जकड़ में कुछ ईर्ष्या नहीं है, कामना नहीं है, वह केवल जकड़ है, आसुरी शक्ति जो अपने-आप चलती है, यद्यपि उसके पैर अन्धे हैं—

दूसरी दुनिया के पर्दे को फाड़कर एक स्पर्श शेखर की भुजा पर पड़ा और शशि ने कहा, "शेखर!"

मुट्ठी की जकड़ खुल गई, पर स्तब्ध हाथ वहीं का वहीं रह गया। फिर एकाएक शेखर को लगा, वह किसी गिजगिजी, घृणित चीज़ को पकड़े था, उसने उँगलियाँ फैलाईं और फिर हाथ एकाएक नीचे गिर पड़ा।

सन्नाटे में उस आसुरी शक्ति का प्रवाह बहुत देर तक अप्रतिरोध बहता रहा....

फिर शशि ने कहा, "मैं डरती थी कि तुम यही करोगे? यहाँ क्यों आए तुम?"

शेखर का सम्पूर्ण विद्रोह उसके मौन में से झाँकता रहा।

"तुम जाओ यहाँ से—"

शेखर की आँखें स्थिर होकर शशि की आँखों में गड़ गईं। कुछ क्षणों के बाद उसने पूछा, "और तुम? तुम भी चलो—"

"तुम चले जाओ। तुम यहाँ से मेरे कहने से जाओ।" उसके स्वर में आज्ञा का गर्व था, जो जानता है कि उसकी प्रभुता केवल आसपास की प्रजा को ही नहीं, उस मिट्टी को भी चलाती है, जिस पर उसके पैर खड़े हैं, क्योंकि वह भी उसकी सम्पत्ति है।

शेखर चुपचाप लौटकर सीढ़ियाँ उतरने लगा। इस निष्कासन पर उसका सारा व्यक्तित्व चीत्कार कर रहा था, किन्तु उसके मुँह से एक शब्द नहीं निकला और उसके विवेक ने किसी विचार का स्पष्ट निश्चय किया तो यही कि एक नहीं, पचास शेखर भी जितनी श्रद्धा, जितनी आस्था, जितना प्यार इस रानी को दे सकते हैं, वह सब उस रूप के सामने हेय और नगण्य है।

उसने मुड़कर नहीं देखा, किन्तु वह किसी छठी इन्द्रिय के सहारे सब जान रहा था, जो उसके पीछे हो रहा है....चार स्तब्ध शरीर, शशि की आँखें एक वृत्त बनाती हुई एक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर जा टिकती हैं और खड़ी रहती हैं। उस दृष्टि में क्या है, उसे पढ़ने की योग्यता किसी में नहीं है; उसमें भी नहीं, जिस पर जाकर वह टिक गई है और जिससे वह आगे नहीं बढ़ेगी, सहसा अपने भीतर सिमट आएगी।

एकाएक घड़ाक से किवाड़ बन्द हुए और भीतर से कुण्डा लगाने का किटकिटाता हुआ स्वर। तभी शेखर ने मुड़कर देखा; उससे छः-सात सीढ़ी ऊपर शशि पत्थर की शलाका-सी बन्द द्वार के बाहर खड़ी थी। वह कुछ बोला नहीं; वहीं रुका रहा और फिर धीरे-धीरे एकाएक सीढ़ी उतरने लगा। तब उसने जाना कि उसके पीछे बहुत धीमा और सुस्त एक दूसरे पैर का भी स्वर है।

सीढ़ियों से उसके पीछे-पीछे शशि बाहर सड़क पर निकली तो ऊपर खिड़की से मूँछों से छनकर आया हुआ एक स्वर बोला, "दफ़ा हुई—"

आरी की रगड़ खाकर फटा बाँस कर्कश स्वर से प्रतिवाद कर उठा।

"ले ले उसको कोख में, कलमुँही राँड़—कुत्ती!"

शेखर को बोध हो आया कि इन सम्बोधनों में उसके अस्तित्व की उपेक्षा उसके उत्तरदायित्व का ही परिणाम है। वह मुड़ा नहीं, किन्तु वहीं ठिठक गया कि शशि उसके बराबर आ जाए....

◎

कमरे के दुहरे एकान्त में कितना कुछ जानने को था, कितना कुछ पूछने को था, जो शेखर ने तब नहीं जाना और नहीं पूछा; पूछा कभी भी नहीं, और जाना भी न जाने कब, बोध की किन छोटी-छोटी, विरल, मनचली तरंगों की क्षणस्थायी चमक के सहारे पूछने और जानने का समय भी नहीं था; शेखर भाँपता था कि जो-जो वह देखता है, उसके पीछे और उसके अन्तराल में उससे अधिक महत्व का कुछ घटित हो रहा है, होता रहा है, किन्तु इस भावना के सूत्र पकड़ने और सुलझाने का मौका कब था, जब कि इतनी और तात्कालिक बातें सोचने को पड़ी थीं और जवाब माँगती थीं....

शशि चारपाई पर लेटी नहीं, पड़ी थी, प्रश्नचिह्न की तरह एक करवट सिमटी हुई; उसकी पलकें निष्प्रयास झपक जाती थीं और कुछ देर बाद खुल जाती थीं, शेखर जानता था कि वह झपक एक दर्द को छिपा लेती है....

शशि स्वस्थ नहीं है, कुछ प्रबन्ध करना होगा—बिस्तर नहीं है, शशि के पास कपड़े भी नहीं हैं, खाने की व्यवस्था—पैसा नहीं है, कुछ भी नहीं है....

शाम होने से पहले-पहले कुछ प्रश्नों का उत्तर तो आवश्यक था ही। शाम का खाना होटल से आता है, पर होटल को सूचना देनी होगी—इस समय के लिए वह

स्वयं कुछ बना लेगा—लौटकर; सबसे पहले बिस्तर और ओढ़ने के लिए अधिक कम्बल....

शेखर ने बदलने के लिए कपड़े निकाले और बाहर जाने लगा। शशि ने निष्प्रभ स्वर से पूछा, "अब कहाँ जा रहे हो ?"

"ज़रा कालेज जा रहा हूँ, घंटे भर में लौट आऊँगा।" फिर एक कदम वापस आकर, "शशि, घबराना मत, मैं और कुछ नहीं करता। और तुम—तुम यहीं लेटी रहो, बाहर मत निकलना।"

कपड़े बदलकर शेखर फिर शशि के पास लौटा और थोड़ी देर उसे देखता रहा। फिर बोला, "तुम अब सो जाओ, बहुत थकी हो। रात भर बैठी रहीं, और सवेरे से—"

शशि ने अनुगत-भाव से उत्तर दिया, "अच्छा, सो जाऊँगी।"

चलते-चलते शेखर ने दुलार से मुस्कराकर कहा, "मैं बच्चा हूँ कि तुम ?"

डेढ़ घण्टे बाद जब वह होस्टलों से बगल में तीन कम्बल, एक दरी और एक गद्दा लेकर, जेब में उधार के दस रुपये डाले और मुँह पर तात्कालिक सफलता का भाव लिये लौटा, तो शशि फिर नल के पास निश्चल बैठी थी, और पानी बहे जा रहा था....

शेखर ने अपना बिस्तर झाड़कर, नई चादर निकालकर चारपाई पर शशि के लिये बिछा दी, और कमरे के कोने के दूसरे भाग में अपने लिए बिस्तर करने का निश्चय करके बाकी कपड़ों का गोल वहीं डाल दिया। फिर वह शशि को चारपाई तक लिवा लाया; उसके मन की सतह पर आशंका की एक बर्फ़ीली पपड़ी जम गई और वह शशि से कुछ पूछ भी नहीं सका; उसे लिटाकर कुछ खाने का प्रबन्ध करने वह कोठरी में गया तो देखा, अंगीठी में आग है, रसोई के बर्तन बिखरे पड़े हैं, दाल और उबले आलू का साग एक ओर पड़ा है, कुछ-एक रोटियाँ भी बनी रखी हैं, पर काम जैसे बीच ही में छोड़ दिया गया है, आटा भी ढँका नहीं है और कोठरी की खिड़की में दो गौरैया चिड़ियाँ ताक में बैठी हैं कि कब चोंच भर ले जाएँ—आटे में चोंच के दो-एक चिह्न भी हैं....उसने कमरे में लौटकर ज़रा ज़ोर से कहा, "शशि तुम—तुम बड़ी नालायक हो !"

शशि ने अपराधी की तरह मुस्कराते हुए कहा, "मैं क्या करती, बर्तन समेटने का वक्त ही नहीं मिला, अभी ठीक-ठाक कर देती हूँ—"

शेखर ने निहत्थी झल्लाहट के साथ कहा, "मैं यह कह रहा हूँ ? तुमने काम क्यों किया—अच्छा, अब अपनी करतूत का फल चखो। तुम बैठो, मैं थाली परोसकर लाता हूँ।"

"मैंने कोई अपने लिए बनाया है ? तुम खाओ—"

"यह तुम्हें दण्ड दिया गया है कि पहले तुम खाओ, फिर बर्तन धो-धाकर मैं खाऊँगा—"

"नहीं, यह अन्याय है—तुम्हें खाना पड़ेगा।" फिर—अनिच्छापूर्वक, "बर्तन चाहे मुझे मत माँजने देना—"

"अच्छा, माफ़ किया। अपने लिए भी साथ ही ले आता हूँ—"

"शशि ने मुर्झाए स्वर में कहा, "नहीं, शेखर, मैं नहीं खाऊँगी।"

"क्या? पहले ही दिन तुम रोटी बनाकर खिलाओगी और आप उपवास करोगी? क्या समझा है मुझे तुमने? मैं—बिलकुल नहीं खाऊँगा।" फिर स्थिति को कुछ हल्का करने के लिए, 'आर्य' शब्द के आकार को ऐसे ढंग से प्लुत करते हुए कि शशि पहचान ले, शेखर पिता की नकल उतार रहा है, "मैं अतिथि-पूजक आऽर्यों की सन्तान हूँ—"

शशि ने किंचित् मुस्कराकर उसके प्रयास को स्वीकार करते हुए कहा, "अतिथि बनकर मैं सवेरे आई थी—पर तुमने अतिथि रहने नहीं दिया। अब तो मैं—" एकाएक स्वर बदलकर, "हाँ, अब भी अतिथि ही बनाना चाहो तो—" शेखर का मुंह देखकर शशि फिर रुक गई और बोली, "नहीं कहती, लो। तुम्हें दुःखी नहीं करना चाहती शेखर, मैं ज़रूर खाती, पर मैं—खा सकती नहीं—"

एकाएक चिन्ता से भरकर शेखर ने कहा, "क्यों शशि? क्या हुआ है तुम्हें—तुम्हें कहीं—चोट आई है?"

"मैं—मुझे—मेरी तबियत ठीक नहीं है—"

शेखर ने जान लिया कि इसमें स्वीकृति नहीं, छिपाव है; किन्तु वह शशि को जानता है, अगर उसे कुछ नहीं बताना है तो नहीं बताना है, आग्रह व्यर्थ है।

"तो बिलकुल नहीं खाओगी—थोड़ा-सा भी?"

"नहीं, शेखर। तुम अपनी थाली यहीं ले आओ, मेरे सामने खाओ तो मेरा भी खाना हो जाएगा—"

"........"

"ना मैं किसी तरह नहीं सुनूंगी—नहीं तो मैं समझूंगी, मेरे हाथ का खाना तुम्हें अग्राह्य—"

शेखर चुपचाप कोठरी की ओर चल पड़ा।

बिना भूख मिट्टी के गोले निगलने में भी इतना आत्म-दमन करना पड़ता है कि नहीं, नहीं मालूम। पर शेखर के मन में कहीं धुंधला-सा यह ज्ञान भी है कि शशि से उसकी ओर स्नेह की एक आप्लवनकारी धारा बही आ रही है, और उसके अन्तर का स्नेह स्वयं शशि की ओर उठ रहा है, जैसे जल-प्रपात में गर्त की उत्सुक फेनधारा को सिर-आंखों पर लेने के लिए उमड़-उगड़ आती है....और यह कि दुःख और लाञ्छना की खाद में यह जो दुहरे वात्सल्य का अंकुर फूटा है, यह मानव जीवन के सबसे बड़े और अलौकिक चमत्कार का उन्मेष है....

◎

मैं सचमुच बहुत-सी बातें नहीं जानता था उस समय और पहले तो भांपने की, कल्पना करने की भी सामर्थ्य नहीं थी। फिर क्रमशः जान गया। किन्तु जानने और न

जानने की अवस्थाओं के बीच कोई रेखा नहीं खींच सकता; स्पष्ट याद नहीं कर सकता कि कब घटना के पीछे का पूरा इतिहास मुझे बताया गया। बताया गया अवश्य, क्योंकि वह जैसे मेरे चेतना-कोष की एक अलग मंजूषा है, जो मानो कभी उस कोष के बाहर नहीं था, सदा से उसका अंग है—मेरे अस्तित्व का अंग। इतना अभिन्नतम अंग, कि जब याद करता हूँ तो जान पड़ता है, वह सब मेरी अपनी अनुभूति है; शशि की अनुभूति के वर्णन पर टिकी हुई कल्पना या चित्र नहीं। याद में मैं स्वयं शशि हो जाता हूँ, उसके विचार सोचता हूँ, उसकी स्मृतियाँ याद करता हूँ, उसकी वेदना सहता हूँ, उसका मौन, स्पर्धाहीन अटूट अभिमान मुझ में जाग उठता है....शशि अब नहीं है, किन्तु मैं शशि हूँ; इसलिए मैं भी अब नहीं हूँ, केवल था। किन्तु अब भी मैं अपने से अधिक उसके दुःख से दुःखी हूँ, उसके अभिमान से उन्नत, अतः वह जीती है...

कहते हैं कि जिन घटनाओं का अनुभव बहुत तीव्र अनुभूति के साथ किया जाता है, वे चेतना के पट पर पत्थर की लकीर की तरह अमिट खिंच जाती हैं, और उनका स्मरण एक पूरे चित्र का स्मरण होता है, इस या उस रेखा या आकृति का स्मरण नहीं। अर्थात् स्मृति में वे घटनाएँ आती हैं तो एक अनिवार्य, परिवर्तनहीन अनुक्रम लेकर, जिसमें स्मरण करनेवाले की कलम की स्वेच्छा नहीं, घटना की बाध्य अनुगतिकता है....एक दूसरा सिद्धान्त है कि तीखी वेदना-जन्य अनुभूति को चेतना भुलाने का प्रयत्न करती है और क्रमशः आत्म-प्रतारणा के इतने पर्दों में लपेट देती है कि उसकी आकार-रेखा बिलकुल ओझल हो जाती है, व्यक्ति की स्मृति से बिलकुल निकल जाती है। किन्तु मैं देखता हूँ कि तीव्रतम अनुभूति की ये घटनाएँ न तो स्मृतिपट से मिटती हैं, और न पत्थर पर खिंचे हुए इतिहास की तरह नित्य और अचल हैं। देखता हूँ कि कुछ दृश्य हैं, जो बिजली की कौंध की तरह जगमग हैं, कुछ और हैं जो बुझ गए हैं और घटना के अनुक्रम का धागा तोड़ गए हैं; तोड़ ही नहीं, उलझा भी गए हैं, जिससे मैं उन ज्वलन्त घटनाओं को भी ठीक कालक्रम से नहीं देखता—मनमाने क्रम से वे जलती हुई आती हैं और चली जाती हैं, और मैं दावे के साथ नहीं कह सकता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ। इतना ही कह सकता हूँ कि यह सब अवश्य हुआ, और इसमें यह ध्वनित नहीं है कि केवल इतना ही हुआ या कि इसी क्रम से हुआ....

या कहीं यह बात तो नहीं है कि चरम-शान्ति की प्रतीक्षा करते हुए अभियुक्त के स्वीकारी-भाव को दबाकर स्मृति के घोड़े पर रचयिता की चापलूस बुद्धि चढ़ बैठी है? क्या अन्तिम दिनों में अपने जीवन का अर्थ, अभिप्राय, उसकी निष्पत्ति और सिद्धि खोजता हुआ मैं अपने उद्योग की सफलता के मोह में पड़ गया हूँ—चेतन-दंशन की निर्ममता से छिटककर सृजन की आसक्ति में पड़ गया हूँ?

किन्तु क्या सृजन ही सबसे बड़ी निर्ममता, सबसे बड़ी अनासक्ति नहीं है, जब कि वह अपनी ही प्रतिमूर्ति को अपने प्राणों का दान है?

[illegible]

का अनिवार्य अनुक्रम ? जो स्वीकारी है, उसके लिए क्या जीवन का अनुक्रम ही बड़ा नहीं है ? भीतरी और बाहरी दोनों क्रमों के विरोध का अविरोध भी क्या एक अधिक गहरा स्वीकार नहीं है ?

बाहर से आकर शेखर देखता है कि शशि की चारपाई के पास फ़र्श पर मौसी विद्यावती बैठी हैं। उसका हृदय धक् से हो जाता है; शशि, शेखर और रामेश्वर के त्रिकोण के बाहर और भी संसार है, जो असंगत नहीं है, इस बात की जैसे वह अनदेखी कर गया था। समाज संगति के घेरे से बाहर है, इस बारे में उसे सन्देह नहीं था; पर मौसी किसी तरह भी बाहर नहीं है, यह भी असन्दिग्ध है; और इस दूषित उलझन में मौसी—

शेखर ने स्थिर भाव से प्रणाम किया और कहा, "मौसी, फ़र्श पर क्यों—"

मौसी ने हाथ के इशारे से उसे आशीर्वाद दे दिया, मुँह से कुछ नहीं बोलीं। शेखर ने एकाएक देखा कि उनका चेहरा बिलकुल पीला है और आँखों के नीचे के काले अर्ध-चन्द्र के नीचे से निकलकर दो रेखाएँ ओठों के कोने छूती हुई ठोड़ी को घेरने जा रही हैं; और शशि का चेहरा उनकी ओर है, पर आँखें चारपाई की बाही पर गड़ी हैं—

शशि ने कहा, "शेखर, तुम अभी बाहर जाओ।" वह ठिठका, फिर लौट गया। शशि में उसका विश्वास आत्मविश्वास से बढ़ गया था। आँगन में पहुँचकर उसने पीछे किवाड़ भी बन्द कर दिया, और आँगन में टहलने लगा। एकाएक कोठरी में पहुँचा और सब चीज़ों को उलटने-पलटने और ताक को पुनः साफ़ करके सँवारने लगा....

○

शेखर और डाक्टर बात कर रहे हैं। दाईं ओर एक पर्दे की ओट में शशि लेटी है; और पर्दे तथा डाक्टर के बीच में मौसी खड़ी हैं, एक हाथ उनका पर्दे को पकड़े ही रह गया है, मानो इस दुविधा में कि मौसी को उसके पीछे ही रहना चाहिए या बाहर आ जाना चाहिए।

"पेट में अवश्य काफ़ी चोट आई है। बहुत एहतियात करना होगा। कोई सीरियस बात नहीं है, पर आप जानते हैं, अन्दरूनी चोट के सेप्टिक हो जाने का अन्देशा रहता है। दवा मैं दे रहा हूँ; बाकी पूरा विश्राम सख्त ज़रूरी है, और खाने को कोई ठोस चीज़ मत दीजिए।"

"जी।"

डाक्टर नुस्खा लिखने के लिए झुके हैं; पर्दे की ओट से शशि के उठने से मेज के चरमराने का स्वर आता है—

मौसी पूछती हैं, "और पीठ का दर्द—"

"वह तो अपने-आप ठीक हो जाएगा—गिरने से झटका आ गया होगा—" फिर

कुछ सोचकर, "कहाँ दर्द होता है ?" और पुनः उठ खड़े होते हैं ; शेखर अकेला पर्दे की ओर देखता हुआ रह जाता है।

"यहाँ ? यहाँ ? और जरा झुक जाइए तो"—फिर एकाएक बदले हुए स्वर में, "ओह...."

दृश्य फिर पूर्ववत् हो जाता है, मौसी का हाथ वहीं पर्दे पर है, डाक्टर शेखर के सामने है, पर चेहरा दूसरा है।

"क्यों, डाक्टर साहब—"

डाक्टर साहब गहरी दृष्टि से शेखर की ओर देखते हुए कहते हैं, "आप हज़बैण्ड हैं ?"

"नहीं, मेरी बहिन है।"

"ओः माफ़ कीजिए ; और ये मदर हैं ?"

संक्षेप में, "हाँ।"

मौसी की ओर उन्मुख होकर, "माताजी, ये आप ही के साथ रहती हैं ?"

शेखर उत्तर देता है, "नहीं, ससुराल में रहती हैं, हम लोग तो दिखलाने लाए हैं—क्यों क्या बात है ?"

डाक्टर चुप हो जाते हैं। देर बाद, जैसे कुछ सोचते हुए, कुछ निर्णय करते हुए कहते हैं, "माताजी, यह पीठ की चोट तो गिरने की चोट नहीं है।"

"और ?"

डाक्टर का मौन जैसे उन्हें कहता है, "मैं कई सन्तान का पिता हूँ, आपका अपना भी अनुभव है—"

मौसी मुड़कर पूछती हैं, "शशि, तुम्हें याद नहीं, यह चोट कैसे लगी ?"

शशि नहीं बोलती; मौन का जैसे अन्त करते हुए डाक्टर कहते हैं, "इस चोट के लिए लिनिमेंट देता हूँ, हल्की मालिश करके सेंक दीजिए। फिर क्षण भर के विराम के बाद, शेखर से, अंग्रेजी में, "इट्स नॉट एक्सिडेंटल, इट इज ए डेलिबरेट ब्लो, द किडनी इज रप्चर्ड।" (यह आकस्मिक चोट नहीं है, जानबूझकर किया हुआ आघात है—गुरदा फट गया है।)

शेखर भी अंग्रेजी में पूछता है, "इज इट डेंजरस ?" (क्या चोट सांघातिक है ?)

"नो, बट् इर्रेपेरेब्ल्—" (नहीं, किन्तु असाध्य—)

"व्हाट ट्रीटमेंट वुड यू एडवाइज ?" (आप क्या इलाज सुझाते हैं ?)

"रेस्ट, एंड एंड्योरेंस—करेज ; मोरली करेज...." (विश्राम और धीरज, मुख्यतया धीरज....)

डाक्टर को ध्यान आता है कि लगातार अंग्रेजी बातचीत भी कुछ अधिक आश्वस्तकर नहीं होती ; मौसी की ओर उन्मुख होकर कहते हैं, "पूरा विश्राम बहुत जरूरी है—यह मुरब्बा डिस्पेन्सरी से ले लीजिए—दो तीन दिन बाद फिर देखना उचित

होगा—" मानो अनुमति है कि रोगी को लाने की बजाय मुझे नहीं बुलाया जा सकता है....

०

दोतल्ले पर रामेश्वर का कमरा, अपमान की शिंजिनी से तना हुआ शशि का देह-चाप, धनुष-सा ही सधा हुआ; सामने रामेश्वर का चेहरा, सजीव दीवार-सा, जो नींव हिलने से टूटकर गिरने को है, उसके पीछे दो और दीवारें जो गिरेंगी नहीं, क्योंकि पहले ही ध्वस्त हैं और बरसों की फफूंद से ढेर-सी हो गई हैं....

सास के हाथों फेंकी गई राख को एक हाथ से आँखों के आगे से पोंछते हुए शशि कहती है, "अगर आप सबका यही अटल निश्चय है तो—"

दोनों हाथ जोड़कर वह सिर थोड़ा-सा झुकाती है, सिर पर पड़ी हुई राख के दो-चार कण झरकर हाथों को छूते हुए नीचे गिर जाते हैं, वह मुड़ती है, एक कदम आगे सीढ़ी है, एक सीढ़ी वह उत्तर गई है—

आरी किचकिचाती है, "देखो बेहयाई—"

आरी की रड़कन से जैसे वह दीवार ढह पड़ती है, रामेश्वर झटककर आगे बढ़ता है और चट्टी पहने हुए पैर की भरपूर ठोकर शशि की पीठ पर पड़ती है, "कुलटा !"

कमान दुहरी हो जाती है, फिर प्रतिक्रिया शिंजिनी रुनुक उठती है, "आपकी अन्तिम देन पीठ फेरकर नहीं लूंगी ; लीजिए, अब दीजिए—" और टूटती दीवार के सामने एक और दीवार खड़ी हो जाती है, जो कमान-सी लचकीली है, इसलिए टूटेगी नहीं—

आरी उत्साह से किचकिचाती है, "मार और एक, मार—"

पेट में लगी हुई लात से शशि एकबार 'हुंक !' करके रह जाती है, उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, दीवार टटोलती हुई वह घूमती है कि इस आमुख पाई हुई भेंट के बाद अब चले—

०

तांगे में पीछे मौसी का स्वर, "डाक्टर अँगरेजी में क्या कहते थे—"

मुड़कर, "कुछ नहीं, कहते थे कि विश्राम बहुत जरूरी है, चुपचाप लेटी रहे, नहीं तो तकलीफ़ बढ़ जाएगी—"

मौसी शशि से पूछती हैं, "चोट कैसे लगी ? गिरने से तो सचमुच—"

शेखर और अधिक मुड़कर, "मौसी, आगे गिरने से कभी पीठ में चोट लगती है ? और मुंह-हाथ पर कोई—"

शशि धीमे से, "घर पहुँच लें—"

मौन में केवल तांगेवाले का जीभ चटकाना या कभी-कभी 'च-ए-च्चो-अएच !'

●

कोठरी की एक-एक चीज संवारी जा चुकी है, बल्कि सारा रख-रखाव दो बार फिर बदला जा चुका है। क्या शशि और मौसी की बातचीत खत्म ही नहीं होगी, और क्या वह अब बाहर ही बाहर रहेगा ?

और यह जो शशि उसके जीवन में सत्य की तरह पैठ गई है—यह जो वह शशि के जीवन में उल्का की तरह छा गया है, मौसी क्या उसे झेल लेंगी—झेल सकेंगी ? जिससे मौसी को बचाने शशि अपने को मिटा रही थी, वह तो अब भी मौसी के आस-पास है—

शेखर नल खोल देता है और बर्तन लाकर धार के नीचे रखता है, ठण्डी छींटें जैसे उसे सहारा देती हैं—

आखिर भीतर से मौसी की आवाज आती है, "शेखर !" शेखर उसमें पढ़ लेना चाहता है कि वह अपराधी ठहराया जा चुका है, या जवाब के लिए बुलाया जा रहा है, या बरी है—और मौसी के पास जा खड़ा होता है। मौसी मुंह उठाकर उसकी ओर देखती हैं, उनके चेहरे में एक मूढ़ वेदना है, और कुछ नहीं—"बैठ जाओ।"

शेखर उनके पास ही नीचे बैठ जाता है।

"तुम क्या कहते हो ?"

न जानता हुआ कि प्रसंग क्या है, शेखर कुछ बोल नहीं सकता।

"मैं तो इसी विश्वास में पली हूँ कि स्त्री का पति ही सब कुछ है। स्त्री भी पति की कुछ है, मैं जानती हूँ, पर जिस तरह अधिकार देना सीखा था, उसी तरह लेना नहीं सीखा, और अब बूढ़ी हो गई, कुछ नया नहीं सीख सकती।" स्वर में प्रतिवाद, अभियोग, आदेश कुछ नहीं है, केवल प्रकटीकरण का भाव—

"शशि कहती है कि अब लौटना नहीं है। चाहने न चाहने का सवाल भी नहीं है, सकने न सकने का सवाल है।

"मैं वहां से होकर आई हूँ।"

शेखर चौंकता है, "कैसे ?"

"उन्होंने तार देकर बुलाया था, तभी तो आयी। वे कहते हैं कि उनके जाने शशि मर गई है, और हम सब थे ही नहीं। सास कहती थी कि अगर वह अब—पर छोड़ो क्या लाभ याद करके—"

शशि कहती है, "माँ, वहाँ उन्होंने तुम्हारा अपमान तो नहीं किया—क्या कहते थे वे लोग—"

"बेटी, जिन्होंने तुझे निकाल दिया, उन्होंने मेरे अपमान में क्या कसर छोड़ी ! कहने लगी, अब वह तुम्हें घर ढुकने दे तो गोमांस खाए, पतिघातिनी होय—"

"फिर—"

"फिर क्या ! लौटना तो अब नहीं है। पर पति को सर्वस्व मानने के लिए ससुराल

टना ही एकमात्र उपाय है, यह तो मैं नहीं समझती। जो रास्ता पति ही बन्द कर दे, स पर चले बिना भी धर्म निबाहा जा सकता है।" थोड़ी देर चुप रहकर, "शशि कहती है, वह अब मेरे साथ नहीं लौटेगी, और चाहे कहीं जाना हो—"

शेखर बिना बोले शशि की ओर देखता है।

"माँ, तुम दुःख मत मानो, मैं ठीक कहती हूँ—"

"शशि कहती है, मैं लौट जाऊँ, और जैसे घरवालों ने उसे मरी समझ लिया है, मैं भी समझ लूँ—मन से नहीं तो कर्म से।"

"क्यों?"

उत्तर शशि देती है। "क्योंकि मेरा जो भोग है, उसमें माँ क्यों फँसें? उन्होंने काफ़ी भोग लिया है। अब उन्हें अलग रहना चाहिए, शादी करके उन्होंने मुझे सौंप दिया था, अब जो होता है, उसका दायित्व क्यों लें? और मैं क्यों उन्हें लेने दूँ—"

"मौसी, अपराध सबसे अधिक मेरा है, मैंने ही धूमकेतु की तरह आकर सबको इतना दुःख दिया है—मैं—"

"नहीं, शेखर, जो होना था, उसका सब ज़िम्मा अपने ऊपर मत लो—" फिर मानो मुख्य प्रसंग की ओर लौटकर, "शशि कहती है कि मैं तटस्थ रहूँ, और समाज जो दण्ड उसे दे, उसे उसी को अकेली सहने दूँ।" वे शेखर की ओर देखती हैं और उत्तर नहीं पाती, फिर कहने लगती हैं, "पर मैं तटस्थ कैसे रह सकती हूँ? अपने शरीर से जिसे बनाकर अपने लहू से बीस साल तक सींचा, उसे अपने ही हाथ से काट फेंकूँ, यह क्या मेरी हार नहीं है? कैसे अनदेखी कर जाऊँ मैं—"

"माँ, ऐसे सोचने से काम नहीं चलेगा। तुम अभी तो मान चुकी हो कि मैं न लौटूँ—" सारी बातचीत में पहली बार आवेश में आकर शशि कहती है, "और मुझे घर ले जाकर मेरी सारी आफ़त तुम अपने सिर पर ले लो, उसमें मेरी हार ही नहीं, अपने को मारकर जो कुछ मैंने किया है, वह सब भी इतना विफल हो जाता है कि—" फिर सहसा अपने को वश में करके, "और तुम हार से बच जाओ, ऐसा नहीं है।" कुछ देर रुककर, "हाँ, यहाँ न रहने को कहो, तो—"

शेखर कहता है, "मेरे अपराध की चुकती मुझे भी करनी है। शशि से समाज को जो वसूलना है—"

"मैं उसे यहाँ रहने से मना नहीं करती। मेरे साथ नहीं आती, तो उसके बाद य दूसरी जगह है। लोग मुझे कहा करते थे, पर मैंने बराबर सबको यही उत्तर दिया कि इन दोनों की एक धमनी है—मैंने तुम्हें कभी अलग नहीं माना, शेखर, चाहे लो चार की दृष्टि से हमारा रिश्ता न कुछ के बराबर है। यहाँ भी रहे तो मेरे पास र के बराबर है—सिवाय इसके कि मैं अपनी सन्तान को छोड़ रही हूँ—शशि को ही न तुम दोनों को—"

शेखर की आँखें चरमरा रही हैं, वह चाहता है कि रो उठे, "मौसी, मौसी—माँ—"

"माँ, अपनाना मन से होता है, तो छोड़ना भी मन से होता है। तुम अगर मुझे—हमें—मन से नहीं छोड़ोगी तो क्यों तुम्हें क्लेश होगा? और—हम भी—कभी भूलेंगे नहीं कि—"

मौसी शेखर की ओर उन्मुख होकर कहती हैं, "और तुम्हारे पिता को—मैं क्या उत्तर दूँगी—" एकाएक उनका स्वर टूट जाता है, वे शशि के सामने खाट की बाही पर सिर टेक देती हैं, शशि एक बाँह से उनका कन्धा घेर लेती है, और उनके आँचल में छिपछिप जाती है। मौसी की किसी अन्धड़ द्वारा झकझोरी जाती दुबली देह को देखता हुआ शेखर भी बिना हिले रो उठता है—फिर एकाएक विस्मरण की राख में से त्रिवेणी की धारा से पुनः हुआ नया बोध कहता है कि शशि की हार नहीं हुई।

"यह लो, शेखर—"

मौसी सौ रुपए का एक नोट बढ़ाती हैं, "फिर और भेज दूँगी—"

"मौसी, मैं—"

"यह तुम्हारे लिए नहीं, शशि के लिए दे रही हूँ—अभी वह बीमार है और—"

कुछ हिचकिचाते स्वर में, "मौसी, यह ठीक नहीं है—मैं कुछ प्रबन्ध कर लूँगा, फिर—"

मौसी आहत स्वर से कहती हैं, "शेखर, जहाँ से हारना था, हार गई। टूटना था, टूट गई—कुछ तो सन्तोष मुझे हो—"

"माँ से अभिमान मत करो, शेखर, ले लो, मैं कहती हूँ—"

शेखर धीरे से हाथ बढ़ाता है, जैसे सफ़ाई में कहते हुए, "शशि अच्छी हो जाएगी तब और मत—" और मन ही मन सोचता है कि किसी तरह भी और नहीं—

"ईश्वर करे, वह अच्छी हो जाए जल्दी....आगे कोई बड़ा सुख नहीं है, पर दुःख भोगने की शक्ति शरीर में चाहिए—"

"माँ, मैं बहुत अच्छी हूँ—"

शेखर कहना चाहता है, "मैं साथ रहूँगा—"

इस बातचीत को भेदता हुआ सुन पड़ता है मौसी के सीढ़ियाँ उतरने का धीमा स्वर, वे स्टेशन जाने के लिए शेखर के पीछे-पीछे उतर रही हैं....

"मौसी, आप चिन्ता न कीजिएगा—"

"अच्छा, शेखर; देखो परमेश्वर क्या लाता है...." शशि की ओर उन्मुख होकर, "शशि, मैंने क्या तुझे इस दिन के लिए जना था" उनका स्वर फिर काँपने लगता है.... एकाएक, "शेखर, क्या सचमुच तुम आत्मघात करने चले थे?"

लज्जित मौन....

"इतनी-सी बच्ची थी यह, जब तुमने नहाते हुए लोटा मारकर इसका सिर

दिया था, तब भी यह तुम्हें बचाने के लिए झूठ बोली थी कि अपने आप लग गया—नालायक शुरू से ही तुम्हारा पक्ष लेती आई है—" उनके स्वर की व्यथा-भरी झिड़की में कितना अभिमान है, कितना माधुर्य—पर यह बात तो शेखर ने पहले नहीं सुनी, पूछता है, "कब, मौसी ?" और सोचता है कि आत्मघात की बात टल गई—

मौसी सुनाने लगती हैं, "जब तुम छोटे-से थे, तब पहले-पहल—"

साँझ का सन्नाटा, जिसमें ठिठुरकर जमा हुआ धुआँ आँखों के रास्ते प्राणों में भर जाता है; कमरे में लालटेन के स्थान पर लैम्प का प्रकाश, शेखर जल्दी-जल्दी खिड़कियाँ बन्द कर रहा है कि वह धूमिल गीला बोझ कमरे में न जम जाए—शशि चुपचाप सिमटकर लेटी है, उसकी आँखें शान्त हैं ; और निरायास शेखर के साथ-साथ जाती हैं, वह जानता है—

"शशि, तुम बड़ी झूठी हो।"

"क्यों ?"

"इतना झूठ ? मुझे तो बिलकुल ही कुछ नहीं बताया, मौसी से कहा कि गिर गई थी—इतना झूठ ! और प्रयोजन क्या था भला—"

शशि ने आश्वस्त-भाव से कहा, "मैं झूठ नहीं बोलती !"

"पर सच तो वह नहीं था—मेरे सामने तो सिर्फ चुप लगाई थी, पर—"

"शेखर, मैं समझती हूँ कि अनावश्यक कष्ट ही सबसे बड़ा झूठ है—मौसी को और दुःख देने का क्या मतलब था ? और उन लोगों की बात—उन पर मेरा कोई अभियोग नहीं है, उन्हें तो अब गिनती नहीं—"

'और मैं—"

"तुम ! तुम क्या—पर तुम क्रमशः जान जाते; तभी बताना कोई जरूरी था ?"

"बताया तो तुमने अब भी नहीं; सच बताओ, चोट कैसे लगी ? किसी ने मारा था ?"

"मैं तो चोट का भी न बताती, पर जब मौसी के आगे सीधी भी न हो सकी और मुंह में फिर खून आने लगा तो बताना पड़ा—"

"खून ?"

शशि की हँसी में हल्की-सी अपराध-स्वीकृति है, "हाँ, उठने-चलने से वमी होने लगती थी और खून—"

एकाएक नल के पास बैठने का रहस्य उसकी समझ में आ जाता है; वह स्तब्धभाव से कहता है, "और तुम काम भी करती रहीं ढीठ होकर—" फिर मर्माहत-भाव से, "और मुझे रोटी खिलाने को—न खाता तभी तो क्या मर जाता—"

स्वयं ही शान्त नहीं, दूसरे को भी शान्त करनेवाले स्वर में शशि कहती है, "तुमने बाबा की बात बताई थी कि दर्द से बड़ा एक विश्वास होता है—"

"हाँ, क्यों ?"

"दर्द से बड़ी एक लाचारी होती है—जितना बड़ा दर्द, उतनी ही बड़ी—नहीं तो दर्द के सामने जीवन हमेशा हार जाए!"

इसका मर्म शेखर के मन में धीरे-धीरे पैठता है। वह सोचता हुआ-सा कहता है, "हाँ, मैं जानता हूँ—" किन्तु फिर हठ पकड़कर और कुछ विस्मय से भी, "कितनी झूठी हो तुम—झूठ की विशारद!"

"तुम क्या कम झूठे हो?"

"क्यों, मैंने क्या किया है—"

"अंग्रेजी मैं भी समझती हूँ, शेखर! ज्ञान बहुत नहीं है, पर जितना है, पक्का है। नॉट डेंजरस, बट इर्रेपेरेब्ल्!" वह मुस्करा देती है...

शेखर स्तब्ध भाव से चुप रह जाता है....

"पर शेखर, मैं घबराई नहीं। डाक्टर ने जो दवा बताई, वह मेरे पास है—काफ़ी है अभी—"

"क्या—"

"एन्ड्योरेंस—एण्ड करेज; चीफ़ली करेज ...शेखर, मैं अच्छी हूँगी और तुम्हारे साथ चलकर बताऊँगी।"



ताँगा दौड़ा चला जा रहा है, मौसी स्टेशन जा रही हैं; शेखर पहुँचाने जा रहा है और उनके पार्श्व में बैठा है। उसका मन न जाने क्यों मौसी के प्रति ममता से उमड़ा आ रहा है, जिसे वह व्यक्त करने का साधन नहीं जानता, चाहता है कि मौसी का हाथ पकड़ ले और स्टेशन पहुँचने तक थामे रहे—

"शेखर, शशि क्या अच्छी होगी अब?"

"क्यों मौसी? आप घबरा क्यों रही हैं—"

"घबराती नहीं, शेखर, पूछती हूँ कि तुम उसके मन को मुझसे ज्यादा जानते हो? क्योंकि यह मन की बात है—अगर उसके मन में अच्छा होने की हठ है तो वह अच्छी हो जाएगी नहीं तो नहीं—नहीं तो नहीं नहीं। मैं उसे जानती हूँ—अपनी लड़की से हारने में हार नहीं है मेरी, शेखर!"

"मुझे तो आशा है कि वह जल्दी अच्छी हो जाएगी—"

"परमात्मा करे—शेखर, तुम फिर तो नहीं सोचोगे उलटी-सुल्टी बातें—"

"क्या?"

"तुमने बहुत बड़ा उत्तरदायित्व ले लिया है। आत्मघात की बात सोचने का अधिकार नहीं है तुम्हें। कभी भी नहीं था—जीवन सदा ही एक थाती है और उसे यों फेंकना विश्वासघात है—"

"मौसी, अब तो मुझे बहुत कुछ करने को है—"

"कब नहीं था, शेखर ! तुम देखते नहीं रहे—"

शेखर एकाएक आत्मग्लानि से भरकर कहता है, "अगर मैं सचमुच उस दिन लौट-कर न आता, तो—यह सब न होता !"

"अपने को ऐसे नहीं कोसते, शेखर ! और क्या पता इससे भी बुरा होता ? शशि शायद फिर भी रात भर तुम्हारी प्रतीक्षा करती—और सवेरे जो हुआ, वह फिर होता—क्योंकि वह तो होना ही था, कोई सफ़ाई नहीं थी; रामेश्वर ने तो मुझसे कह दिया कि—" एकाएक चुप !

"क्या कहा, बताइए न—"

"कहा कि—बात तो नई नहीं थी, केवल पता लगना नया था, और शादी भी एक बहाना था ताकि—शेखर, तीन दिनों में क्या कुछ देख-सुन लिया है मैंने !"

स्टेशन पर मौसी कहती हैं, "अब तुम जाओ, शेखर, गाड़ी के चलने तक ठहरने की जरूरत नहीं है। बैठ तो गई, अब पहुँच जाऊँगी ही—"

"नहीं, मौसी, क्या हुआ फिर—"

"साँझ से पहले तुम वापस पहुँच जाओ, इसीलिए कहती हूँ। सन्ध्या के झुटपुटे में शशि को अकेले मत छोड़ो—बड़ा उदास समय होता है, खासकर जाड़े में—" एकाएक उनका हाथ शेखर का कन्धा थपथपाता है; शेखर अनुगत होकर प्रणाम के लिए झुकता है, मौसी उसके बाल सहला देती हैं—"जाओ, बेटा"—उनका कण्ठ रुँध आता है और शेखर जानता है कि उनके करुण आशीर्वाद की छाँह उसी पर नहीं, शशि पर भी है....



साँझ और सवेरा, सवेरा और साँझ—इस प्रवाह में ध्रुव सत्य तो एक कि शेखर और शशि साथ हैं, एक सूत्र में गुंथे हैं; कि जीवन में, उद्योग में, एक उद्देश्य है, एक साध्य है, जिसमें से स्वयं प्रेरणा का सोता फूटता है....कुछ अवश्य करना है—बहुत कुछ करना है—शशि के लिए और अपने साथ के लिए....

"सुधारक, तुम्हारा ध्यान समाज की तरफ कम और भोजन की तरफ़ ज्यादा होता जा रहा है—तय कर लो, पहले सुधारक हो कि रसोइया !"

"क्यों ? और सब कुछ की तरह हमारा पाकशास्त्र भी सुधार माँगता है—वह भी तो शास्त्र है—"

"और उसमें भी रचनात्मक अभिव्यंजना की गुंजाइश है—क्यों न ? पर सवाल यह है कि तुम्हारे अनुकूल कौन-सा माध्यम है—कलम और कागज, या बेलन और आटा।"

"तुम यह तुलना करती हो तो देखता हूँ, दोनों एक ही बात हैं। रोटी बनाता है

रसोइया, खाते हैं मेहमान, तारीफ होती है गृहस्वामी की। किताब लिखता है लेखक, मज़ा लेती है जनता, और मुनाफ़ा पाता है प्रकाशक!"

"देखती हूँ कि शरीर को थोड़ा कष्ट देने से तुम्हारी बुद्धि बहुत ताज़ी हो गई है: अब कुछ काम-धाम आरम्भ करोगे कि नहीं? मैं अब अपना कोई काम तुम्हें नहीं करने दूँगी—"

"अब लिखूँगा। बल्कि बहुत-सा तो लिख रखा है।" शेखर जल्दी से कहता है, क्योंकि शशि यद्यपि कुछ स्वस्थ दीखती है तथापि इतनी स्वस्थ अभी नहीं है कि ऐसी शपथ ले ले! "लेकिन समस्या लिखने की नहीं है, तुम जानती हो; समस्या यह है कि लिखकर क्या हो! रोटी तो पक जाएगी, पर अगर अछूत के घर कोई पाहुने न आए तो?"

"तुम्हीं कहा करते हो कि धर्म की शक्ति वहीं तक है, जहाँ तक वह मर्म को साथ ले चलता है—वहाँ तो मर्म जीतेगा? अगर अच्छा खाना ब्राह्मण का ही होता हो, तब तो ठीक है, पर जब वैसा न हो—"

"पर रुचिकर और स्वास्थ्यकर में भी तो भेद है, और मैं अगर...."

"यों उलटी बातें सोचने से काम नहीं चलेगा—जो स्वास्थ्यकर है, वह रुचिकर भी हो, इसका उद्योग करना होगा—"

"शशि, वह जो सुधार-सभा के लिए वक्तव्य तय्यार किया था, उसे पूरा कर दूँ तो कुछ काम का हो?"

"पूरा कर दो। जब तक लिखने की सुविधा है, तब तक जितना सब लिख सको, लिख डालो—क्योंकि जब साथ ही उसे निकालने की भी चिन्ता हो, तब लिखने में बाधा होगी—"

"पर वह चिन्ता तो अभी रहेगी ही! अब—"

"अभी क्यों? अभी तीन महीने तुम बेफ़िक्र लिख सकते हो—कम से कम एक पुस्तक हो जाएगी—"

"तीन महीने? और क्या खाकर—अस्वीकृति के स्लिप?" फिर एकाएक शशि का आशय समझकर, "देखो, शशि, मैं इन बातों में नहीं आने का। मौसी जो इलाज के लिए दे गई हैं, वह इलाज में ही आएगा, मेरे खाने में नहीं, और—तुम्हारे भी खाने में नहीं, समझी? यों काम की नींव खोखली होती है।"

शशि स्निग्ध-भाव से शेखर की ओर देखने लगी। "अच्छा, मौसी से न लेना, मुझसे लोगे?"

सीधे स्वर में, "क्या?"

शशि ने धीरे-से अपने गले में पड़ी हुई सोने की जंजीर को छू दिया।

"यही है—बाकी तो सब पीछे छोड़ आई। पर यह एक अकेला है, इसलिए और भी 'ना' नहीं कर सकोगे।"

शेखर ने बात टालते हुए कहा, "अच्छा, चारा नहीं होगा तो ले लूंगा—इसे जमा जी समझकर रख छोड़ो। अभी तो जो लिखा है, उसका कुछ बनाता हूँ।"

पर उसके मन में यह विचार फिर गया कि उतना पर्याप्त नहीं है—कि उसे और बहुत कुछ लिखना होगा अगर वह उस माला को वहीं बनाए रखना चाहता है, और वह माला भी जो शशि को माँ ने दी थी....

शशि के पास भूमि पर बैठकर, खाट की बाही से पीठ टेककर और उठे हुए घुटनों पर कागज रखकर लिखने का उपक्रम....चिन्ता ने भी शेखर के मन में वह तीव्रता नहीं जगाई, जिसके खारेपन में लेखनी डुबाकर वह आलोचना करने बैठे; उसका मन अनुभूतियों का छाया-पट है, अनुभूतियाँ जो मधुर होकर भी स्वयं अपने राग-तत्व से पृथक् हो गई हैं, क्योंकि शेखर अपने-आपसे तटस्थ हो गया है, वह लिखने बैठा है....आलोचना से कुछ अधिक रचनात्मक वह लिखना चाहता है; और उसके निर्वेद सन्तोष के पीछे तीखी अनुभूतियों का भी इतना अवशेष है कि रचना सप्राण हो, सतेज हो....

और यह बोध कि यद्यपि उसकी एकाग्रता में सहायक होने के लिए शशि बिलकुल निश्चल पड़ी रहेगी, तथापि शेखर के कन्धे के ऊपर से दो आँखें बराबर उस सफेद फलक पर टिकी हैं, जिस पर शेखर को अपना अन्तरंग बिछाना है ...उसे लेखक के भाग्य की कटुता पर झाँकने का क्या अधिकार है जब कि लेखन का सबसे बड़ा पुरस्कार उसे प्राप्त है—एक रसज्ञ पाठक जो लिखने से पहले ही पढ़ रहा है—और आस्था से मिलने वाली शक्ति उसे दे रहा है?

किन्तु यह ज्ञान तो बाधा है—ऐसे में वह लिखेगा कैसे?

क्रमशः वह सुख भी पृथक् हो जाएगा, शेखर; वह केवल शक्ति देगा, तुम लिखो तो....

धीरे-धीरे एकाकीपन आया—स्निग्ध किन्तु सम्पूर्ण....

७

प्रकाश मन्द पड़ने लगा था; शेखर आगे झुकता गया था, जब प्रकाश इतना मन्द ह गया कि झुककर भी देखना दुस्तर हो चला, तब उसने घुटने ढीले छोड़कर, पीठ सीध करने के लिए कन्धे और सिर को पीछे फेंका—

शशि की साँस वह स्पष्ट सुन सका, और उसे भान हुआ कि वह कन्धे पर साँस गर्म स्पर्श भी अनुभव कर सकता है...वह पृथक्त्व झुटपुटे में घुल गया; शेखर एका शशि की निकटता से उमड़ आया और कुछ लजा भी गया, "तुम सब पढ़ती रही हो

"शेखर, एक दिन मैं नहीं रहूँगी; तब तुम बहुत बड़े आदमी होगे और कम्पो तुम्हारी मेज़ के पास खड़े रहेंगे कि तुम्हारे हाथ से काग़ज़ छीनकर ले जाएँ। पर त मैं यों ही पीछे खड़ा होकर पढ़ा करूँगी—और तुम नहीं जानोगे। लेकिन अगर नहीं लिखोगे, तो मैं तुम्हारे कान में चिल्ला दूँगी—"

शेखर बत्ती करने को उठा।

"शशि, झुटपुटे में तुम एक गाना गा दो, फिर मैं थोड़ा और लिखूँगा, तब तक खाना आएगा।" शशि अभी कुछ खाती नहीं, ठण्डा दूध पीती है और कुछ रासायनिक पेय जो डाक्टर ने बताए हैं—

वह चिमनी साफ कर रहा था कि कमरे का तरल वातावरण मुखर हो उठा—

"दीप, जल!

तिमिर के स्तम्भ-गर्त प्राण के समीप जल—"

पर सहसा रुककर शशि ने कहा, "आज नहीं शेखर, कल गाऊँगी—"

शेखर समझ गया, पर उस समय वह वेदना का नाम लेना नहीं चाहता था, धीरे-धीरे शशि के गान के बोल गुनगुनाने लगा। फिर बोला, "यह तो गाना नहीं है—"

"और क्या है?"

"कविता—शशि, ये शब्द तुम्हारे हैं?"

"मैं...कवि!"

शेखर ने लैम्प उठाया, मानो उसे रखने का स्थान ढूँढ़ रहा हो; और उसके भरपूर प्रकाश में शशि के चेहरे को देखने लगा।

तभी तीन-तल्लेवाले बच्चों ने आकर कहा, "हमको आज पैसे मिल गए हैं—कल हम कागज लाएँगे—आप पतंग जरूर बना देंगे न?" लड़की बड़े चिन्तित भाव से शेखर के मुँह की ओर देखने लगी।

क्षण भर शेखर चुप रह गया—कितनी दूर की बात थी जब उसने वचन दिया था ... फिर उसने पूछा, "कितने पैसे मिले हैं?"

"चार आने—"

"और मुझे दो आने—पिताजी कहते हैं कि लड़कियाँ पतंग नहीं उड़ातीं—मुझे रंगीन चुन्नी मिली है—"

"पतंग नहीं उड़ातीं?" फिर यों दिखाते हुए मानो इसका कारण याद आ गया हो, "हाँ सच तो, लड़कियाँ गुब्बारे उड़ाती हैं।"

"आपको गुब्बारा बनाना आता है?" निराश भाव से लड़की पूछती है।

"हाँ आता है—"

लड़का कुछ अविश्वास से कहता है, "हैं—लड़के नहीं उड़ाते गुब्बारे?"

शेखर हँसता है। "अगर बनाना चुन्नी ओढ़ ले तो उड़ा सकते हैं।"

शशि लड़की को बुलाकर पूछती है, "तुम्हारा नाम क्या है?"

"कुसुम कुमारी। और भइया का नाम वेद है।"

"वेदकुमार वर्मा—" यह मानो अपनी मान-रक्षा करता हुआ कहता है।

"अच्छा, तुम लोग जब कागज लेने जाओ तो पहले मुझसे पूछ जाना—"

बच्चों को ज़ीने तक पहुँचाकर शेखर धीरे-धीरे टहलने लगा। परसों वसन्त-पंचमी —सवेरे—सवेरे—सवेरे....

●

वसन्तांक निकल गया था, सम्पादक दफ्तर में नहीं थे; किसी तरह शेखर ने उनका पता लगाकर जा पकड़ा। पहले तो उन्होंने पहचाना नहीं, फिर याद दिलाने पर बोले; "आप मिलिटरी में भी रहे हैं क्या—"

"नहीं तो—"

"बड़े पंक्चुअल हैं—"

शेखर पी गया।

"जो कुछ पत्र-पुष्प हम दे सकते हैं, कभी देर नहीं करते—आप जानते हैं, तुरत दान महाकल्यान—"

कड़े स्वर से, "जी।"

"पर काम तो आफिस में जाकर ही हो सकता है—"

"तो मैं साथ चला चल सकता हूँ—"

सम्पादकजी ने कन्धे सिकोड़कर कहा, "चलिए फिर, अभी ही सही।"

एक कापी के पन्ने यों ही उलट-पुलटकर उन्होंने पढ़ते हुए स्वर से कहा, "श्रीचन्द्र-शेखर, पत्रं-पुष्पं—यह लीजिए।" धीरे-धीरे दराज़ खोलकर उन्होंने हाथ बढ़ाया और शेखर के आगे पेश किए—दो रुपये। खीसें काढ़ते हुए बोले, "सेवा में—"

शेखर थोड़ी देर आँखें फाड़कर देखता रहा, फिर उसने सम्पादक के हाथ से रुपये खींच लिए। फिर ढीठ होकर बोला, "धन्यवाद।"

दरवाज़े के पास पहुँचकर मुड़कर बोला, "आप खाते में 'पत्रं-पुष्पं' लिखते हैं ?"

"हां—क्यों ?"

किन्तु सम्पादक की अवज्ञा उचित नहीं है, धैर्य उसे सीखना होगा....शेखर ने आयास-पूर्वक कहा, "यों ही," और जो उत्तर देना चाहता था, वह मन ही मन दुहरा लिया—

"केवल 'तोयं' लिखने से एक शब्द बच जाएगा—"

घड़ों तोयं....

●

पतंग और गुब्बारा देखकर शशि ने पूछा, "यह बच्चों के लिए लाए हो ?"

"हां।"

"और अपने लिए ?"

"अपने लिए ? मैं कोई बच्चा हूँ—"

"थोड़ा-सा रंग ले आओ, तुम्हें एक समान ही रंग है—पगड़ी तो तुम बाँधते ही नहीं—"

"और तुम?" यह अनिवार्य प्रश्न पूछकर शेखर चुप लगा गया; उसने सोचा कि कल बड़े सवेरे घूमने जाकर वह सरसों के फूल ले आएगा और शशि को उपहार देगा....

"हर बात में मैं जरूरी हूँ?—"

"अच्छा, दोपहर को ले आऊँगा, अभी तुम ठंड में हाथ मत भिगोओ—"

जब दोपहर तक बच्चे पूछने नहीं आए, तब शेखर ने ही पुकारा, "वेद! वेद कुमार! कुसुम!"

थोड़ी देर बाद वेद गम्भीर मुद्रा लिए आया और कमरे के बाहर ही खड़ा रहा।

शेखर ने कहा, "क्यों, अन्दर आ जाओ—पतंग नहीं बनवाने—"

वेद ने हतप्रभ स्वर से धीरे-धीरे कहा, "माँ ने मना किया है।"

"क्यों—क्या मना किया है—"

"कहती है, वहाँ मत जाओ!" फिर शशि की ओर देखता हुआ, "कहती है, भले घर के लड़के ऐसी जगह नहीं जाते—"

शेखर चुपचाप रह गया—कनखियों से शशि की ओर देखकर दृष्टि फिर सामने कर ली।

वेद मुड़कर धीरे-धीरे जाने लगा।

"ठहरो, वेद—ये लेते जाओ।" शेखर ने वहीं पतंग, डोर, मंझा और गुब्बारा उसे देते हुए कहा, "यह कुसुम को दे देना—इसके नीचे मोमबत्ती जलाने से यह उड़ जाएगा—"

वेद का चेहरा क्षण भर खिल गया, फिर बुझ गया। "माँ डाँटेंगी—"

"नहीं, इन्हें ले जाकर छत पर रख दो; अपने पैसों से दो-एक और ले आना और सब उड़ा लेना! यहाँ नहीं आओगे तब तो माँ कुछ नहीं कहेंगी न—"

वेद चला गया।

शेखर कमरे में यों इधर-उधर करने लगा, मानो उसे कुछ काम ही हो।

शशि ने कहा, "शेखर, जाने दो रंग, यों ही समय नष्ट करता है; बैठकर लिखो—या आओ, मुझे लिखाओ; तुम बोलते जाओ, मैं लिखती हूँ—"

शेखर चुपचाप उसके पास बैठ गया, यद्यपि वह जानता था कि उस समय वह न लिख सकेगा, न लिखा सकेगा; उस समय केवल सरसों के फूलों का एक गुच्छा उसकी दृष्टि के आगे था, जो वह कल तड़के नहीं लाएगा....

क्या शशि की वे आँखें आज भी—अब भी—मेरे कन्धे के ऊपर से इस कागज़ की ओर झाँक रही होंगी, जो मैं रंग रहा हूँ, और जेल की इस लालटेन के धोखे आलोक में पढ़ती होंगी कि मैं कैसा लिख रहा हूँ?...मैं, जो बड़ा आदमी तो क्या [illegible] होने मात्र के किनारे पर खड़ा अनस्तित्व के गर्त में झाँक रहा हूँ...शशि, मेरे [illegible]

रे चीखने का स्वर कभी नहीं पड़ा है—और तुम्हारे स्वर के प्रति मैं वहरा अभी हुआ हूँ, धीमे से धीमे स्वर के प्रति भी नहीं....कन्धे के ऊपर से आती हुई, श्रुति- के पास हल्के से रोमांचकारी परस से छूनेवाली तुम्हारी नियमित साँस का ही र मैं निरन्तर सुनता रहा हूँ; और झूठ मैंने नहीं लिखा....

⊙

भले घर के बच्चे जिन लोगों के पास नहीं जाते, उन लोगों का एक-एक क़दम उन बच्चों को बड़े सजग-भाव से देखा करते हैं....जब सूर्य ऊपर चढ़ आया और भीतर आँगन में धूप आ गई, तब शशि देहरी पर आ बैठी थी कि आकाश देख ले और छत पर किल- कारते बच्चों का स्वर सुन ले; और शेखर उसके पास दीवार के सहारे खड़ा हो गया। किन्तु एकाएक उसने जाना, ऊपर से कई आँखें झाँककर उन दोनों को देख रही हैं, और उन आँखों में वैसा ही अपलक शीतल पर्यवेक्षण है, जैसा कँकड़ों या अन्य ठण्डे रक्त के जीवों में होता है....जब उसने स्थिर दृष्टि से ऊपर देखा तो एकाएक कई हाथ उठे और साड़ी या चुनरी का पल्ला आगे खींच लाए; कँकड़ों की आँखें उस पर से बिलकुल हटकर शशि पर टिक गईं। केवल एक वार वेद ने झाँककर आँगन में देखा, फिर एक स-संभ्रम दृष्टि सामने डालकर हट गया। शेखर कमरे के भीतर चला गया और धीरे-धीरे टहलने लगा; थोड़ी देर बाद शशि भी चली आई और लेट गई।

काफ़ी देर बाद—तीसरे पहर के लगभग—शेखर ने कुसुम के चीखकर रोने का स्वर सुना और आँगन में निकल आया। थोड़ी देर बाद एक धमकी से चीख दब गई, फिर कोठे की मुंडेर पर कुसुम का चेहरा आ गया, जिसके ओठ अब भी सुबकियों से कुंचित हो-हो उठते थे, पर जिसकी आँखें निर्निमेष नीचे देख रही थीं।

गुब्बारा फाड़ डाला गया था....

⊙

चौतल्ले पर रहने के अनेक लाभ हैं; चौतल्ला संसार को काफ़ी दूरी पर रख सकता है, किन्तु चौतल्ले की भी एक छत है; और जाड़े की धूप में संसार की लहरें उछल-उछल आती हैं....शेखर अनुभव करने लगा कि वह कमरा जो आश्रय था, अब कारागार व गया है, और अब वहाँ अधिक रहना नहीं होगा। वह जानता था कि शशि भी अनुभ करती है; किन्तु दोनों ही जैसे अनदेखी का अभिनय कर रहे थे....

पर यहाँ रहना नहीं होगा, तो क्या लाहौर में कहीं भी रहना होगा—क्या स्थान एक से नहीं हो जाएँगे—हो गए हैं? किन्तु अन्यत्र कहाँ—और कैसे ...

सामर्थ्य के नाम पर शेखर के पास थी 'हमारा समाज' की पुनर्मण्डित हस्तलि 'कुटुम्ब का इतिहास', 'समाज और राजनीति', दो एक और निबन्ध, तीन-चार कहानि अपने दो हाथ और ठोठ मन,—और शशि का स्नेहिल आशीर्वाद—सप्तपर्णी की

"और आपका ही लिखा समझा जाए, तो भी मैं बच ही जाऊँगा, ऐसा तो नहीं है—"

"ठीक। पर मैं तो आपको सर्वाधिकार दे रहा हूँ, आप हस्तलिपि के साथ जो करना चाहें करें—"

अन्त में यह निश्चय हुआ कि 'हमारा समाज' की लिपि सम्पादक को दे दी जाएगी; वे उसे संशोधित करके पहले क्रमशः छापेंगे, और फिर यदि पाठकों में उत्साह दीखेगा तो पुस्तकाकार—पुस्तक पर सम्पादक का नाम होगा, लेखक का नहीं। सम्पादक को घटाने-बढ़ाने, बदलने, छापने या न छापने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। और इस सर्वाधिकार विसर्जन के बदले शेखर पाएगा पुस्तक प्रकाशन के दो मास बाद सौ रुपये; या तुरत साठ रुपये; किन्तु तुरत की कार्रवाई के लिए उसे एक शर्त्तनामा लिखकर देना होगा जिसमें ये सब बातें लिखी जाएँगी।

इसके लिए गवाह भी आवश्यक समझे गए; फलतः जहाँ शेखर ने पहले उनसे भेंट की थी, वहीं पर शर्तनामा लिखा गया और शेखर ने हस्ताक्षर कर दिए। वहीं से रुपया लेकर सम्पादक शेखर को देने लगे तो बोले, "आपने जिन शर्तों पर स्वीकृति दी है, उनका पूरा अभिप्राय आप समझते ही हैं। बाद में सम्पादक से मतभेद होने पर आपको गिला नहीं होना चाहिए। हम सद्भावना से ही सब कुछ कर रहे हैं; आपको यह सन्तोष होना चाहिए कि आपके विचारों का पूरा नहीं, तो आंशिक प्रचार तो हो रहा है।"

शेखर इसे कड़वी घूंट करके पी गया। सम्पादक फिर कहने लगे, "आजकल ऐसा जमाना है कि सद्भावना का श्रेय किसी को नहीं मिलता। आप ही कल को सोचें कि पुस्तक मैंने क्यों दे दी—"

अबकी शेखर से नहीं रहा गया। बोला, "आप अगर डरते हैं कि मैं पीछे पुस्तक पर अपना लेखकत्व का अधिकार जमाना चाहूँगा, तो यह डर निर्मूल है। प्रकाशन के बाद पुस्तक में कुछ रहेगा, जिस पर मैं अधिकार जमाना चाहूँगा या जिसका मैं उत्तरदायी भी हूँगा, ऐसा भरोसा मुझे नहीं है। मैंने तो पुस्तक कुएँ में डाल दी—और मुंडेर पर पड़े हुए साठ रुपए उठा लिए।"

सम्पादक चुपचाप शेखर के मुंह की ओर देखते रहे। दो गवाहों में से एक का, जो युवक था, चेहरा देखकर शेखर को लगा कि उसमें कुछ करुणा-मिश्रित उत्सुकता है... शेखर ने नमस्कार करके विदा ली और बाहर निकल आया।

एकाएक उसके पीछे एक स्वर ने कहा, "क्षमा कीजिएगा—"

शेखर ने मुड़कर देखा, वही युवक कुछ झिझकता हुआ उससे बात करने को चला आ रहा था।

"कहिए—"

साठ रुपये....बड़ी चीज होते हैं, क्योंकि वे मुक्ति का साधन भी हो सकते हैं....एक घर में जहाँ चारों ओर—वल्कि नौ दिशाओं में—पड़ोसियों की रुखाई है और ऊपर से पाले की मार!—बँधे रहने के शाप से मुक्ति का साधन, क्योंकि बिना ऋण चुकाए और आगे बढ़ने का प्रबन्ध किए मुक्ति कहाँ है! वह छोटा-सा कोणाकार कमरा एक दिन जिस आसानी से सप्तपर्णी की छाँह पाकर घर बन गया था, उसी आसानी से सिमट भी गया, क्योंकि अभी छाँह ही छाँह उसने जानी थी, जड़ों की जकड़ नहीं। पुस्तकें एक पेटी में चली गईं; कपड़े एक ट्रंक में—शशि के पास अभी था ही क्या! —और माँगा हुआ बिस्तर लौटाकर शेखर जो दो मोटे खुरदुरे कम्बल ले आया था, वे बिस्तरबन्द का काम दे सकते थे....शेखर ने और सब तय्यारी कर ली थी; केवल बिस्तर दोनों पड़े थे, क्योंकि अभी कुछ निश्चय नहीं हुआ था कि जाया कहाँ जाए.... शेखर के मन में रह-रहकर विचार आता था कि जब स्थानान्तर करना ही है, तो क्यों न इतनी दूर जाया जाए कि आस-पास के गुञ्झरों के धागों की खींच वहाँ तक नहीं पहुँचे; कि शान्ति से काम किया जा सके, शशि कुछ विश्राम पाकर स्वस्थ हो सके, और जीवन को कुछ अर्थ दिया जा सके....पूँजी उनके पास नहीं है, वे शून्य से ही आरम्भ करने को प्रस्तुत हैं, ऋण से आरम्भ करने की बाध्यता में क्यों रहें, पर साथ ही उसे कुछ डर भी लगता था कि बहुत दूर जाना कहीं शशि के लिए अहितकर न हो; एक कोमल भावना उसे कहती थी कि पौधा अपने स्वाभाविक वातावरण से बहुत दूर जाकर नहीं पनपता....शशि में दृढ़ता है और सहिष्णुता है अवश्य, पर....कभी वह सोचता, जब स्वभाव ने उसे और परिस्थिति ने शशि को एक वातचक्र में डाल दिया है, जहाँ घूमना ही घूमना है, भटकना और विद्रोह करना; तो क्यों न वह सब भूलकर अपने को और शशि को उसी अनिश्चित साहसिक जीवन में झोंक दे; किन्तु फिर शशि की स्वास्थ्य-चिन्ता उसे रोक देती। और इस प्रकार बाहर सब ओर से हाथ समेट लेने पर भी उस कोणाकार कमरे के दोनों भागों में दो नियमित साँसों का सखा-भाव अक्षुण्ण पनपता जाता....

रामकृष्ण दो दिन देर करके आया; साथ एक और व्यक्ति को लेकर। शेखर उन्हें लेकर कमरे के बैठक अंश में बैठा, शशि कोने की ओट हो ली।

रामकृष्ण ने कहा, "हम आप से एकान्त में बात करना चाहते थे—"

इशारा समझकर शेखर बोला, "मेरी बहिन मुझसे अधिक विश्वासपात्र है—और भरसक मेरी मदद भी करेगी—"

"ओहो—तब तो उन्हें हमारे साथ सहयोग करना चाहिए—हमारे पास स्त्री-कार्यकर्त्ताओं की कमी है—"

काम की बातें होने लगीं। शेखर संगठन के बारे में बहुत कुछ जानना चाहता था; किन्तु उस समय की मानसिक स्थिति में पूछने की बजाय कुछ करने की माँग ही उसमें

ये 'घर में शेखर किरायेदार नहीं था; लगभग अतिथि था। रामकृष्ण ने आकर
ा था कि अलग मकान तो बहुत तलाश करके भी नहीं मिल सका, और फिर ऐसी
रहना भी ठीक नहीं, जहाँ बहुत अधिक पूछताछ हो, क्योंकि यह उनके काम के
सबसे अधिक शंकनीय बात है, इसलिए उनके दल ने निश्चय किया है कि एक
योगी के यहाँ ही शेखर को स्थान दिला दिया जाए; शशि और वह दोनों वहीं रहेंगे
र खाने की व्यवस्था भी घर से ही होगी, यद्यपि उन्हें छोटे-छोटे दो अलग कमरे मिल
एँगे और वे चाहेंगे तो खाना भी कमरे में पहुँचा दिया जाएगा, अन्यथा खाना वे परि-
ार के साथ खा सकेंगे। और कमरों के लिए उन्हें किराया नहीं देना पड़ेगा; वह सह-
ोगी अपने चन्दे के रूप में दल को भेंट दे देगा। केवल दोनों के भोजन के लिए तीस
रुपये मासिक की व्यवस्था शेखर करेगा....

और क्रमशः शेखर ने पाया कि वह एक नए जीवन में प्रवेश कर रहा है; समाज के प्रति उसका विद्रोह भाव उग्र तो उतना ही है, किन्तु समाज के प्रति उतना न होकर एक नया रूप ले रहा है—एक अमूर्त्त भावना का विरोध बनता जा रहा है—भावना जिसका धुंधला-सा ज्ञान उसे पहले भी था, किन्तु जो जेल के दस महीनों में कुछ स्पष्ट होती गई थी और अब इन नए सहयोगियों के सम्पर्क से एकाएक स्थिर हो चली थी—इतनी स्थिर और स्पष्ट मानो मूर्त्त होती जा रही हो....कभी-कभी एक भीषण सन्देह उसके भीतर जाग उठता कि वह फिर एक बार मूर्ख तो नहीं बन रहा है, क्योंकि उसके अनजाने उसकी बौद्धिक घृणा को एक सर्वथा अबौद्धिक और स्थूल पात्र दिया जा रहा है, जिसमें बँधकर उसकी गति नष्ट हो जाएगी और वह केवल विष उत्पन्न करनेवाली रह जाएगी, आग नहीं....फिर कभी वह सोचता कि उसका समूचा रागात्मक जीवन एक हवाई पीठिका पर बीतता रहा है और अब एक मजबूत भित्ति मिल जाने से वह दृढ़ हो जाएगा और यथार्थ के साथ अधिक सामंजस्य पा सकेगा....

यों दिन बीतते चले, और वह गुप्त आन्दोलन के फैले हुए जाल में अधिकाधिक उलझता चला। उस उलझने में सन्तोष था, सान्त्वना थी, एक छिपा दर्प था, जो जानता है कि अपने को स्वेच्छया भाड़ में झोंक रहा हूँ, और एक आशा थी कि इस प्रकार उठाया हुआ खतरा भूल का भी मार्जन करता है और इसलिए जीवन को सार्थकता देता है। दांव खेलना बुरा है, किन्तु जब यह जानते हुए खेला जाए कि पाँसे आग के हैं और उन्हें छूने से ही हाथ जलते हैं, तब क्या उसके समर्थन में कुछ भी नहीं है? शेखर जानता था कि यह भावना-मूलक क्रान्तिकारिता बड़ी खतरनाक हो सकती है, क्योंकि इसका बल आकाश-लता का बल है, जिसकी जड़ें कहीं नहीं होतीं और जो इसलिए अप[ने] आधार को ही खा जाती है; किन्तु वह यह भी आशा करता था कि जब वह इस मौलि[क] दुर्बलता को पहचानता है, तब उसका शिकार नहीं होगा; यथासमय बुद्धि उसकी सहाय[ता] करेगी और सूने मोर्चे की रक्षा करने आ डटेगी....

और इस अ-यथार्थता के माया-प्रांगण में यथार्थ एक था, जिसे वह निष्कम्प कर

थामे था....शशि का प्यार, जिसकी दृढ़ अनभिव्यक्ति के नीचे था शेखर का अडिग विश्वास कि यह प्यार ज्ञान से परे है, अनुभूति से बड़ा...यह विश्वास और यह बोध ही इतना बड़ा यथार्थ हो गया था कि पकड़ में न आए—शेखर कभी इस विषय में सोचने लगता तो एकाएक उसे जान पड़ता कि यही वह सबसे बड़ा अ-यथार्थ है, जो और सब पार्थिव को भी अपार्थिव बनाए दे रहा है....

प्यार प्लवन-शीला नदी की तरह है—उसमें स्थैर्य की अवस्था नहीं होती। जिस प्रकार नदी या तो अपने अन्तर्वेग से अपने पाट को काटती और गहरा करती हुई चलती है, या फिर अपने प्रवाह की तलछट से नए कगार बनाती और पाट पूरती जाती है, उसी प्रकार प्यार भी या घटता है या बढ़ता जाता है—या बदलने लगता है—नदी की धारा की ही भाँति!

और अ-पार्थिव महदनुभूति के उस प्लवन में भी शेखर को धीरे-धीरे बोध होने लगा कि कहीं कुछ अवरोध या अटकाव है; उस अगाध और अपरिमेय में कहीं कुछ ऊना है.... उसने अपने को नए काम में डुबा लिया था; और वह देखता था कि शशि उसके काम में हाथ बटा रही है और समाज-शास्त्र का जो अध्ययन उसने बीच में छोड़ दिया था, उसे आगे बढ़ाती हुई निरन्तर पढ़ती और संकलन करती रहती है। इससे वह समझता था कि दोनों अपने-अपने काम में पूर्णतया निरत हैं और अपने अस्तित्व को सार्थक कर रहे हैं, और उस सार्थकता को पुष्ट करनेवाला निस्सन्देह है उनका परस्पर समीपत्व, उनका सह-योग और सख्य, उनका वह कितना बड़ा प्यार—शेखर के जीवन का सबसे बड़ा सत्य.... किन्तु कभी अचानक उनकी दृष्टि मिलने पर शेखर की आँखें एक अस्पष्ट असन्तोष और झिझक से भरकर परे हट जातीं और जैसे उसका दृश्यबोध बिखर जाता; और फिर एकाएक वह अपने-आपसे खीझ उठता कि क्यों वह इस पूर्णता में एक-रिक्त का और एक संकोच का सृजन कर रहा है... तब वह इस संकोच को धो डालने के लिए शशि के और निकट आने का यत्न करता, अत्यन्त आत्मीयता के कुछ एक क्षणों में शशि के स्वास्थ्य की चिन्ता से भर उठता और जान लेता कि भीतर कहीं शशि रुग्ण है और अपनी पीड़ा को अनदेखी कर रही है, क्योंकि शेखर के अतिरिक्त कुछ नहीं देखना चाहती, कि उस एकाग्रता में एक आतुर आशंका है कि वह और कुछ भी देखेगी तो सब छिन्न-भिन्न हो जाएगा—उस शापग्रस्ता बन्दिनी के दुर्ग की तरह, जिसका कल्याण निरन्तर बुनाई (उधेड़-बुन!) करते रहने में था, और जिसके दर्पण में बाहर की दुनिया का प्रतिबिम्ब देखते ही सब कुछ गहन-तिमिरासन्न होकर ध्वस्त हो जाएगा....और इसका बोध होते ही उसके अपने भीतर अगणित आशंकाएँ जाग उठतीं; उनकी कोड़े की-सी मार से उसका उद्विग्न प्यार और भी तिलमिला उठता, उसे लगता कि वह शशि के और भी इतना निकट आना चाहता है जितना कि हो नहीं सकता, हो नहीं सकता, सोचा नहीं जा सकता, क्योंकि वह उससे भी निकट है जितना कि वेदना से टीस....प्यार की वेदना, कि वेदना का प्यार—'प्रिय, तुम्हारे प्यार की वेदना मुझसे सही नहीं जाती....'

०

पर्चे और पैम्फलेट लिखने का काम बहुत अधिक नहीं था; शेखर के पास समय काफी रहता था। क्रमशः वह जानने लगा कि दल का कार्यक्रम केवल प्रचार तक सीमित नहीं है, उसकी बहुमुखी कार्य—प्रगति थी, अस्त्र-संग्रह, विस्फोटक पदार्थों की तय्यारी और अनेक प्रकार के रासायनिक अन्वेषण, गुप्त संग्रहालयों का संगठन आदि कई और भी दिशाएँ हैं....दल के विषय में उसकी जानकारी का वृत्त क्रमशः बड़ा होता जा रहा था, या होने दिया जा रहा था; प्रकाशन के कामों में वह केवल सहायक से बढ़कर सहकारी संचालक-सा हो चला था और इस नाते कार्य की अन्य दिशाओं का ज्ञान उसके लिए स्वाभाविक-सा मान लिया गया था....और प्रचार के अन्तर्गत स्त्रियों और विद्यार्थी-समाज में जागृति और राजनैतिक असन्तोष फैलाने का जो कार्य था, उसमें शशि का सहयोग माँगना इतना अधिक स्वाभाविक था कि शेखर ने कभी संकल्प-पूर्वक वैसा सोचा भी नहीं, यों ही कर डाला ...शशि भी थोड़ा-थोड़ा लिखने लगी, और मुद्रण के काम में भी सहायता देने लगी ; दो एक बार घूमकर छिपे-छिपे पर्चों का वितरण भी कर आई....फिर (न जाने किसकी सम्मति से) सोचा गया कि ऐसे लुका-छिपी के काम दूसरे भी कर सकते हैं, अतः शशि जहाँ तक हो सके, प्रकाश्य ही काम करे, और इसके लिए विद्यार्थियों की सभाओं में जावे....

वैसा भी होने लगा। शेखर कभी विद्यार्थी की सभाओं में चला जाता, क्योंकि प्रचार की योग्यता के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिनमें प्रचार किया जाए, उनकी मनोधारा किधर बहती है, किन्तु वह कार्रवाई में कोई भाग न लेता, वह काम दूसरे ही किया करते। शशि विद्यार्थिनियों या कभी स्त्रियों की मीटिंगों में जाती, और वहाँ से लौटकर शेखर को सुनाती कि क्या-क्या हुआ, किसने क्या कहा और किसने क्या उत्तर दिया....कभी-कभी उसकी आँखें एकाएक उत्साह से भर उठतीं और वह मीटिंग में वर्ती हुई किसी उक्ति का विशदीकरण करने लगती; उसमें इतनी तन्मय हो जाती कि शेखर प्रसन्न होकर सोचता, शशि सुखी है और तुष्ट है, जीवन में अर्थ की कमी उसे नहीं खल रही....और कभी एकाएक चमत्कृत भाव से वह पाता कि पढ़कर और तर्क और ऊहापोह द्वारा वह जहाँ नहीं पहुँचा था, वहाँ शशि अपने सहज सूक्ष्म बोध द्वारा पहुँच गई है। तब वह मुग्ध दृष्टि से शशि को ओर देखता रह जाता, और शशि की युक्तियाँ और उक्तियाँ उसके आलोकित मनोगुम्फ में गूँजा करतीं....

"हम लोगों की नैतिकता भौगोलिक नैतिकता है—विन्ध्याचल के इस पार उत्तर भारत है, उस पार दक्षिणी प्रायद्वीप है—उसी प्रकार यह नीति की रेखा है, इसके इस पार सत् है, उस पार असत्....इसीलिए हमारी नैतिकता निष्प्राण है; उसका अन्तिम प्रमाण कोई जीवित सत्य नहीं है, केवल एक रेखा है, एक निर्जीव और पिटी हुई लीक....

"इस नैतिकता के मूल में निषेध है, इसलिए यह स्वयं नकारात्मक है। संसार के सभी स्मृति-शास्त्रों की पड़ताल की जाए; उनमें जो वैविध्य या विभिन्नता है, उसे गौण मानकर एक ओर रख दिया जाए, तो उनमें सार्वभौम नीति के नाम पर मिलेंगे तीन प्रधान सूत्र—कि सन्तोष कर, सत्य बोल, और परस्त्री-गमन न कर। गहरे जाकर देखें तो ये क्या हैं? तीन बड़े निषेध—पहला मानव की स्वाभाविक लोभ-वृत्ति का निषेध, दूसरा उसके सहज भय का निषेध, और तीसरा उसकी सहज द्वन्द्व-वृत्ति का वर्जन! क्यों निषेध नीति का मूल हो—क्यों न नीति इतनी बड़ी हो कि सहज-वृत्ति का बहिष्कार करने की बजाय उसे आत्मसात् कर ले, अपने में सोख ले, लीन कर ले?"

गूँज धीरे-धीरे शान्त हो जाती, फिर अनुगूँज में हठात् एक खोखला-सा स्वर आ जाता, और शेखर के हृदय को सहसा नोचती हुई एक गाँठ कहती कि एक बुनियादी सत्य की अवहेलना पर खड़ा हुआ यह सब विवेक व्यर्थ है, व्यर्थ, और निरभिमान है यह बोध, जिसमें रस की उत्पत्ति नहीं है!

•

शेखर से प्रोत्साहन पाकर शशि क्रमशः अधिकाधिक बड़ी सभाओं में जाने लगी, विद्यार्थिनियों की समितियों का स्थान कालेज के विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों की सभाओं ने लिया, फिर विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य जनता की सभाएँ भी शामिल हो गईं। शेखर स्वयं न जाता; उत्कण्ठा-पूर्वक शशि के लौटने की प्रतीक्षा करता, और उसके लौटने पर उसके दीप्त चेहरे को देखकर ऐसा प्रसन्न होता, मानो उसी ने कोई जय-लाभ किया हो....इस उत्साह में वह यह चीन्ह न पाता कि शशि के चेहरे की वह लाल और गर्म दीप्ति विजय की या उल्लास की ही दीप्ति है या और किसी आन्तरिक उद्वेग की, और अपने उत्साह में वह यह न देखता कि शशि के स्वर में जो तनाव है, वह मीटिंग के या विषय के महत्व के साथ कोई अनुपात नहीं रखता ..सन्ध्या आती और रात घनी हो जाती, उनके दो कमरों का अलगाव जाड़े के चंगुल में जकड़ा जाता, और शेखर शशि के कमरे के असाधारण मौन के कारण उठकर झाँककर देखता कि शशि निर्निमेष छत की ओर देखती पड़ी है....कभी वह इतने से भी नहीं समझता; फिर कभी वह डर से भर आता कि शशि स्वस्थ नहीं है और कभी अचानक उसका साथ छोड़कर चली जाएगी—किन्तु इससे आगे उसकी बुद्धि न जाती—काम के और कुछ अपने इस प्यार के सम्मोहन ने मानो एक विशेष सीमा से पार देखने की उसकी शक्ति को सुला दिया था....

इसी मंत्र-बद्ध मन-बोध से शेखर ने शशि को एक सार्वजनिक सभा के लिए तय्यार किया, जिसमें बहुत-से वक्ता बोलनेवाले थे। असहयोग आन्दोलन की तात्कालिक लहर अपने उतार पर थी, और चाहे जहाँ, जैसी भी सभा हो, उसमें राजनैतिक प्रश्नों का उठ आना अनिवार्य हो गया था; इसलिए गुप्त दलों के लोग भी सब तरह की

सभाओं में भाग लेने लगे थे कि उनके सहारे अपने प्रभाव का वृत्त और अपने सहायकों की संख्या बढ़ा सकें। इस विशेष सभा में मुख्य विषय 'स्त्रियों के समानाधिकार' पर बोलने के लिए शशि को तय्यार करके शेखर ने स्वयं भी साथ जाने का निश्चय किया था, क्योंकि सभाओं के सहारे ही नए सम्बन्ध-सूत्र जोड़े जा सकते हैं और नए सम्भाव्य सहायकों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है....

सभा में मंच के पास ही एक ओर की अगली पंक्तियों में बैठे हुए शेखर का व्यक्तित्व मानो दो असमान खण्डों में विभक्त हो गया था—एक वक्ताओं की बात सुन रहा था और दूसरा जैसे समूची सभा के आन्तरिक स्पन्दन को भाँप रहा था—उसके पुंज-रूप को भी; और पुंज के अन्दर अलग-अलग इकाइयों के अलग-अलग स्पन्दन को भी, उसकी अनुकूलता प्रतिकूलता का व्यास नापता हुआ....

शशि बोलने को उठी—धीरे-धीरे आगे बढ़कर, एक हाथ की उँगलियाँ हल्के स्पर्श से मेज पर टेककर खड़ी हो गई, एक उछलती दृष्टि उपस्थित जन-समूह को जैसे चीन्ह गई, फिर शशि ने बोलना आरम्भ किया।

उस दुहरी सजगता से देखते हुए शेखर ने जाना कि शशि के सामने आते ही जनता में कौतूहल और औत्सुक्य की एक लहर दौड़ गई है, उसका सामूहिक मन जैसे आगे को झुक आया है, और उसके साथ ही शशि जैसे उसी अनुपात में सिमट गई है, पीछे हट गई है, और एक आवश्यक बात कहने की लाचारी का-सा अनिच्छुक भाव उसके चेहरे पर घना हो आया है ...हल्का-सा अभिमान का भाव उसके मन में उठा, शशि इतनी घिरी होकर भी इन सबसे कितनी दूर है, कितनी तटस्थ! जिनका भीतरी जीवन सम्पन्न है, विशाल है, वही बाहरी जीवन से इतने असंलग्न अनासक्त रह सकते हैं....और क्या इस भीतरी सम्पन्नता का ही अनुमान उस सभा को नहीं ललकार रहा, क्या उसी के आकर्षण से वह आगे नहीं खिंची हुई, क्या....

शेखर सभा के एक-एक चेहरे का भाव पढ़ने में इतना तन्मय हो गया कि कुछ भी सुनना भूल गया; यों शशि के घने, शान्त, पर किसी आन्तरिक स्पन्दन से गूंजते हुए स्वर की लहरें अनसुनी भी उसके भीतर पैठ रही थीं; जब तक स्वर वैसा था तब तक शेखर आश्वस्त था और अर्थ की उपलब्धि आवश्यक नहीं थी—

पर स्वर की गूंज में एक हल्की-सी कम्पन क्या है, उसका घनापन क्यों बिखरने-सा लगा है, उस शान्ति के नीचे यह विद्रोही तीखापन क्या जगा आ रहा है—

...."आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श—किन्तु अभिमान की काई के नीचे आदर्श का पानी क्या कभी बहता है, कि बँधकर सड़ गया है? गृहस्थ-धर्म उभयमुखी होता है; किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है; सत्य तो दूर, करुणा भी देय नहीं रही, और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है; निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, जहाँ चाहे, अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे! और इसकी कहीं अपील

नहीं है, क्योंकि स्त्री कभी दुहाई दे तो उत्तर स्पष्ट है कि 'और शादी की किस लिए जाती है?' यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है, देह नहीं, सदियों की सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढाँचा है—"

शेखर जैसे सोचता-सा है कि शशि सभा से दूर है, किन्तु अपनी बात से बिलकुल भी दूर नहीं है—अन्य लोग जैसे विषय के बाहर से, ऊपर से बोलते हैं, पर शशि में वह आग-सा सुलग रहा है—क्या इतनी तीव्रता के साथ बोलना चाहिए? किन्तु, नहीं तो बोलना ही क्यों चाहिए, अगर देने को ज्वाला नहीं है तो अँधेरा—

उसकी चेतना अचकचाई-सी फिर सभी की ओर लौटती है—लोग तो सुन नहीं, मुस्करा रहे हैं—और शशि की आँखों की स्थिरता जैसे विचलित सभा में कहीं—कहीं-भी, कुछ-भी खोज रही है, जिस पर टिक जाएँ—एकाएक सभा में कहीं से कह-कहा उठता है और फिर सारी सभा अट्टहास से गूँज उठती है, जिसकी गड़गड़ाहट को भेदती है या तो दो-चार सीटियाँ या शशि का खौलता-सा स्वर, "ठीक है, यही है आपके साथ देने का, आपका आदर्श, यह हृदयहीन बुद्धिहीन रेंगता हुआ तिरस्कार—"

सभा को क्या हो गया है? और क्या यह शशि ही है? नहीं, शशि, नहीं, सभा से लड़ने का कोई लाभ नहीं है, सभा का अविवेक समूह का पुंजगत अविवेक है, उससे—

शशि का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर शेखर लपककर मंच पर पहुँचा और चारों ओर छाई हुई उठाती हुई अव्यवस्था के बीच से उसे हटाने के लिए उसे खींचने लगा, पर शशि जैसे उसे जानती ही नहीं थी, केवल सभा को जानती थी, और अपने आहत तमतमाए शरीर को.... किसी तरह पीछे खींचकर शेखर उसे मंच से हटाकर पीछे के कमरे तक ले गया, वहाँ एक कुर्सी पर उसे बलात् बिठाकर उसने मंच की ओर का द्वार धड़ाके के साथ बन्द कर दिया; उधर से आता हुआ बहुरूप कोलाहल धीमा पड़ा तो शशि फिर उठी, पर शेखर उसे बाहर की ओर ले गया; जाता ताँगा रोककर शशि को उसमें बिठाकर स्वयं बैठ गया, "चलो—" कहकर "किधर बाबूजी?" का उत्तर देते-देते उसने अनुभव किया कि शशि की देह अभी तक थर्रा रही है, जैसे तार को प्रेरित करने के बाद प्रत्यंचा काँपती रहती है... वह स्तब्ध बैठा रहा, केवल ठिकाने पहुँचकर, ताँगेवाले को पैसे देकर जब वह बाँह का सहारा देने के लिए शशि की ओर बढ़ा, तब उसने बड़ी कोमल चिन्ता के स्वर में कहा, "शशि—"

जैसे शशि के भीतर कुछ टूट गया हो, वह लड़खड़ा गई और शेखर की सँभालती हुई बाँह ने जाना कि वह बेहोश हो गई है....

कमरे में उसे लिटाता हुआ शेखर यह नहीं सोच सका कि मूर्छा देवताओं की देन होती है, कि अगाध तनाव से अपनी देह की रक्षा के लिए ही वे विस्मृति के फूल बरसाते हैं, कि उस मन्त्र-सिक्त नींद में प्राणों की सूक्ष्म देह विश्राम पाकर स्फूर्त हो उठती शशि के मुँह पर छींटे देता और एक हाथ से पंखा करता हुआ वह कुछ भी सोच

सका, भीतरी घबराहट की लहर सहसा बढ़कर एक उन्मत्त आवेश बन चली....उँगलियों की सूनी पकड़ मानो न-कुछ की हड्डियों को मसलने लगी....

एकाएक शशि ने खोई-सी आँखें खोलीं; उसे खोजकर पहचाना और फिर तनकर कहा, "जानते हो, वे क्यों हँसे थे, शेखर ?" और चेतना फिर बुझ गई।

वह भीतरी लहर उमड़कर उसे लील गई। उसके हाथ जैसे तोड़ने-फोड़ने को फड़क उठे, उँगलियों की सूनी पकड़ न-कुछ की हड्डियाँ मरोड़ने लगी... शेखर ने पानी का एक गिलास शशि के पास रख दिया, शरीर के कपड़े कुछ ढीले कर दिए, एक चादर उढ़ा दी; फिर एक बार चारों ओर देखकर बाहर चल पड़ा—मीटिंग की ओर....उनकी इतनी मजाल, बर्बर पशुओं की—शशि को हँसते हैं, शशि को, शशि के जीवन को और उसकी यातना को....मेरे सामने हँसे कौन-सा मुँह—

किन्तु जब वह सभा-स्थान पर पहुँचा तो वह खाली हो चुका था, सभा बिखर गई थी....कुछ देर वहीं खड़े रहकर वह लौटा ; बाहर सड़क पर आया तो अचानक एक ओर उसे हँसने का स्वर सुनाई दिया। उधर मुड़कर उसने देखा, दो सूट-धारी नवयुवक बाबू चलते हुए हँस रहे थे। क्यों, किस बात पर, यह पता नहीं था, पर उनका हँसना ही जैसे शेखर को डस गया ; वह उनकी ओर बढ़ा और जानबूझकर दोनों को धक्का देता हुआ बीच से निकल गया।

"ए—देखो जी—"

इसी की शेखर को जरूरत थी ! उत्तर में उसने कड़ककर कहा, "क्या है ?" और एक घूंसा बाबू को दे मारा। क्षण भर में दोनों गुत्थमगुत्था हो गए; बाबू का साथी हक्का-बक्का देखता रह गया। किन्तु यह देखकर कि अकेले साथी की जीत नहीं होगी, वह भी उलझने को तय्यार हुआ, पर तब तक भीड़ जुटने लगी थी; लड़ाई आगे नहीं चली, लोगों ने खींच-खाँचकर अलग कर दिया और जब तक बाबू लोग उन्हें सब मामला समझाने लगे, तब तक शेखर अलग होकर सबको घूरता हुआ चल पड़ा....धीरे-धीरे बोध उसके भीतर जागने लगा कि वह अभी एक मूर्खता कर चुका है; पर साथ ही एक विश्रान्ति का, तनाव के मिट जाने का भी अनुभव उसे हुआ....वह जल्दी-जल्दी घर की ओर चला, क्योंकि तनाव का ज्वार उतरते ही शशि के लिए चिन्ता ने उसे आ घेरा।

शशि की मूर्च्छा टूट चुकी थी, पर शेखर ने उसे छूकर देखा, उसकी देह तीव्र ज्वर से जल रही थी। वह शशि के माथे पर हाथ रखकर सिरहाने भूमि पर बैठ गया।

"क्षमा करो, शेखर—"

"........"

"पता नहीं, मुझे क्या हो गया था—हिस्टीरिया इसी को कहते हैं ?"

"नहीं, हिस्टीरिया उसे कहते हैं जो मुझे हुआ था।" शेखर फीकी हँसी हँस दिया। "दो बाबुओं से मार-पीट कर आया।"

"कब ?"

"अभी, जब तुम—सोई थीं।"

"क्यों?"

"क्यों जानता, तो हिस्टीरिया कैसे होता? क्यों न जानने को ही तो हिस्टीरिया कहते हैं। पर शशि, शशि, शशि—" शेखर से कुछ कहते नहीं बना, वह धीरे-धीरे शशि के केश सहलाने लगा; और जब शशि ने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया, तब बिलकुल निश्चल हो गया....

यह भूल अब फिर नहीं होगी, शशि; झूठे अहंकार को लेकर मैं अपना सौभाग्य दूसरों को दिखाना चाहता था; बिना जाने कि सौभाग्य तभी होता है, जब दिखाने को पास कुछ न होने पर भी व्यक्ति सम्पन्न होता है....शशि, तुम्हारे दिन पुनीत हों, क्षण-क्षण पुनीत हों; शशि....

●

दिल्ली....

धुएँ की यवनिका में से कभी दायीं ओर जमुना का पुल झिलमिला जाता है, कभी और भी दायें हटकर किले की एक बुर्जी और दीवार; और कभी धुंध के और भी छट जाने पर सामने जमुना की दुबली श्यामल देह भी रेत के लम्बे परिधान में लिपटी दीख जाती है, और पार झाऊ की झाड़ियाँ, और अधूरे छोड़ दिए गए एक कुएँ का स्तूपाकार गोला.... शशि को तकियों के सहारे कुछ उठाकर, ताकि वह खिड़की के बाहर का दृश्य देख सके, शेखर स्वयं उसके पीछे खड़ा है, और भोर का पहला उद्घाटन जो देखा, उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। धुंध और धुएँ के बीच से जो कुछ दीखता है, वह सब नया और अपरिचित है; किन्तु उसके नयेपन के प्रति ही एक बन्धुभाव उसमें जागता है, क्योंकि यह सब लाहौर नहीं है; वे दोनों एक विषैले वृत्त से बाहर निकल आए हैं और यहाँ की धुंध के पीछे अवश्य एक नया व्यक्तित्व है, जो मित्र का है, बन्धु का है—चाहे उसे पहचानने में कुछ दिन लग जाएँ....

यहाँ आने के पीछे एक इतिहास था। षड्यन्त्र-कारियों के जीवन का जो कुछ नया ज्ञान शेखर ने पाया था, उसके आधार पर उसने एक छोटा-सा उपन्यास लिख डाला था, जिसमें कथा गौण थी; उस जीवन को ज्वलन्त रूप से जनता के आगे उपस्थित करना, और उसको निमित्त बनाकर उग्र असन्तोषकारी विद्रोहात्मक विचारों का प्रचार करना ही मुख्य उद्देश्य था। उपन्यास इतना 'गरम' था कि प्रकाश्य रूप से उसका मुद्रण हो ही नहीं सकता था, अतः प्रकाशक खोजने का सवाल नहीं था, पर रामकृष्ण ने हस्तलिपि उससे लेकर दो-चार व्यक्तियों को दिखाई थी और फिर शेखर को बताया था कि गैर-कानूनी तौर पर उसे छापने और बेचने का प्रबन्ध हो सकेगा, और एक 'जिम्मेदार' ने इस काम के लिए बहुत-सा रुपया भी दिया है। फिर यह भी कि पुस्तक लाहौर ही में छपेगी, अतः शेखर का यहाँ से चले जाना ही उचित है, जैसा कि वह स्वयं चाह—

है ; और यह सम्भव बनाने के लिए दल ने निश्चय किया है कि सिम्पेथाइज़र से पाए हुए रुपए में से ढाई सौ शेखर को दे दिया जाए, जिससे वह अन्यत्र जाकर अपने योग्य व्यवस्था कर सके। शेखर ने दिल्ली जाने का निश्चय कर लिया, क्योंकि बड़े शहर में शान्ति से रह सकना अधिक सम्भव है, और बिना अपनी ओर अधिक ध्यान आकर्षित किए कुछ जीविका कमाने की भी व्यवस्था हो सकती है, और फिर दल के लिए भी वह बहुत-कुछ कर सकेगा....रात के सफ़र से शशि को कष्ट न हो, इसलिए प्रातःकाल चलकर वे रात को दिल्ली पहुँचे थे ; दल के एक सदस्य ने जमुना के पास सस्ते किराए पर ढाई कमरे का एक मकान ढूँढ़ रखा था, जहाँ ये रात को पहुँच गए थे। और भोर की पहली किरणें दो परदेशियों को जगाकर दिल्ली के धुँधले दृश्य दिखाकर परिचित बनाने का प्रयास कर रही थीं....

०

दिल्ली में यमुना का तीर, ढाई कमरे का सर्वतः सम्पूर्ण मकान, पास में ढाई सौ रुपए, अपरिचित इसलिए स्वच्छन्द वातावरण, और ससर्णी की छाँह—अगर देवता हैं तो उन्हें धन्यवाद कि यह सम्भव हुआ है, कि शशि की वत्सल छाँह में वह खड़ा हो सका है और अपने को उस वात्सल्य के प्रति उत्सर्ग कर सका है....कि उस वात्सल्य को कुचलने के लिए बढ़ा आता कलुष पीछे रह गया है, कि आसपास एक नया वायुमण्डल है जिसमें परिचय नहीं है, इसलिए करुणा अवश्य है, कि अपने को होम कर देने में शशि ने अपने जीवन का जो अंश पंगु कर लिया है, उसे पुनर्जीवित करने का नहीं, तो कम से कम उसका दर्द भुला देने का निरवधि अवसर शेखर को मिला है....शशि से उऋण होने की स्पर्धा वह नहीं करता, पर जो पाना ही पाना रहा है, उसकी विनत स्वीकृति की भी आज़ादी उसने अब तक नहीं पाई थी, अब वह उसे मिलेगी, और वह शशि की सेवा कर सकेगा....

शेखर दिल्ली कोई निश्चित कार्यक्रम लेकर नहीं आया था। तत्काल ही कुछ आमदनी करने की बाध्यता भी अभी नहीं थी। तथापि उसने अस्पष्ट निर्णय कर लिया था कि कुछ कमाई का काम अवश्य करता रहेगा, और वह काम भी यथासम्भव ऐसा होगा कि उसे अपने ही वर्ग के सम्पर्क (अर्थात् संघर्ष !) में न लाए, बुद्धिजीवी वे हों जिन्हें बुद्धि से जीविका कमाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है ! वह केवल अपने शरीर का श्रम बेचकर ही काम चलाएगा, ताकि अपनी बुद्धि के घोड़े को पराई उपयोगिता की गाड़ी में न जोतना पड़े—उसका सर्वनाश न करना पड़े।

किन्तु क्या काम वह कर सकता है ? कालेज की पढ़ाई ने उसे शारीरिक उद्यम के लायक नहीं बनाया ! उसकी कुछ सामर्थ्य बच गई है तो कालेज के कारण नहीं, इसलिए कि वह सम्पूर्णतया कालेज का नहीं हो सका ! बहुत सोचकर और दल के दो-एक व्यक्तियों से मिलकर उसने निश्चय किया कि वह साइनबोर्ड पेंटर का काम करेगा

—इसमें आज़ादी भी बनी रहेगी, पूँजी भी विशेष नहीं लगेगी, थोड़ी बहुत कलाकारिता भी दर्शाई जा सकेगी, और—काम चल गया तो आमदनी भी हो ही जाएगी। दल का स्वार्थ यह था कि इस प्रकार और भी दो-तीन व्यक्तियों को आश्रय दिया जा सकेगा—वे रात वहीं रहेंगे, और दिन भर शेखर की 'दूकान' में काटा करेंगे, ताकि रात के आश्रय की जगह कोई सन्देह न हो, वहाँ यही समझा जाए कि दिन में नौकरी पर जाते हैं, और दिन तो कट ही जाएगा। बाहर का काम न आवेगा तो अपना ही कुछ न कुछ काम किया जा सकता है; दूकान के लिए स्थान दल के खर्चे पर लिया जाएगा और बाकी सामग्री का प्रबन्ध शेखर स्वयं करेगा।

फलतः अठारह रुपए मासिक पर नई सड़क के ऊपर की मंजिल में एक कमरा लिया गया, सामने के दरवाज़े के बाहर शेखर ने एक बड़ा-सा रंगीन बोर्ड तय्यार करके लटका दिया; और तीन सहकारियों को लेकर दूकान आरम्भ कर दी! काम कुछ नहीं था, किन्तु काम का दिखावा करने के लिए दो-चार बोर्ड अधरंगे करके इधर-उधर फैलाए गए, पाने बोरिये का एक बड़ा-सा पर्दा रँगा गया, और छोटे-बड़े टीन और कनस्टर इधर-उधर फैला दिए गए। जाड़ों के दिन थे, बहुत सबेरे आना आवश्यक नहीं था; शेखर लगभग ग्यारह बजे वहाँ पहुँचता और बड़े काम-काजी के ढंग से रंग-वंग फैलाकर कुछ-न कुछ बनाने बैठ जाता; उसके 'सहकारी' प्रायः कुछ पहले आते और आकर कुछ पढ़ने-लिखते रहते, पहले अपना रूप पेंटरों जैसा बनाकर और सामने पेंटरी का उपक्रम करके! कभी ज़ीने पर पैरों की आहट होती, तो सब किताबें-कापियाँ छोड़कर 'काम' की ओर दत्तचित्त होते या कोई एक सिगरेट भी पीने लगता—जब आहट के पीछे जमादार या कोई भूला-भटका मोची या लेस-फ़ीते वाला निकलता, तो सब एक दूसरे को कनखियों से देखकर मुस्कराते कि अच्छे बेवकूफ़ बने!

और चार-पाँच बजे शेखर बड़े उत्साह से घर लौटता, देखता कि बहुत मना करने पर भी शशि उठकर कुछ काम में लगी है और तत्काल प्रत्येक काम में टाँग अड़ाकर शशि को बाध्य कर देता कि वह हारकर छोड़ दे। यह समझौता हो चुका था कि शशि नित्य एक शाक और रोटी बना दिया करेगी, और झाड़ू-बुहारी, चौका-बर्तन शेखर करेगा, पर नित्य ही इस पर झगड़ा होता, क्योंकि शशि कहती, चौका-बुहारी उसका काम है, और शेखर निश्चय जानता कि रसोई उसे करनी चाहिए। फिर सहसा धूप गिर आती, और उनका छोटा-सा घर एकाएक सारे संसार से सिमटकर अलग, बहुत दूर, कहीं अलग होकर स्वस्थ हो जाता; स्वस्थ और शान्त और स्निग्ध....पर उस स्निग्धता में एक गहरी उदासी स्पन्दित होती, और उस उदासी में एक अपूर्व स्निग्धता; जिसमें दोनों एक-दूसरे के बहुत समीप अनुभव करते और साथ ही न जाने किस संकोच में छिपे हुए....शेखर सोचता, सप्तपर्णी की छाँह में जो शीतलता है, अपूर्णताओं का जो निराकरण है, उसके बाद और कुछ चाहने की गुंजाइश नहीं है; किन्तु यह सोचने में ही एक अपूर्णता उसके भीतर रड़क उठती और वह जानता कि वह कुछ चाहता है

आकार नहीं दे सकता, शब्दों में नहीं बाँध सकता....कभी एकाएक बीच में शशि उठती, 'शेखर, ऐसे आराम से नहीं चलेगा,—अब कुछ लिखना शुरू करो न ?' वह उत्तर देने की बजाय सोचने लगता, शशि सचमुच यही चाहती है, या कि इस राम के पीछे के खोखल को देखकर ही उससे बचने को कह रही है ? क्योंकि खोखल हाँ अवश्य है, यद्यपि वह उसे देख नहीं सकता, पहचान नहीं सकता, माप नहीं कता—और इसलिए भर नहीं सकता....

○

दिन आए कि लटकते हुए पत्तों ने एकाएक जाना कि वे बहुत पीले पड़ गए हैं, और बोझ के धक्के से लड़खड़ाकर गिर पड़े....भूले-से झकोले डालों को कँपाकर बाकी पत्तों को भी गिराने लगे। समीर की शीतलता कम नहीं हुई, किन्तु उसके भीतर मानो बड़ी दूर के किसी झूठे वसन्ती वायदे के रोमिल स्पर्श का भ्रम होने लगा ; धुंध फीकी पड़ गई, दिन के वेग के साथ पंजे मिलाने में अन्धकार का असुर प्रतिदिन कुछ ढिलाई करने लगा....और शेखर की दूकान में ग्राहक आने लगे ! एक दिन एक साथ ही तीन बोर्ड तय्यार करने का आर्डर पाकर सहकारियों समेत वह काम में लगा रहा, शाम को लौटते समय अपनी निबटती हुई पूंजी में एक टिकिया मक्खन और थोड़े से टमाटर खरीदता लाया और घर पहुँचते ही उत्साह से पकाने भी बैठ गया—डाक्टर ने कहा था, शशि को टमाटर और फल और ताज़े हरे शाक खाने चाहिए, और सर्दी लगने से या नमी से बचना चाहिए....अगले दिन वह आमदनी के पाँच-सात रुपए लेकर लौटेगा, इस उत्साह ने उसे शक्ति दी कि वह आज अभी शशि को यह सु-समाचार न सुना दे....किन्तु जब वह शशि को खाना खिलाने बैठा—शशि क्रमशः अधिकाधिक अनुगत होती जाती थी और जो वह कहता था, बिना प्रतिवाद मान लेती थी, यहाँ तक कि कभी वह स्वयं इस अतिशय आज्ञाकारिता से विस्मित हो उठता था !—तो न जाने क्यों उसे लगा, शशि उदास है.... नई बात कोई नहीं थी, शशि के चेहरे की वह स्निग्ध उदासी उतनी ही शान्त थी शायद उत्तर-माघ और फाल्गुन की खिचड़ी साँझ के रंगों का ही असर था....पर शेखर को सहसा जान पड़ा, शशि उदास है, और इसलिए उदास है कि उसके बारे में सोच रही है....तब सहसा उसने कहा, "शशि, मुझे बधाई दो, आज दूकान में काम मिला है"

शशि ने हँसते हुए कहा, "ओ-हो, तब तो बड़ी खुशी की बात है। क्या मिला है ?"

"तीन बड़े-बड़े बोर्ड—कोई नई कम्पनी खुल रही है, उन्हीं के तेल-साबुन के और एक पन्द्रह फुट का नाम का बोर्ड।"

"अच्छा पेंटर साहब ! तब तो आपका सितारा चमक उठा—और रंग-

फिर एकाएक शशि की दृष्टि काँपकर थाली पर जा रुकी और स्थिर रह गई।

"क्यों शशि, क्या है ?"

"अब तुम लिखोगे नहीं, शेखर ?"

शेखर अचकचा-सा गया....सचमुच, साइनबोर्ड के रंग क्रांति के रंग नहीं हैं....और वातावरण की शान्ति ने उसे प्रोत्साहित न करके तन्द्रा में डाल दिया है—वह कुछ कर नहीं रहा है, निरा साइनबोर्ड-पेंटर हो गया है, और वह भी असफल....

उसने लज्जित-से स्वर में कहा, "क्यों नहीं लिखूंगा ? मैं भूला नहीं हूँ, शशि; मैं लिखूंगा—"

"नहीं, शेखर, तुम कुछ नहीं कर रहे हो। मेरे लिए खाना बनाना और तेल-साबुन के बोर्ड रँगना, इसमें तुम कैसे रह सके हो अब तक भी ?"

तब शेखर ने जैसे अंटी खोलकर सच बात निकालते हुए कहा, "शशि, मुझे सूझता नहीं क्या लिखूं। पहले आसपास का दबाव लिखने नहीं देता था, पर उसी में से लिखने की प्रेरणा भी मिलती थी ; अब आसपास शान्ति है पर—लिखूं क्या, तुम बताओ ? आसपास कहीं कुछ हो ही नहीं रहा—"

"शेखर, तुम यह कहो कि लिखने को कुछ नहीं है ? और क्या आसपास की घटना ही सच है, अनुभव का सच कुछ नहीं है ?"

"अनुभव का क्या सच ? अनुभव में तो झूठ ही झूठ आया है—और अनुभव भी मेरा कितना—"

शशि ने आग्रह से कहा, "मैं यह नहीं मान सकती, शेखर, कि तुम्हारे पास लिखने को सामग्री की कमी है। तुम भूले नहीं, अनदेखी कर रहे हो। क्या बाबा मदनसिंह की बात में लिखने को कुछ नहीं है ? क्या मोहसिन से तुम्हें कुछ नहीं मिला, जो आगे औरों को दिया जा सकता है ? क्या रामजी अपात्र था ? तुमसे भी बड़ा अनुभव हो सकता है जरूर, पर मैं कहती हूँ, जो सत्य तुमने देखा है, जिसका अपने रक्त में अनुभव किया है, उसकी बात तो अवश्य लेखनीय होगी। बात बड़ी नहीं चाहिए, बात का अनुभव बड़ा चाहिए, आदमी की पकड़ बड़ी चाहिए—बात को वश में करने की लगन और साहस। ताप लकड़ी में नहीं होता, आग में होता है, और तुम अपने अन्तर के सच की बात लिखोगे तो उसमें जरूर आग होगी—ऐसी आग जिसके आगे कुछ नहीं टिकेगा और—जिसमें मेरे संसर्ग का पाप भी घुल जाएगा।"

अन्तिम वाक्य से चौंककर शेखर ने प्रतिवाद करना चाहा, पर शशि की आँखों में एक दीप्ति जाग उठी थी, जिसे देखकर वह चुप रह गया।

"देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा बन रही हूँ। पर इसे अनिवार्य नहीं मानती, जिस दिन देखूंगी कि यह अनिवार्य है, उस दिन—उस दिन—" एकाएक रुककर, "नहीं, शेखर, तुम सब लोगों को भूलकर अपना निजी सत्य लिखो, जो भी हो—"

अनुभव करके कि शशि जिस ढंग से बात कर रही है, उसका विषय निरे लिखने से अधिक गहरा चला गया है, शेखर ने कुछ हँसी-सी में कहा, "तब तो तुम्हारी कहानी लिखूं—निजी सत्य—"

जिसे आकार नहीं दे सकता, शब्दों में नहीं बाँध सकता....कभी एकाएक बीच
बोल उठती, 'शेखर, ऐसे आराम से नहीं चलेगा,—अब कुछ लिखना शुरू क
और यह उत्तर देने की बजाय सोचने लगता, शशि सचमुच यही चाहती है, या
आराम के पीछे के खोखल को देखकर ही उससे बचने को कह रही है ? क्योंकि
वहाँ अवश्य है, यद्यपि वह उसे देख नहीं सकता, पहचान नहीं सकता, म
सकता—और इसलिए भर नहीं सकता....

०

दिन आए कि लटकते हुए पत्तों ने एकाएक जाना कि वे बहुत पीले पड़ गए
बोझ के धक्के से लड़खड़ाकर गिर पड़े....भूले-से झकोले डालों को कँपाकर बा
को भी गिराने लगे। समीर की शीतलता कम नहीं हुई, किन्तु उसके भीतर मा
दूर के किसी झूठे वसन्ती वायदे के रोमिल स्पर्श का भ्रम होने लगा ; धुंध फी
गई, दिन के वेग के साथ पंजे मिलाने में अन्धकार का असुर प्रतिदिन कुछ ढिला
लगा....और शेखर की दूकान में ग्राहक आने लगे ! एक दिन एक साथ ही ती
तय्यार करने का आर्डर पाकर सहकारियों समेत वह काम में लगा रहा, शाम को
समय अपनी निवटती हुई पूँजी में एक टिकिया मक्खन और थोड़े से टमाटर
लाया और घर पहुँचते ही उत्साह से पकाने भी बैठ गया—डाक्टर ने कहा था, श
टमाटर और फल और ताजे हरे शाक खाने चाहिए, और सर्दी लगने से या नमी से
चाहिए....अगले दिन वह आमदनी के पाँच-सात रुपए लेकर लौटेगा, इस उत्साह
शक्ति दी कि वह आज अभी शशि को यह सु-समाचार न सुना दे....किन्तु जब वह
को खाना खिलाने बैठा—शशि क्रमशः अधिकाधिक अनुगत होती जाती थी और
कहता था, बिना प्रतिवाद मान लेती थी, यहाँ तक कि कभी वह स्वयं इस आ
आज्ञाकारिता से विस्मित हो उठता था !—तो न जाने क्यों उसे लगा, शशि उदास
नई बात कोई नहीं थी, शशि के चेहरे की वह स्निग्ध उदासी उतनी ही शान्
शायद उत्तर-माघ और फाल्गुन की खिचड़ी साँझ के रंगों का ही असर था....पर
को सहसा जान पड़ा, शशि उदास है, और इसलिए उदास है कि उसके बारे में सं
रही है....तब सहसा उसने कहा, "शशि, मुझे बधाई दो, आज दूकान में काम मिला

शशि ने हँसते हुए कहा, "ओ-हो, तब तो बड़ी खुशी की बात है। क्या
मिला है ?"

"तीन बड़े-बड़े बोर्ड—कोई नई कम्पनी खुल रही है, उन्हीं के तेल-साबुन के
और एक पन्द्रह फुट का नाम का बोर्ड।"

"अच्छा पेंटर साहब ! तब तो आपका सितारा चमक उठा—और रंग-बिरंग
फिर एकाएक शशि की दृष्टि काँपकर थाली पर जा रुकी और स्थिर रह गई।

"क्यों, शशि, क्या है ?"

"अब तुम लिखोगे नहीं, शेखर ?"

शेखर अचकचा-सा गया....सचमुच, साइनबोर्ड के रंग क्रांति के रंग नहीं हैं....और वातावरण की शान्ति ने उसे प्रोत्साहित न करके तन्द्रा में डाल दिया है—वह कुछ कर नहीं रहा है, निरा साइनबोर्ड-पेंटर हो गया है, और वह भी असफल....

उसने लज्जित-से स्वर में कहा, "क्यों नहीं लिखूँगा ? मैं भूला नहीं हूँ, शशि; मैं लिखूँगा—"

"नहीं, शेखर, तुम कुछ नहीं कर रहे हो। मेरे लिए खाना बनाना और तेल-साबुन के बोर्ड रँगना, इसमें तुम कैसे रह सके हो अब तक भी ?"

तब शेखर ने जैसे गाँठ खोलकर सच बात निकालते हुए कहा, "शशि, मुझे सूझता नहीं क्या लिखूँ। पहले आसपास का दबाव लिखने नहीं देता था, पर उसी में से लिखने की प्रेरणा भी मिलती थी ; अब आसपास शान्ति है पर—लिखूँ क्या, तुम बताओ ? आसपास कहीं कुछ हो ही नहीं रहा—"

"शेखर, तुम यह कहो कि लिखने को कुछ नहीं है ? और क्या आसपास की घटना ही सच है, अनुभव का सच कुछ नहीं है ?"

"अनुभव का क्या सच ? अनुभव में तो झूठ ही झूठ आया है—और अनुभव भी मेरा कितना—"

शशि ने आग्रह से कहा, "मैं यह नहीं मान सकती, शेखर, कि तुम्हारे पास लिखने को सामग्री की कमी है। तुम भूले नहीं, अनदेखी कर रहे हो। क्या बाबा मदनसिंह की बात में लिखने को कुछ नहीं है ? क्या मोहसिन से तुम्हें कुछ नहीं मिला, जो आगे औरों को दिया जा सकता है ? क्या रामजी अपात्र था ? तुमसे भी बड़ा अनुभव हो सकता है जरूर, पर मैं कहती हूँ, जो सत्य तुमने देखा है, जिसका अपने रक्त में अनुभव किया है, उसकी बात तो अवश्य लेखनीय होगी। बात बड़ी नहीं चाहिए, बात का अनुभव बड़ा चाहिए, सादगी की पकड़ बड़ी चाहिए—बात को वश में करने की लगन और साहस। ताप लकड़ी में नहीं होता, आग में होता है, और तुम अपने अन्तर के सच की बात लिखोगे तो उसमें जरूर आग होगी—ऐसी आग जिसके आगे कुछ नहीं टिकेगा और—जिसमें मेरे संसर्ग का पाप भी धुल जाएगा।"

अन्तिम वाक्य से चौंककर शेखर ने प्रतिवाद करना चाहा, पर शशि की आँखों में एक दीप्ति जाग उठी थी, जिसे देखकर वह चुप रह गया।

"देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा बन रही हूँ। पर इसे अनिवार्य नहीं मानती, जिस दिन देखूँगी कि यह अनिवार्य है, उस दिन—उस दिन—" एकाएक रुककर, "नहीं, शेखर, तुम सब लोगों को भूलकर अपना निजी सत्य लिखो, जो भी हो—"

अनुभव करके कि शशि जिस ढंग से बात कर रही है, उसका विषय निरे लिखने से अधिक गहरा चला गया है, शेखर ने कुछ हँसी-सी में कहा "तब तो तुम्हारी कहानी लिखूँ—निजी सत्य—"

शशि मुस्कराई भी नहीं, और भी गम्भीर होकर बोली—"हाँ, जब मैं भी ऐसा सत्य हो जाऊँगी, निरा सत्य जिसे तुम तटस्थ होकर देख सकते हो, तब मेरी कहानी लिखना—" एकाएक फिर दीप्त होकर, "और कहानी ऐसी बुरी नहीं होगी, शेखर !"

शेखर स्तब्ध रह गया ।

शशि हाथ धोने के लिए उठी । शेखर भी रसोई से उठकर कमरा लाँघकर जमुना की ओर के बरामदे में जा खड़ा हुआ और एकटक नदी की ओर देखने लगा—नदी का जल धुएँ में छिप गया था, पर जहाँ उसे होना चाहिए, वहाँ धुएँ में भी एक खुलेपन का-सा भान होता था, उसी पर शेखर की दृष्टि टिकी थी ।

शशि भी बरामदे में आकर उससे कुछ दूर पर खड़ी हो गई ।

शशि ठीक कहती है । कब उसकी बात ग़लत होती है ? क्योंकि उसकी हर बात में अपने को तपाकर पाया हुआ कंचन होता है—जैसे बाबा की बातों में होता था....शशि उसी की सम-वयस्क है, किन्तु कितना गहरा विवेक है उसमें, कितनी प्रशस्त संवेदना, कितना विशद ज्ञान—प्रज्ञा ! क्यों शशि स्वयं नेता नहीं है, क्यों वह शेखर के जीवन में एक अप्रधान, अनुगत, अधीन पद लेकर सन्तुष्ट है, क्यों उसे आगे बढ़ाने के लिए अपनी आहुति दे रही है, अपने को निरन्तर मिटा रही है ? क्या इतना बड़ा आत्म-बलिदान वह स्वीकार कर सकता है ? क्या गारंटी है कि इतने बड़े त्याग से जो बनेगा, उसका आत्यन्तिक मूल्य उस देने के बराबर होगा ? और हो भी तो कैसे वह इन दामों उसे ले सकता है....

शेखर ने मुड़कर शशि की ओर देखा । झुटपुटे में उसकी आकृति नहीं दीखती थी, केवल जमुना पर टिकी हुई अपलक आँखें दीखती थीं । बिना निवृत्ति के उसने कहा, "शशि, तुम अपने को बराबर मिटाती जाओगी और मैं निर्लज्ज होकर सब स्वीकार करता जाऊँगा—यह नहीं होगा । तुम जो हो उसका गौरव, मैं जो हूँ उससे पचास गुना—सौगुना ज्यादा है—उसकी बलि मैं नहीं लूंगा, नहीं लूंगा, नहीं लूंगा ।"

शशि ने चौंककर उसकी ओर देखा, फिर पास आकर कहा, "हूँ—क्या कह रहे हो, शेखर ?"

एक गहरी साँस लेकर शेखर फिर बोला, "कहता हूँ, मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ, शशि ! कितना—यह कह नहीं सकता ; पर इसलिए तुम्हारा यह अपमान नहीं कर सकता । तुम मुझे कुछ बताना चाहती हो, पर तुम्हारा ज्ञान मुझसे अधिक है, बोध मुझसे बड़ा है, संवेदना मुझसे गहरी है ; और तुम उस सबको मिटा रही हो—मेरे लिए ?"

शशि और पास आ गई । "तुम पूछते हो, तो कहती हूँ । लो सुनो । स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है । ज्ञान सब उसमें संचित है, जैसे धरती में चेतना संचित है । पर बीज अंकुरित होता है, धरती को फोड़कर ; धरती अपने-आप नहीं फूलती-फलती । मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष

की प्रगति में स्त्री माध्यम है—और वही एक माध्यम है। धरती धरती ही है; पर वह भी समान स्रष्टा है; क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नहीं, क्लेश और वेदना है ?"

सन्नाटा छा गया। जमुना के ऊपर छाए हुए धुएँ में से जैसे एक नीरव साँय-साँय उमड़ने लगी....

"मैं अपने को मिटा नहीं रही—जिस शेखर को मैं देखती हूँ, उसके बनाने में मेरा बराबर का साझा होगा, इसलिए देने-लेने का कोई सवाल नहीं है; और तुम्हारा यह झिझकना और कृतज्ञता जताना ही अपमान है।"

और घना सन्नाटा, और फिर और भी नीरव साँय-साँय की और भी उच्छृंखल उमड़न—और उस उमड़न के बीच में से सहसा आलोक का लहरिल पारावार और शशि के अदूरत्व, अपार्थक्य का प्लवनकारी बोध—शेखर ने हठात् आगे बढ़कर केशों और त्वचा के संगम-स्थल पर शशि का माथा चूम लिया, और फिर साँस के-से स्पर्श से उसके ओठ....

"नहीं, शेखर, नहीं, वह नहीं—" एकाएक टूटते-से स्वर मे, "वे जूठे हैं !" दंशित-सी शशि पीछे हट गई, और उसकी तीखी सिसकी सुनकर ही शेखर ने जाना कि क्या घटित हो गया है....और जानकर जैसे वह एकाएक जड़ित, हतसंज्ञ हो गया, और सामने शशि को रोती खड़ी देखकर भी न हिल सका, न बोल सका, निर्निमेष शशि के धुँधले चेहरे की ओर देखता रह गया।

"शेखर—"

" ......"

"शेखर मुझे क्षमा करो—वह नहीं....तुम नहीं जानते, मेरे जीवन का एक अंग है, जो जूठा हो गया है, और एक ऐसे व्यक्ति के स्पर्श से—जिनकी—छाँह से भी तुम्हें—बचाना चाहती हूँ...."

बहुत धीरे से, मानो अपनी ही वाणी से लज्जित, "शशि .."

"सच कहती हूँ, तुम नहीं जानते....अगर जीवन से उसे बिलकुल निकालकर फेंक सकूँ, तो फेंक दूँ—पर सकती नहीं....मैंने उसको—अपने विवाह को बहुत निकट, बहुत सच मानकर झेला... इसके लिए तैयार थी कि वह मुझे मिटा दे, नष्ट कर दे; पर उसने नष्ट नहीं किया, केवल पंगु करके, जूठा करके छोड़ दिया ..और अब ..."

शेखर ने साहस बटोरकर एक हाथ शशि के कन्धे पर रखा और अनुभव किया कि कन्धा भी संकुचित हो गया है, फिर भी किसी तरह कहा, "शशि, मत रोओ...."

शशि सिसकती रही। शेखर ने फिर कहा, "तुम यों ही अपने को क्लेश दे रही हो—वह पात्र नहीं है, शशि....वह निकल गया है तुम्हारे जीवन से—अनुदार मत करो—उसके लिए रोना—"

एकाएक और भी फूटकर, बिखरकर शशि ने कहा, "मैं उसे कब रोती हूँ—मैं अपने प्यार को रोती हूँ, जो मैंने उसे दिया...."

०

रात मूर्तिमती करुणा है, अन्धकार देवताओं का कोई रामबाण मरहम है, जो कुल वेदनाओं की टीस को सोख जाता है....

अँधेरे में घिरे हुए उस दुहरे एकान्त में एक दूसरे को व्यथा के स्पन्दन को देखते हुए, न देखकर स्पष्टतर जानते हुए और इसलिए न देखकर आश्वस्त, शशि और शेखर चुपचाप पड़े रहे। शशि का सिसकना क्रमशः मूक हो गया था, और वह धीरे-धीरे टटोलती-सी भीतर चली गई थी। देर बाद शेखर ने भीतर जाकर रसोईघर की बत्ती बुझा दी थी, और फिर अपने बिस्तर पर जा लेटा था....

अन्धकार में उसे कुछ नहीं दीखता था, किन्तु शशि की वेदना स्पष्ट दीखती थी.... वह तो सदा दीख सकती थी, पर इस अन्धकार में उसे कुछ अधिक भी दीख रहा था, जो पहले नहीं दीखा था....सप्तपर्णी की छाँह पारिजात की छाँह है, उसमें निरी सान्त्वना नहीं है, उसमें उत्साह है, उसमें गन्ध है, रस है, प्रस्फुटन है; निरा अतीत नहीं, उसमें स्पन्दित वर्त्तमान और, और उनींदा भविष्य भी है—और इसीलिए उसमें इतना बड़ा शून्य है, जो अभी तक नहीं भरा....

शेखर ने देखा, निर्निमेष आँखों से, निष्कम्प दृष्टि से देखा .. देखा....देवता चौंक जाएँ सुनकर तो चौंक जाएँ—पर उस प्यार को कहना ही क्यों जरूरी है ?

शेखर, तुमने आरम्भ से ही क्यों नहीं अपनी नियति को देखा ?

०

जाड़ों का एक और प्रभात—वही क्रमशः धूसर, ताम्रलोहित, लाल और फिर सफेद होनेवाली प्रातःकालीन धुन्ध, फिर दिशाहीन आलोक, फिर अलसाई-सी पहली रवि-किरण....किन्तु किरण से पहले ही शेखर उठा और शशि के कमरे की खिड़की के पास जा खड़ा हुआ, काँच पर जमी हुई नमी को एक उँगली से नीचे बहाकर, भीतर झाँकने लगा।

शशि सोई थी—मुद्रा से जान पड़ता था कि रात-भर जागकर अभी सोई है; उसका शरीर छुईमुई-सा सिकुड़ा हुआ था, पर तकिये पर एक ओर झुका हुआ चेहरा जैसे आगे उठा हुआ था, ओठ किंचित खुले थे, और माथे से आगे को लटक आया बालों का एक गुच्छा उसके श्वास-प्रश्वास के साथ झूल रहा था....

शेखर बहुत देर तक निश्चल खड़ा उसके चेहरे को देखता रहा—उसकी दृष्टि एक अत्यन्त स्नेहिल स्पर्श से उसे सहलाती रही, जैसे उस उन्मुक्त लट को शशि का प्रश्वास.... शशि की पलकें पारदर्शी-सी जान पड़ती हैं, यह उसने पहले भी लक्ष्य किया था; पर अब

उसे लगा मानो समूचा चेहरा पारदर्शी हो गया है—मानो इतने दिनों चुपचाप सही हुई यातना ने उस स्वच्छ त्वचा को और भी शोधकर एक आन्तरिक कान्ति दे दी है....शशि का चेहरा पीड़ित चेहरा नहीं है, और इस प्रशमन के क्षण में तो कदापि नहीं—किन्तु उसे देखकर सहसा किसी व्यापक शुभ्र वेदना का बोध हो आना अनिवार्य था—ऐसी वेदना, जो चाँदनी की तरह नहला और कँपा जाए....

'नहीं, नहीं, शेखर, वे जूठे हैं—' क्या कुछ भी ऐसा है, जो उस चेहरे को जुठला गया, छू भी गया हो—जिस प्रकार श्वेत दीप्ति की सीमा तक तपे हुए धातु को कोई छू नहीं सकता, उसी प्रकार यह वेदना से मँजा हुआ दीप्त चेहरा भी अस्पृश्य है—जब तक कि कोई समान दीप्ति ही उसे छू न ले—

किन्तु शशि की तपस्या क्या उसे सचमुच इतनी दूर ले गई है—इतनी अलंघ्य, अपरिमेय दूर—क्या वह शोधक दुःख उसी के आगे स्फटिक की दीवार-सा आ गया है—जिसमें सब-कुछ अतिशय स्पष्ट दीखे, किन्तु हो अस्पृश्य ?

धुन्ध का अन्तरालोक बढ़कर किरण बन गया; शेखर ने एक लम्बी साँस ली, जो हठात् शशि के लिए आशीर्वाद बन गई, फिर दबे-पाँव वहाँ से हटकर काम पर जाने की तैयारियों में लगा....अच्छा ही है कि शशि अभी सोई रहे, विश्राम भी कर ले और—क्या जाने, उसके जागते ही वह घना संकोच भी उमड़ आए जो....



पेंटर-मण्डली फिर दिन के अधिकांश भर काम करती रही; बोर्ड तय्यार हो गए। साँझ को अभी सूखे भी नहीं थे कि गाहक लेने आ गया। दो उसी दिन चले गए और तीसरे के अगले दिन जाने की बात ठहरी—दो के दाम भी चुका दिए गए। शेखर ने आमदनी में दो हिस्से किए—एक उसका था, दूसरा दल का—दल अनेक प्रकार के खर्च चलाता है, जिसमें प्रत्येक सहयोगी को भी भरसक कुछ देना होता है....आय के पंचमांश से लेकर आधे तक देने की परम्परा है...

सात रुपए लेकर शेखर घर की ओर चला। यह अक्षरशः पसीने की कमाई है—मजूरी है, और आज वह दल को भी कुछ दे सका है और अपने उद्योग का फल लेकर घर की ओर—शशि की ओर—भी जा रहा है....शशि, जो प्रिय सदा से थी, किन्तु जो—किन्तु जो—शेखर को शब्द नहीं मिलते, वह केवल कल्पना कर सकता है कि प्रिय का कोई विराट्-रूप हो, जिसमें जीवन की इयत्ता समा जाए, तो वही रूप शशि ने धारण कर लिया है....

किन्तु कल जिस उत्साह से वह काम मिलने की बात लेकर घर लौटा था, आज न जाने क्यों काम का फल लेकर लौटने में वह उत्साह नहीं जागता, ज्यों-ज्यों वह घर के समीपतर आता जाता है, त्यों-त्यों एक अज्ञात आशंका, एक झिझक उसे पकड़ रही है ....निस्सन्देह शशि आनन्दित होगी, किन्तु वह जैसे डरता है, उस आनन्द में भी वह

सहसा हताश हो जाएगा, और उस हताश को तुरत पहचानकर शशि भी न जाने किस अभेद्य दूरी में सिमट जाएगी....और यह है प्रेम का विराट्-रूप—निस्संशय विराट् और निस्संशय प्रेम ..!

घर के बाहर वह क्षण भर रुका तो ठिठका रह गया। भीतर शशि गा रही थी—पंजाबी के टप्पे—पहाड़ी सुर में, जो वैसे ही पहाड़ों के सूने अकेलेपन का, अगम्य ऊँचाइयों और अलंघ्य दूरियों का सुर होता है, और जो शशि के गले की गूँजती हुई तरलता के कारण और भी असह्य हो गया था, मानो किसी निर्व्यक्तिक असीम विरह का सुर हो....

दो पत्तर अनाराँ दे—
दुःख साड्ढा समझनगे
दो पत्थर पहाड़ाँ दे !
मेरा चोला लीराँ दा—
इक वारी पा फेरा
तक हाल फकीराँ दा !

शेखर को एक ग्रीक गाथा याद आई, जिसमें किसी दुःखिनी वनदेवी के आँसू कल-स्वनित जल-प्रपात बन जाते हैं, जिसका प्रवाह हर आते-जाते पथिक के भीतर करुण चीत्कार कर उठता है और एक टीस छोड़ जाता है—फिर उसने धीरे-धीरे भीतर प्रवेश किया....

आहट सुनते ही शशि चुप हो गई; वह मौन एकाएक शेखर को इतना घना लगा कि उसने तत्काल कुछ कहने के लिए कहा, "लो, आज कमाई करके लाया हूँ।"

"अच्छा ? कितनी—" शशि हँसने का प्रयत्न करती है।

"तुम लो तो, बहुत है—बे हिसाब। लो, हाथ बढ़ाओ—"

शेखर एक-एक दो-दो करके रुपये निकालकर शशि के हाथ में रखने लगा। जब सातों रुपये निकल आए और उसका हाथ रुक गया, तब शशि ने चिढ़ाते हुए स्वर में कहा, "और ?"

"और क्या ? एक दिन की तो कमाई है।"

शरारत से हँसकर, "बस, कुल इतनी ही ? इसी के लिए हाथ फैलाने को कहते थे ?"

थोड़ा-सा चिढ़कर पर हँसते-हँसते ही शेखर ने कहा, "और क्या अब—जो कुछ था, सब तो दे दिया—" और एकाएक अपनी बात के गूढ़तर अभिप्राय से स्तम्भित होकर चुप हो गया।

उस चुप्पी से वह गूढ़तर आशय शशि पर भी व्यक्त हो गया, उसका चेहरा गम्भीर हो आया, आगे बढ़ा हुआ हाथ नीचे लटक आया, और वह धीरे-धीरे भीतर चली गई। भीतर शेखर ने रुपये रखे जाने की खनक सुनी, फिर स्वयं बरामदे की ओर चला गया।

फिर एक सूनापन उसके मन में छा गया—आँखें अनदेखी हो गईं ...उस शून्य में वह धीरे-धीरे शशि से सुने हुए शब्द गुनगुनाने लगा—

दुःख साड्डा समभनगे
दो पत्थर पहाड़ाँ दे—
दो पत्थर पहाड़ाँ दे—

पत्थर क्या समझेंगे दुःख—शायद यही अभिप्राय है कि उस दुःख को कोई नहीं समझ सकता....दो पत्थर पहाड़ाँ दे .. किन्तु पत्थर पहाड़ों के हैं, जिन्होंने सदियों तक बर्फीली आँधियों के प्यासे प्यार के नीचे चोटियों को छीजते देखा है, सदियों तक पवन को अन्धी उँगलियों से नंगी चट्टानों पर जीवन की हरियाली की एक छोटी-सी फुनगी को भी छू सकने की निराशा में हाहाकार करते देखा है, जो अभिमान कि ऊँचे-ऊँचे उठे हैं और अहंकार की तरह ढह गए हैं—पहाड़ों के पत्थर शायद सचमुच दुःख को समझ सकते हों....*दुःख साड्डा समभनगे दो पत्थर पहाड़ाँ दे ...*

शशि फिर उसके पास आकर चुपचाप खड़ी हो गई। शेखर को उससे पहली साँझ याद आ गई; और एक क्षण के लिए उसे लगा कि उस साँझ की घटना की आवृत्ति दिनों के बाद दिनों और बरसों के बाद बरसों तक होती चली जा सकती है—निष्परिणाम आवृत्ति... और फिर भी वह कुछ नहीं माँग सकता, क्योंकि उन दोनों की धमनी एक है, चाहे शाप की एकता से एक, चाहे वरदान की...

शशि ने कहा था, वह सृष्टि है, जिसमें वह सहभागी है, समान स्रष्टा है...किन्तु यह निर्माण है, रचना है—जीवन के अशेष विफल-पथ पर यह अन्तहीन अभियान ?

"शेखर, मैं वापस चली जाऊँ ?"

"कहाँ—"

"वापस—वहाँ जहाँ दे दी गई थी—"

चकित और आहत स्वर में शेखर ने पूछा, "शशि, क्या कह रही हो तुम—वहाँ वापस ! यह क्या अभी हो सकता है ?"

"हाँ। वे—प्यार देना जानते होते तो शायद न हो सकता ; पर अभी शायद—हो सकता है। अधिक-से-अधिक—"

"वह मैं नहीं पूछता शशि, तुमसे पूछता हूँ—क्या यह अभी हो सकता है—तुम्हारी ओर से अभी—"

"ओह मैं....शेखर, मैं देख रही हूँ कि मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा हूँ, तुम्हें नीचे खींच रही हूँ। और वह मैं कभी नहीं होने दूँगी—उससे कहीं आसान है लौट जाना—"

"तुम कैसी बातें करती हो, शशि ? मेरी तो बात ही अभी छोड़ो—तुम लौटने की सोच कैसे सकती हो—"

"क्यों ? अगर उसमें तुम्हारी उन्नति है, तुम्हारी सुविधा है, तो—"

"और तुम्हारी अपनी आत्मा कुछ नहीं है ? ऐसा कोई कुछ नहीं हो सकता जिसके लिए आत्मा का हनन—"

"मेरी आत्मा उसमें नहीं मरेगी, शेखर। मैं वहाँ भी जी लूँगी—जी सकूँगी—क्योंकि तुम्हें बचाती रहूँगी—तुम्हें बढ़ाती रहूँगी।....तुमसे दूर हटती हूँ, शेखर, क्योंकि पंगु हो गई हूँ; इसलिए नहीं कि—प्यार का अर्थ नहीं जानती। कोई स्त्री प्यार नहीं जानती, जो एक साथ ही बहिन, स्त्री और माँ का प्यार नहीं देना जानती—और मैं लौटकर इसलिए जी सकूँगी कि—माँ की तरह तुम्हें पाल सकूँगी—तुम नहीं जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है—अब और भी अधिक !....मैं ज़रूर जी लूँगी। जीवन वह कीड़े का होगा, पर नारी अग्निकीट हो सकती है, जिसके पेट में निरन्तर आग जलती है...."

शेखर ने क्षुब्ध स्वर से कहा, "मैं यह सब नहीं सुनूँगा, शशि ; तुम तो पागल हो गई हो—मनोवैज्ञानिक केस हो गई हो। तुम—" शब्द न पाकर उस कमी को आवेश द्वारा पूरा करते हुए, "तुम निरी हिन्दू हो गई हो—आत्म-पीड़न को तपस्या माननेवाली हिन्दू ! पर तुम्हारा आत्म-हनन मुझे स्वीकार नहीं है—और वैसी मूर्खता दो जन भी कर सकते हैं।"

शेखर ने देखा कि शशि चुपचाप रो रही है। न जाने क्यों एकाएक कड़े पड़कर उसने कहा, "शशि, तुम्हारे दुःख से मेरा कुछ बने, तो धिक्कार उस बनने को ! तुम्हारे—"

"तुम नहीं समझते, शेखर ; तुम समझते हो, मैं दुःख को तूल दे रही हूँ। क्या मैं चाहती हूँ वहाँ लौटना ? पर मैं प्यार का नाम नहीं लेती, क्योंकि—मुझसे नाम लिया जाता नहीं—उतना प्यार तुम सोच भी नहीं सकते, शेखर !"

और उसे फिर वहीं आहत और निर्वाक् छोड़कर शशि भीतर चली गई ; और थोड़ी देर बाद उसकी सिसकियों का दुर्बल स्वर शेखर तक पहुँचने लगा....

●

क्या शशि ठीक कहती है ? अगर शशि उसे नीचे घसीटती है, तो और क्या है जो उसे उठाएगा, उसे रसातल ही जाने से बचा लेगा ? और पंगु होने की बात—क्या वह शशि के भीतर की ही कठोर निर्ममता नहीं है, जो उसे पंगु बनाती है, जिसने उसके जीवन को एक गाँठ में बाँध दिया है और खुलने नहीं देती—क्या उस गाँठ को चुपचाप स्वीकार करना ही कर्त्तव्य है, क्या उसमें बँधे हुए जीवन को विद्रोह के लिए उभारना कर्त्तव्य नहीं है ? अगर जीवन वरदान है—अगर जीवन कुछ भी अर्थवाद है, तो उसकी प्लवनशीलता को बनाए रखना कर्त्तव्य है ; डूब जाने को निरीह भाग्यवाद से स्वीकार कर लेना जीवन की अवहेलना है और पाप है—हार ही झूठ है, हारा हुआ ही झूठा है; जो परास्त नहीं है, उसमें मलिनता कौन-सी है ? शशि आहत है, किन्तु जो ग्लानि उसे

सुझाती है कि जीवन जूठा हो गया है, क्या वह ग्लानि ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि जीवन की शक्ति परास्त नहीं हुई—और इसलिए जूठी भी नहीं हुई, अनाहत और अनवनत है? नहीं, शशि को हारने नहीं देना होगा, इस तरह घुल जाने नहीं देना होगा—वह स्वयं नहीं लड़ती तो उसकी ओर से लड़ना होगा—

शेखर ने शशि के पास जाकर कहा, "सुनो, शशि, तुमसे कुछ बात कहने आया हूँ।"

शशि ने अपना गीला चेहरा उसकी ओर फेरकर एक बार देख दिया, बोली नहीं। शेखर दोनों हाथों से उसका सिर पकड़कर अचंचल आँखें उसकी आँखों पर टिकाकर, धीरे-धीरे, शब्दों पर जोर देता हुआ बोला, "तुम कहीं जाओगी नहीं; और—हारोगी नहीं, और—डरोगी नहीं।" फिर हाथों की जकड़ ढीली किए बिना आगे झुककर एक बार फिर उसने शशि के ओंठ अपने ओठों से छू लिए। शशि का सिर पीछे को ऐंठा हुआ था, सारी देह काँप रही थी, और आँखें बन्द थीं; सिर उठाकर शेखर ने शशि की बन्द गीली काँपती हुई पलकों को देखा और एक बार फिर आगे झुककर उसके ओठ चूम लिए। ओठ भी काँप रहे थे, और आँसुओं से खारे थे....

फिर शेखर ने सिर छोड़ दिया और शशि के कमरे से बाहर चला आया, बत्ती जलाई और रसोई में जाकर बर्तन इधर-उधर करने लगा....थोड़ी देर में खिचड़ी तैयार हो गई, पहले से आया रखा दूध गर्म हो गया, और तब उसने शशि के कमरे के सामने जाकर कहा, "शशि, उठो, खाना तय्यार है। मुँह-हाथ धो लो।"

भीतर से स्थिर, सधे हुए स्वर ने कहा, "आई।"

उस स्वर की शान्ति ने जैसे शेखर को आश्वासन दिया। शायद जीवन अभी असम्भव नहीं हो गया है....



कहते हैं कि वासना नश्वर है, प्रेम अमर। दोनों में कोई मौलिक विपर्यय है या नहीं, नहीं मालूम; किन्तु यदि ये दो हैं तो यह बात कितनी झूठी है! प्रेम के एक ही जीवन है; वह एक बार होता है और जब मरता है तो मर जाता है, उसे दूसरा जीवन नहीं मिलता। अमर तो वासना है, जो चाहे खण्डित होकर गिरे, चाहे तृप्त होकर, गिरते-न-गिरते रक्तबीज की तरह नया जीवन पाकर फिर उठ खड़ी होती है....

शिक्षा, सभ्यता, संस्कार... हमें अपने से ऊपर उठाते हैं, अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से निकालकर एक बृहत्तर अस्तित्व के, उच्चतर, अपर-लौकिक, बल्कि सार्वलौकिक अनुभूति के क्षेत्र में ले जाते हैं।

किन्तु व्यक्ति-जीवन की कितनी बड़ी गाँठ है संस्कार और शिक्षा! क्योंकि जो भी शिक्षित हैं, जो संस्कारी जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दों को पहचानते हैं (वे स्पन्दन जो निरे शिष्ट लोकाचार से गहरे कुछ हैं), वे जीवन के महान् क्षणों में—प्रेम के या किसी भी गहरे भाव-विलोड़न के क्षण में सहसा पाते हैं कि उसमें पूर्णता नहीं है, तन्मयता, अशान्त

तद्गति नहीं है, है एक अद्भुत असंगत तटस्थता—स्वयं अपने गहरे भावों से एक प्रकार का अलगाव, जो कर्त्ता को ही कर्म का दर्शक और आलोचक बना देता है—अर्थात् अपने को अपनेपन की सम्पूर्णता से बहिष्कृत कर देता है....हम कल्पना में चित्रित करते हैं एक प्रेयस (अथवा प्रेयसी) जो कि हमारी आत्मा के सूक्ष्मतम कम्पन के साथ स्पन्दित हो सकता है (या हो सकती है) ; जो कि न केवल हमारे शारीरिक और सामाजिक अस्तित्व का सहभागी हो सकता है, बल्कि हमारी कोमलतम और अत्यन्त व्यक्तिगत सूक्ष्म अनुभूतियों में भी साझा कर सकता है—कला की, कविता की, संगीत की, यहाँ तक कि सुख-दुःख की भी अनुभूतियों का साझा....किन्तु वास्तव में प्रेम में हम पाते हैं कि हम मैं भी, कभी भी, अपने अलग व्यक्तित्वों को एक में या दूसरे में या प्रत्येक को दोनों में नहीं लीन कर सकते....सख्य होता है, सम्बन्ध होता है, बड़ी अन्तरंग अभिन्नता का सम्बन्ध, किन्तु सदैव वह सम्बन्ध एक माध्यम का आश्रित होता है, हमारे अस्तित्व से बाह्य कुछ के अधीन होता है—किसी चित्र के, विचार के, कविता के, गीत के, ध्वनि के, सुन्दर स्वप्न के जो कि हमारा ही है, पर हमारा होकर भी अन्ततः हमारा नहीं है, क्योंकि हम स्वयं एकान्त हम नहीं हैं, उस मौलिक और आत्यन्तिक 'हम' की एक शिक्षा-मण्डित, संस्कारी सभ्य केंचुल हैं....

दिन सुन्दर थे और बबूल के फूलों के गन्ध को उड़ाते हुए समीर में एक स्निग्धता आ गई थी, जिसमें और अनेक प्रकार का सौरभ अंगड़ाइयाँ लेता....और शशि के उस पहले विक्षोभ का तीखापन दब गया था। वह शान्त थी, और शेखर को लगता था कि इस सख्य के बाहर कुछ नहीं है—यानी मूल्यवान् कुछ नहीं है, और यहाँ सख्य ही सिद्धि है और सुख है....किन्तु चेतना के इस स्तर को आड़े काटता हुआ एक दूसरा स्तर था, जो कहता था कि काम है, कि समष्टि के प्रति व्यक्ति का देय है, कि अपूर्ति है और कुण्ठा है और इसलिए विद्रोह है, कि उलझनें हैं और गाँठें हैं और रस्सियाँ और बन्धन हैं और इसलिए क्रान्ति है; और एक तीसरा स्तर था कि सूम की तरह जो धन बटोर वह बैठे रहना चाहता, वह अपने-आप नष्ट हो रहा है, कि शशि शान्त है, पर घुल रही है, और एक दिन सहसा लुप्त हो जाएगी .. और स्तरों में बँटे हुए इस जीवन का क्षोभ सहसा उसमें फूट पड़ता, सब बन्धन रड़क उठते, और वह चाह उठता कि किसी तरह यह उलझन कट जाए; चाहे फिर इसके साथ उसका कोई अंग ही क्यों न कटकर चला जाए....फिर वह सोचता, यह सब विक्षोभ उस असन्तोष के संस्कार का ही फल है, जिसमें उसका अन्तर रँगा गया है ; तब वह माँगने लगता कि यह विद्रोही आत्मा ही किसी तरह कुचली जाए, छिन्न-भिन्न हो जाए; ताकि वह अपने-आपको बँधने और पालतू बनाया जाने दे सके—न केवल बद्ध और आनत, बल्कि स्वेच्छा से और अनुगत भाव से बद्ध—ताकि वह विद्रोह का अनवरत, आग्नेय, कसमसाता अधीर उत्फोट भूल जाए.... आग की लौ का धर्म है ऊपर उठना, इस ज्ञान में कोई सन्तोष नहीं था जब वह सब कुछ भस्म नहीं कर सकती थी और न मिटा ही सकती थी....

मगर वह अनपढ़ गँवार होता, मगर वह पशु होता—कुछ भी होता जो कि वह सम्पूर्णतया हो सकता, कुछ भी जिसमें कि वह निर्द्वन्द्व आमस्तक डूब सकता....



'रंगसाजी के कारखाने' में क्रमशः काम आने लगा, और थोड़ी-बहुत आमदनी होने लगी। जैसा जीवन शेखर बिता रहा था, उसका खर्च इस आमदनी में—आमदनी के उस आधे अंश में जो उसका था—मजे में चल सकता था। लोगों से मिलने-जुलने से उसने दिल्ली आने का निश्चय करने के पूर्व ही संन्यास ले लिया था, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि शशि को फिर तिरस्कृत होकर शहर छोड़ना पड़े; और इन दिनों राजनैतिक आन्दोलन के हो-हल्ले के कारण वह भी अलग रहता था—दल के सभी लोगों ने मिलना-जुलना यथासंभव कम कर दिया था और केवल गिने-चुने 'सहायकों' से मिलते थे; सम्पर्क का काम, और कम गोपनीय पत्र-व्यवहार सब इन्हीं की मार्फ़त होता था, और चन्दा आदि भी इन्हीं की मार्फ़त उगाहा जाता था। इसलिए 'सामाजिक खर्च' के नाम पर कोई खर्च शेखर को नहीं करना पड़ता था, व्यसन कोई विशेष था नहीं, और मनोरंजन भी, सिनेमा-तमाशे की उसे कभी सूझी ही नहीं,—न शशि को ही।

किन्तु दूसरी ओर शशि की हालत फिर गिरने लगी थी; वह कुछ कहती नहीं थी, लेकिन शेखर उसके चेहरे पर पढ़ लेता था कि वह घोर यातना भुगत रही है। डाक्टर के आदेश यथासम्भव पालने और पलाने का वह यत्न करता था, और कोई विशेष व्याघात भी उसमें नहीं पड़ता था, क्योंकि शशि आश्चर्यजनक रूप से अनुगत और 'आज्ञाकारिणी' होती जा रही थी; किन्तु फिर भी उसका शरीर क्रमशः दुर्बल होता जा रहा था और कभी-कभी दर्द में वह सहसा आँखें बन्द करके इतनी निश्चल हो जाती थी कि शेखर सोचने लगता, वह क्या प्रत्येक बार बेहोश हो जाती है? वह शशि को लेकर एक प्रसिद्ध डाक्टर के पास गया था, उन्होंने देखकर रोग का इतिहास पूछा था, फिर पुरानी सब हिदायतें दुहराकर कहा था कि गुरदे के कारण बड़ी एहतियात की ज़रूरत है, और फिर पेट का भी एक्स-रे कराने का परामर्श दिया था। तीन-चार दवाएँ भी बताई थीं....शशि की अनिच्छा रहते पर भी एक्स-रे लिया गया था और डाक्टर के पास पहुँचा दिया गया था, शेखर के शशि को फिर न जाने पर उन्होंने देर तक एक्स-रे के प्लेट को देखकर गम्भीर स्वर से कहा था, "हूँ, मेरे सन्देह का खण्डन नहीं होता.. पर देखें—" और समझाने लगे थे कि कैसे पीठ को ठण्ड और नमी से बचाना बहुत ज़रूरी है, और पूरा विश्राम, और मानसिक शान्ति, और फल और नरम शाक, और किसी तरह की भी उत्तेजना का निवारण....

इन सबमें खासा खर्च होता था....शशि पर उसकी चिन्ता का कुछ असर न हो, इस अभिप्राय से वह बहुत तड़के उठने लगा; उठकर वह आवश्यक व्यवस्थाएँ करके घूमने चला जाता और घूमते-घूमते अपनी चिन्ताओं को वश डालने का उद्योग करता,

जब लौटे तो स्वच्छ मन लेकर लौटे....नदी के किनारे-किनारे बेलारोड के आरपार घूमकर कभी वह खेतों में भी मुड़ जाता; एक दिन खेत पार करते हुए उसने उस बड़े से पौदे में से दो-चार टमाटर तोड़ लिए और घर ले आया; अगले दिन से वह बिना विशेष कुछ सोचे ही चादर ओढ़कर घूमने जाने लगा .. तरकारी के खेतों के किनारे-किनारे वह घूमता, और प्रतिदिन नये स्थल से कभी टमाटर तोड़ लेता, कभी गोभी का अच्छा-सा फूल काटकर या शलगम के चार छः पौदे उखाड़कर अपनी चादर के नीचे कर लेता और घूमता हुआ आगे बढ़ जाता; फिर घर पहुँचकर वह शशि के लिए शाक बनाता और सामने खिलाकर, स्वयं खाकर काम पर चला जाता... यह चोरी है, इस ओर उसका तब ध्यान ही नहीं गया; तरकारी शशि के लिए आती है और इस प्रकार जो पैसे बचते हैं, उनसे दवाएँ लाने में सुविधा होती है, इतना ही सोचकर वह गया था। केवल एक दिन जब गोभी का फूल तोड़कर उसने चादर में छिपाया, तब आहट-सी पाकर वह चौंका और कुछ घबराया-सा; तब उस घबराहट को लक्ष्य करके उसने सोचा कि वह जानता है कि वह पाप कर रहा है; किन्तु आखिर कितनी हानि वह पहुँचाता है किसी को ? इतना तो चिड़ियाँ चुग जाती हैं या ढोर चर जाते हैं—इतने बड़े खेत में दो-एक गोभी के फूलों से क्या होता है, और टमाटर तो हाट तक जाते-जाते कितने ही पिचक जाते हैं—इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से उसने अपने को शान्त कर लिया....

किन्तु शशि की अवस्था में फिर भी कोई विशेष सुधार नहीं दीखा; डाक्टर ने केवल फलों के रस की व्यवस्था दी, और शशि की पारदर्शी त्वचा और भी स्वच्छ और कान्तिमान हो आई, आँखें और बड़ी दीखने लगीं; और प्रतिदिन शेखर के काम से लौटने पर शशि की स्वागत की आतुरता बढ़ने लगी....घर लौटकर अपनी इतनी उत्कण्ठित प्रतीक्षा और इतना आश्वस्त अभिनन्दन देखकर उसका हृदय सहसा द्रवित हो आता—शशि के वहाँ होने मात्र से दुनिया कितनी भिन्न है....कारखाने में पेंटरी के काम के साथ-साथ और भी काम उस पर आ पड़ा था—राजनैतिक तनाव के इन दिनों में उसके दल ने भी अपना कार्यक्षेत्र प्रसारित करने का निश्चय किया था और उसे प्रतिदिन किसी न किसी विषय पर अपील या पैम्फलेट लिखकर देना पड़ता था। यह भी उसे मालूम हुआ था कि उसके सहकारी, जेल पर आक्रमण करके अपने कुछ विशिष्ट सदस्यों को छुड़ाने की योजना बना रहे हैं और इसमें उसके लिए भी कार्य निश्चित कर दिया गया है, शीघ्र ही उसे एक पिस्तौल भी दी जाएगी; इन सब सूचनाओं से उसका मन उद्वेलित रहता और अनेक प्रकार के प्रश्न, दुविधाएँ और दुश्चिन्ताएँ उसके मन में भरी रहतीं; पर लौटकर शशि का मुँह देखते ही जैसे यह सब अननिवार्य, अमौलिक, अनात्यन्तिक सूखे पत्ते-सा झर जाता और रह जाता शिशिर-वासन्ती आकाश—शशि की आँखों का आकाश....

कभी वह बोल भी न सकता, उठकर बैठी हुई शशि को लिटा देता और सिरहा

बैठकर चुपचाप उसका माथा थपकता रहता; उठकर काम करने की, आग जलाने और भोजन तय्यार करने की बाध्यता उसे अखर जाती। वह सोचने लगता कि खाना ही क्यों आवश्यक है; शशि के लिए फलों का रस और गर्म दूध ज़रा-सी देर से तय्यार हो जाएगा, वह यों ही रह लेगा या बासी खा लेगा—आगे से वह एक ही वक्त अधिक बना लिया करेगा....कभी शशि कहती, "शेखर, तुम खुश नहीं दीखते, क्या बात है?" तब जैसे वह भीतर-भीतर उमड़ आता....शशि का माथा थपकते-थपकते जैसे उसके प्राण पर प्राण एक विपण्ण संगीत से गूँज जाते; शेखर का मन उलझे हुए विचारों से भर जाता और कभी ये विचार मुखर भी हो उठते, शेखर धीरे-धीरे अपना मन शशि को बताने लगता और वह चुपचाप सुनती रहती....

एक दिन अचानक शेखर को बताया गया कि उसके 'सहकारियों' में से एक, जो युक्तप्रान्त के किसी नगर से भागा हुआ एक इनामी षड्यन्त्रकारी है, शहर में पुलिस द्वारा पहचाना गया है, अतः सम्भव है कि पुलिस उस 'कारखाने' का भी पता पा जाए, और उसे चौकन्ना रहना चाहिए। उस दिन तीनों सहकारियों का सहकार समाप्त होगा—दो उसी दिन कहीं चले गए—बाद में शेखर को मालूम हुआ कि कानपुर चले गए थे—और तीसरे का, जो शहर में पहचाना गया था, तत्काल बाहर जाना सम्भव और उचित न समझा जाने के कारण निश्चय हुआ कि वह दो-तीन दिन शेखर के यहाँ रहेगा और मौका लगते ही अन्यत्र चला जाएगा। फलतः दोपहर को ही शेखर घर लौट आया—तय हुआ था कि अपराह्न में किसी समय मेहमान उसके यहाँ पहुँच जाएगा, उसके साथ ही शहर पार करके नहीं आएगा।

जल्दी लौट आने से शशि प्रसन्न होगी—मेहमान के आने से दो-तीन दिन तक उनके सख्य में बाधा पड़ेगी; इन दो विरोधी विचारों को लेकर शेखर जब घर पहुँचा, तो शशि ने अचकचाकर अपने आगे फैले हुए पन्ने समेटते हुए पूछा, "आज अभी कैसे—"

"क्या लिख रही हो—छिप-छिपकर कोई पोथा लिख रही हो क्या? मुझे तो मालूम ही नहीं—"

"कुछ नहीं, चिट्ठी लिख रही थी...."

"इतनी लम्बी चिट्ठी? किस पर इतनी कृपा—"

शेखर उसे चिढ़ाना चाहता था, पर उसके मुँह पर संकोच के भाव को लक्षित करके चुप रह गया। यह भी उसने देखा कि शशि का चेहरा असाधारण पीला है, और थकान के चिह्न उस पर स्पष्ट हैं...एक द्रुत छाया-सी उसके मन में दौड़ गई कि शायद रामेश्वर को पत्र लिख रही हो—क्योंकि मौसी को होता तो छिपाती क्यों; पर क्या मालूम इसलिए छिपाती हो कि शेखर की बात लिखी हो—जो हो....बोला, "यों ही जल्दी आना हो गया, एक मेहमान आनेवाले हैं।"

"मेहमान—हमारे यहाँ ? कौन ?"

"हैं एक। और शशि, बड़े संकोची जीव हैं—मेरे साथ नहीं आए, बोले कि पहले जाकर शशिजी को बता दो, नहीं तो मुझे डर लगता है और सामने परिचय कराओगे तो शर्म आएगी !"

"धत् ! आखिर हैं कौन ? इतने संकोची हैं तो सीढ़ियों के ऊपर के आले में टिका देना—मेरे सामने ही नहीं आना पड़ेगा !"

शेखर हँसने लगा। फिर उसने पूरी घटना शशि को बता दी।

शशि ने कुछ चिन्तित स्वर से पूछा, "वे सन्दिग्ध व्यक्ति हैं—तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है ?"

"हाँ, अन्देशा तो नहीं है, पर सम्भावना तो है ही—क्यों, घबराती हो ?"

शशि ने अनमने भाव से कहा, "नहीं, घबराना क्या—" पर तब स्वयं शेखर के मन में यह सम्भावना दौड़ गई कि यदि सचमुच पुलिस आकर मेहमान के साथ उसे भी ले जाए, तो अकेली शशि....इस विचार ने आतिथ्य के मामले को एक नया रूप दे दिया, शेखर चुपका-सा हो गया; फिर थोड़ी देर बाद बोला, "शशि, छोड़ो सोच को—जल्दी से कुछ व्यवस्था कर डालूँ---"

"क्या व्यवस्था करोगे ?"

"पहले तुम लेट जाओ; देखती रहो कि मैं सब कामों में कितना दक्ष हो गया हूँ !"

बहस के बाद तय हुआ कि शेखर के कमरे में मेहमान और शेखर दोनों फ़र्श पर सोएँगे—यदि मेहमान शेखर की चारपाई लेकर उसे अकेले नीचे सोने देना न पसन्द करेंगे। शशि का आग्रह था कि वह नीचे सोएगी और उसकी चारपाई ले ली जाए, पर उसने अधिक हठ नहीं किया। बिस्तर मेहमान अपना लावेंगे—न लावेंगे तो उस समय कहीं से माँग लिया जाएगा। भोजन का निश्चय उनके आने के बाद होगा—सम्भव है, वे खाने अन्यत्र चले जाया करें। यहाँ तक फ़ैसला होने के बाद शशि ने हँसकर पूछा, "तो व्यवस्था क्या करनी है ?"

व्यवस्था की बात केवल एक निकली कि अपने कमरे से कापियाँ और पुस्तकें शेखर लाकर शशि के कमरे में डाल देगा, और इधर से एक छोटी चौकी उठाकर उधर रख लेगा, जो मेज, तिपाई और डेस्क का काम देगी....

मेहमान आकर टिक गए। नाम-मात्र बिस्तर वे साथ लाए थे, और कुछ सामान नहीं था। मालूम हुआ कि साँझ का भोजन वे घर पर किया करेंगे, किन्तु दिन भर कोई भरोसा न किया जाए; वे दिल्ली से निकलने के प्रबन्ध में घूमते फिरेंगे और जहाँ मौका लगेगा, खा-पी लेंगे....

भोजन करके वे बहुत जल्दी सो गए; अगले दिन सवेरे शेखर की नींद खुली तो उसने देखा कि वे बाहर जाने के लिए तय्यार हैं। शाम को लौटने का कहकर वे चले गए। जाने लगे तो शशि ने अचानक कहा, "देखिए, आप दिन भर इसलिए बाहर रहने

की सोचते हों कि मैं यहाँ अकेली हूँ, तो आपको जता दूँ कि मुझे कोई दिक़्क़त नहीं होगी; आप दिन भर यहाँ रह सकते हैं। मैं कोई आतिथ्य नहीं कर सकूँगी, इसका जरूर मुझे खेद है; शेखर की अनुमति नहीं है—"

शेखर ने भी कहा, "हाँ, कहीं सचमुच इसीलिए तो नहीं—"

मेहमान कुछ झेंपकर बोले, "थोड़ा-सा संकोच तो था, पर—" शशि की ओर देख-कर, "आपका कृतज्ञ हूँ। अगर यहाँ आना ही ठीक जान पड़ा, तो अब संकोच के कारण नहीं रुकूँगा।"



कारखाने में शेखर अकेला था, काम हाथ में होने से वह बराबर उसमें जुटा रहा किन्तु मन उसका वहाँ नहीं था; शशि का चिन्तित, पीला चेहरा बार-बार उसके साम-ने आ जाता, और बार-बार यह विचार उठता कि शशि की और उसकी यह समस्या केवल आन्तरिक नहीं है, बाह्य भी है, आध्यात्मिक प्यार की ही नहीं, लौकिक जीवन की भी है; इतना ही नहीं, वह केवल उन दोनों की नहीं, बल्कि उस सारे जीवनपुंज की समस्या है, जिससे उनकी परिचिति है....और इससे आगे बढ़कर कि यही प्यार नहीं, सभी प्यार—प्यार मात्र—मूलतः एक समस्या है और दो इकाइयों तक सीमित नहीं है....कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आड़े, उस समस्या में उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं.. मूल समस्या सामंजस्य की है; प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है, यह विच-लन ही समस्या है, क्योंकि यह व्यापक है, मौलिक है, जीवन के 'तरवार की धार पर' —असंख्य धारों पर!—सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है....तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामंजस्य फिर न खोज निकाला जाए .. समस्या है और साधना है, तपस्या है...और समस्या के इस निरूपण तक पहुँचकर उसका मन फिर लौट जाता शशि के पीले चेहरे की ओर, और इतनी बड़ी उलझन में गुँथी हुई तात्कालिक छोटी-छोटी उलझनों की ओर....

पाँच बजने से कुछ पहले ही उसने जल्दी-जल्दी दूकान बन्द की और घर चला। दिन कुछ लम्बे हो गए थे, अब वह घर ऐसे समय पर पहुँचता था कि बरामदे में शशि के लिए शीतलपाटी और तकिया रखकर उसे वहाँ बिठाकर पास खड़ा होकर जमुना के पानी से लोहित हो उठने की प्रतीक्षा कर सके...

घर से कुछ दूर पर से ही उसने देखा, शशि द्वार पर खड़ी बाट देख रही है। उसे देख और पहचानकर वह तुरत चली गई और चारपाई पर बैठ गई। शेखर ने आकर पूछा, "क्यों, शशि?"

"कुछ नहीं—"

"कुछ तकलीफ़ है?"

"नहीं तो, अच्छी भली तो बैठी हूँ—"

"अभी तो बाहर खड़ी थीं—मैंने देख लिया था—"

"ओह, यों ही ; सोच रही थी कि तुम कब लौटोगे, कहीं बहुत देर हो जाए—"

"क्यों ?" कहकर शेखर समझ गया कि शशि मेहमान की उपस्थिति के कारण चिन्तित हैं। थोड़ी देर चुप रहकर बोला, "कल से और जल्दी आ जाया करूँगा—"

"नहीं, काम तो करना ही है। हाँ, लौटकर कुछ लिख-पढ़ सको—"

शेखर ने जैसे रहस्योद्घाटन करते हुए कहा, "कुछ तो कारखाने में भी लिखता रहा हूँ—काम तो और था नहीं—"

शशि ने किंचित् खिलकर कहा, "अच्छा—मुझे नहीं बताया।" फिर कुछ रुककर "यहाँ क्यों नहीं ले आते—जल्दी पूरा कर लेते—"

"नहीं शशि, अब यहाँ नहीं लिखता। तुम्हारे पास और कुछ नहीं करना चाहता—लिखना भी नहीं। ध्यान बट जाता है—"

शशि ने धीरे से कहा, "पागल !" और चुप हो गई।

थोड़ी देर बाद मेहमान आ गए। भीतर आकर उन्होंने किवाड़ सतर्कता से बन्द कर लिए और शेखर की ओर देखकर कहा, "तुम आ गए, यह अच्छा हुआ।"

कमरे में जाकर उन्होंने कोट के नीचे से दो-एक बंडल निकालकर बिस्तरे पर रखे और फिर स्वयं बैठ गए। शेखर से कहा, "मेरी राय से किवाड़ उढ़का ही दीजिए—" और शेखर के वैसा कर देने पर धीरे-धीरे बंडल खोलने लगे। साथ-साथ बोले, "मैंने जाने का प्रबन्ध लगभग ठीक कर लिया है। परसों तड़के ही चला जाऊँगा—अगर कोई विशेष बाधा न हुई तो। पर कल कुछ आवश्यक काम करना है—और उसमें आपको मदद करनी होगी। इनको परखना है—"

शेखर ने देखा, एक बंडल में से तीन पिस्तौल, दूसरे में से विभिन्न साइज के दो रिवाल्वर और तीसरे में से अनेक छोटी-बड़ी गोलियाँ निकल आई हैं। कुछ अचकचाकर उसने कहा, "मुझे क्या करना होगा—"

एक रिवाल्वर को हाथ से दुलराते हुए अतिथि बोले, "यह मेरा विश्वासी साथी है—इसे तो जानता हूँ। बाकी नए हैं। उन्हें टेस्ट करना है। जमुना के पार कहीं जगह देखकर कर लेंगे। उधर मौका ठीक है। फिर भी 'लुक-आउट' रखना जरूरी है, इसलिए—"

शेखर समझ गया। "कब चलना होगा ?"

"तुम दोपहर को आ सकोगे ?"

"अच्छा !"

भोजन करने के बाद मेहमान शेखर से क्षमा माँगकर फिर जल्दी सो गए। शेखर अनमना जागता हुआ लेटा रहा, फिर सोना असम्भव पाकर देखने उठा कि शशि न सोई हो तो उसके पास जा बैठे। पर शशि के कमरे में प्रकाश था—वह भीतर चला

गया। शशि चुपचाप लेटी छत की ओर देख रही थी, उसकी चारपाई के पास नीचे दवात और कलम पड़ी थी और सिरहाने दो-चार कागज—

"क्या कुछ लिखने जा रही हो? मुझे लिखा दो—"

"नहीं, ये तो यों ही रखे हैं कि कुछ काम याद आ जाए तो—आजकल बहुत भुलक्कड़ हो गई हूँ—"

शेखर ने तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा, फिर पूछा, "नींद आ रही है?—मैं थोड़ी देर बैठ जाऊँ—"

शशि ने चारपाई की बाही पर से कम्बल समेटकर जगह कर दी।

"मैं इधर सिरहाने बैठूँगा", कहकर शेखर तकिये के कोने के पास बैठने लगा।

"नहीं, उधर मुझे दीखता नहीं, सामने बैठो।"

शेखर बाही पर आकर बैठ गया।

आया था वह साहचर्य के लिए, और वह निस्सन्देह उसे मिला, किन्तु कितना गूंगा साहचर्य! वह स्वयं भी कुछ नहीं बोल सका, शशि भी नहीं बोली, बल्कि अब उसने धीरे से आँखें भी बन्द कर लीं।

"सोती हो?"

"नहीं, रोशनी चुभती है—" और फिर मौन....

बात चलाने के लिए शेखर ने कहा, "मौसी का कोई समाचार नहीं आया—न जाने कैसी हैं और क्या सोचती हैं...."

"हमने भी तो नहीं लिखा—उन्हें ठीक पता मालूम है?"

"उन्हें तो डाकघर का ही पता दिया था, यहाँ डाकघरवालों को सूचना दी थी, पर चिट्ठी तो कोई आई नहीं।"

"ठीक ही होगी। लिखेंगी भी क्या—मैंने उन्हें तोड़ दिया है...."

शेखर ने धीरे से एक हाथ उसकी बाँह पर रख दिया।

"सोचती हूँ, गौरा को लिखूं कि मुझे पता देती रहे। वह कर सकती है—अब तो बड़ी है और समझदार तो है ही।" फिर जैसे किसी अव्यक्त विचार का अनुसरण करते हुए, "तुम्हारी तो भक्त है।"

"मेरी—क्यों?"

"जब से जेल गए हो तब से। वह बोलती-चालती कुछ नहीं, पर सोचती बहुत है।"

फिर सन्नाटा छा गया। एकाएक शशि ने पूछा, "किवाड़ बन्द करके क्या कर रहे थे?"

"कुछ नहीं—वे परसों जा रहे हैं।"

"इसलिए किवाड़ बन्द किए थे? कमरे से अन्तर्धान होंगे? और फिर अभी तो दो दिन हैं—"

कुछ रुककर शेखर ने बता दिया। "शशि, तुम्हारे ही बचाव की बात सोची होगी उन्होंने—पिस्तौल वगैरह छिपा रहे थे।"

"पिस्तौल किस लिए लाए हैं?"

"पास रखते हैं—ज़रूरत पड़ सकती है।"

"थोड़ी देर बाद, परसों कब जाएँगे?"

"तड़के।"

"कैसे?"

"पता नहीं—यहाँ से चले जाएँगे। पूछना उचित भी नहीं है—बे-मतलब बात जितनी कम जानी जाए, उतना ही अच्छा है—"

"हूँ।"

फिर बातचीत बन्द हो गई।

"शेखर, तुम पर संकट हो, तो तुम भी पिस्तौल लिए फिरो?"

"........"

"अपने को खतरा हो सकता है, इसलिए दूसरे को मारने को हर वक्त तैयार रहना मुझे तो ठीक नहीं लगता—"

"युद्ध का तो यही नियम है—"

"युद्ध ही क्या ठीक है? पर अन्तर भी है—युद्ध असाधारण बात होती है और आदमी जानता है कि समाप्त होते ही वह साधारण शान्तिपूर्ण जीवन में लौट आएगा। पर यह तो रोजमर्रा के नागरिक जीवन की बात है—हर किसी को हर वक्त मारने को तैयार रहना—"

"क्यों—यहाँ भी तो केवल शत्रु को ही खतरा है—हमें-तुम्हें थोड़े ही उठकर मार देंगे? और असाधारण परिस्थिति तो—"

"यह तो ठीक है, मैं नहीं कहती कि चाहे जिसके मार देंगे, पर इसका मनोवृत्ति पर तो बुरा असर पड़ता होगा—यह आदमी के लिए अच्छा नहीं है।"

"वे शायद यह कहेंगे कि अपने उद्योग का दाम हम अपने जीवन से चुकाते हैं। महँगा सौदा है तो दाम तो हमारे ही लगते हैं, हम भुगत लेंगे।"

"छोड़ो, खैर—कल कब जाओगे?"

"कहाँ—कारखाने? उसी वक्त—"

"फिर मौन हो गया और बहुत देर तक रहा। शेखर बहुत धीरे-धीरे उठने लगा तो शशि ने एकाएक आँखें खोलीं, उसके कुछ कहने से पहले ही शेखर बोला, "नहीं, अभी जाता नहीं—" उठकर उसने बत्ती मन्द कर दी और अब आकर सिरहाने बैठ गया एक हाथ शशि के माथे पर रख दिया। शशि ने फिर आँखें बन्द कर लीं।

दूर कहीं से खेतों के किसी रखवाले की पुकार का धीमा-सा स्वर आया, उस कुछ देर बाद गीदड़ों का 'हुआ-हुआ' और उत्तर में कुत्तों का भौंकना, फिर दो-तीन ब

किसी जलचारी पक्षी का तीखा चीत्कार, फिर सन्नाटा, जिसमें रात की आन्तरिक नीरवता का स्वर गूंज रहा था....

शशि शायद सो गई थी—सीधी वह अब कभी नहीं लेटती थी, इस या उस करवट ही रहती थी और टाँगें सदा सिकुड़ी रहती थीं। अब भी वह ऐसे ही सोई थी, शेखर का हाथ उसके माथे पर नहीं, कनपटी पर था, और उसकी हथेली कनपटी पर शशि के नाड़ी-स्पन्दन का हल्का-सा अनुभव कर सकती थी....

एकाएक शशि ने चौंककर कहा, "शेखर !" और उसका हाथ पकड़ लिया—शेखर ने कोमल स्वर से कहा, "क्यों, जाग गईं—" शशि ने उत्तर नहीं दिया, उसका हाथ पकड़कर आगे मुंह पर खींच लिया और उसकी उंगलियों को धीरे-धीरे अपने निश्चल ओंठों पर फिराती रही....थोड़ी देर बाद हाथ छोड़कर उसने कहा, "शेखर, अब जाकर सो जाओ, देर हो गई है। मैं यों ही जाग गई, अभी फिर सो जाऊँगी।"

वह फिर पूर्ववत् निश्चल हो गई. तब शेखर धीरे-धीरे उठा, एक बार मुँह शशि के सिर के बहुत पास लाकर उसने जैसे शशि के केश सूंघे और फिर दबे-पाँव अपने कमरे में चला गया।



सबेरे-सबेरे ही एक युवक ने आकर पूछा, "दादा कहाँ हैं—"

"कौन दादा ?" शेखर ने रुखाई के साथ कहा। इतने में अतिथि आ गए और बोले, "ओह—अच्छा। शेखर, ये मेरे लिए आए हैं।"

'दादा' ने अपना रिवाल्वर और गोलियाँ रखकर बाकी शस्त्र और गोलियाँ युवक को दे दीं और कुछ आदेश देकर विदा कर दिया। फिर स्वयं भी चले, जाते वक्त शेखर से फिर कह गए, "दोपहर को तैयार रहिएगा—"

शेखर ने पहले सोचा था कि शशि से कुछ नहीं कहेगा, किन्तु दोपहर को जल्दी लौटने और फिर जाने पर वह पूछेगी, और तब बताने से अभी कहना अच्छा है, यह सोचकर उसने शशि को बता दिया कि दोपहर को वह लौट आएगा, क्योंकि 'दादा' के साथ कहीं जाना है।

"कहाँ ? क्या करने ?"

"जमुना के पार कहीं। क्यों, यह तो मालूम नहीं।"

"यानी न पूछूं ?"

"नहीं, शशि; सचमुच मेरा क्या काम है, मुझे नहीं मालूम।"

दोपहर को शेखर आवश्यकता से भी पहले लौट आया, और दादा की प्रतीक्षा करने लगा।

दादा नहीं आए। लगभग तीन बजे सबेरेवाला युवक आया और बोला, "दादा आपको वहीं बुला रहे हैं, वे स्वयं अभी नहीं आएँगे।"

शेखर चुपचाप तैयार होकर साथ हो लिया । चलते समय शशि ने पूछा, "कब तक लौटोगे ?"

शेखर ने अनुमान से कहा, "दिन छिपे तक लौट आऊँगा—घबराना मत ।" और चला गया ।

पुल पार करके दोनों नदी के किनारे हो लिए । एक गाँव पार करके मील भर जाने के बाद सरकंडे के एक झुरमुट की ओट में 'दादा' मिले । देखते ही उन्होंने युवक से पूछा, "ऑल क्लियर ?"

"मेरे ख्याल में तो ठीक ही है । पुल पर एक दीखा था, पर यहाँ तो ठीक है ।"

झुरमुट से आगे रेती का ढाल था जिससे एक सूखी खाई-सी बन गई थी, उससे आगे फिर ऊँची जगह थी । खाई में आदमी किसी ओर से नहीं दीखता था, और चाँद-मारी के लिए दोनों ओर की रेत की दीवार मानो खास बनाई गई थी । एक ओर को जमुना की दुबली धारा थी—कुछ विस्मय से शेखर ने जाना कि वहाँ से लगभग सामने परली पार उसका घर था....

शेखर को एक ओर पहरा देने को नियुक्त किया गया ; युवक को दूसरी ओर । दादा खाई में चले गए । थोड़ी देर बाद एक फ़ायर सुनाई दिया ; फिर थोड़ी-थोड़ी देर बाद इक्के-दुक्के कई एक फ़ायर, कुछ तीखे और कुछ चिड़चिड़े, कुछ गम्भीर....

थोड़ी देर बाद दादा लौट आए; बोले, "सब ठीक ही हैं । बल्कि कारतूसों में कुछ पुराने हैं—धोखा दे सकते हैं ।"

तीनों वापस लौटने लगे । किन्तु जब सड़क के पास पहुँचे तो दादा अचानक ठिठक गए । शेखर ने देखा, पुल की ओर से एक खाकी रंग की लारी आ रही है, जिसमें कई एक पुलिस के सिपाही हैं । लारी रुकी नहीं, धीमी चाल से शाहदरे की ओर बढ़ती रही, किन्तु दादा ने कहा, "मामला कुछ गड़बड़ दीखता है," और थोड़ा चक्कर-सा काटकर वापस वीरान की ओर लौट चले । शेखर और तीसरा युवक भी पीछे-पीछे मुड़ गए ।

वीरान के एक ओर रास्ता था, दादा ने उसी को पकड़ा ।

"यह कहाँ जाता है ?"

"कहीं बस्ती की ओर ही जाता होगा—शाम तक यहाँ थोड़े ही बैठा जा सकता है ?"

शेखर ने पूछना चाहा कि शाम तक बैठना क्यों ज़रूरी है, और उसके बाद क होगा, पर सब बात दादा पर छोड़कर चुप रहा । लगभग तीन मील जाकर एक ग आया ; तब सूर्यास्त में अधिक देर नहीं थी, इसलिए दादा ने गाँव में जाना व्यर्थ सम और एक बगल हो लिए ।

"शेखर, तैरना जानते हो ?"

"हाँ, थोड़ा-बहुत ; क्यों ?"

"यहीं-कहीं से जमुना पार की जाएगी—पुल से खतरा है।"

"अच्छा, आजकल पानी तो ज्यादा नहीं होगा—शायद तैरने की जरूरत न पड़े—"

"तब तो अच्छा है, पर अगर पड़ जाए तो—और इन चीजों को भी तो पानी से बचाना है न—पर वह मैं कर लूंगा, मुझे हाथ उठाकर तैरने का अभ्यास है। नदी कितनी दूर होगी?"

"मील भर तो होगी—रास्ते से दो मील—"

"रास्ते से क्यों; यहाँ से सीधे निकल चलेंगे—"

"बीच में नाला-सा दीखता है—कीचड़ होगा—"

प्रश्नात्मक "हूँ—" कहकर दादा मुड़े और एक खेत की बगल से चलने लगे।

सामने से खेत की मेड़ पर अपने को तोलती हुई एक किसान लड़की चली आ रही थी; सिर पर उसके एक गट्ठर था, जिसको सँभालने के लिए एक बाँह उठी थी, पर गट्ठर को छूती नहीं थी; उसकी चाल के साथ-साथ झूलती जाती थी। लड़की धीरे-धीरे कुछ गुनगुना भी रही थी।

दादा ने क्षण भर रुककर पूछा, "जमुनाजी कितनी दूर होंगी?"

लड़की ठिठक गई। "ऐं—जमुनाजी? लौटके फिरके सीधे चले जाओ, एक कोई डेढ़ कोस होगी। इधर कहाँ जा रहे हो?"

"इधर से रास्ता नहीं है?"

"ना।"

शेखर ने पूछा, "इधर से काटकर नहीं जा सकते—अगर रास्ता बच जाए—?"

लड़की ने एक बार शेखर की ओर देखा, फिर एक बार धीरे-धीरे दादा को सिर से पैर तक; फिर शेखर की ओर उन्मुख होकर बोली, "कीचड़ है, और बड़े ऊँचे कराड़े हैं। तुम तो चले जाओगे, पर इन फक्कड़नाथ से कैसे चला जाएगा?"

शेखर स्तब्ध रह गया। दादा शरीर से काफ़ी भारी थे, पर अपनी काया की इतनी स्पष्ट आलोचना उन्होंने कभी सुनी थी या नहीं, नहीं मालूम। कटाक्ष को मुस्कराकर स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा, "बिटिया, वक्त करा लेता है, देखें—" और बढ़े।

लड़की ने आगे जाते हुए कहा, "फँस जाओगे!" और मानो उनकी उस परिस्थिति की कल्पना करते हुए हँस पड़ी।

तीनों नाले की ओर उतरे, जब रेती नरम हो चली, तब जूते उतारकर उन्होंने हाथ में पकड़ लिए और चुपचाप बढ़ने लगे। कीचड़ सचमुच दलदल से कम नहीं थी""सूर्य अस्त हो गया था; सामनेवाले का ऊँचा करारा धीमा-सा दीख रहा था और साँझ की हवा से झाऊ सरसरा उठे थे....

जब करारा बिलकुल सामने आ गया, तब दादा ने सोचते हुए से कहा,""साठ-साठ मील का पैंड़ा मैंने किया है, छोकरी कहती थी फक्कड़नाथ!" फिर थोड़ा ठहरकर!—

हो गया हूँ कुछ मोटा—" और मानो लड़की द्वारा लगाए लाञ्छन का प्रतिवाद करने के लिए सबसे पहले ऊपर चढ़ने लगे....

ऊपर से जमुना दीखने लगी ; पार बत्तियाँ जल रही थीं। शेखर का मन एकाएक शशि के लिए अत्यन्त चिन्तित हो उठा....नदी पार करके भी कम से कम दो मील लौटना होगा....

●

जब दादा ने कहा, "शेखर, मैं जरा एक जगह होता हुआ आऊँगा," और उसे अनुमति दे दी कि वह सीधा घर लौट जाए, तब शेखर प्रसन्न ही नहीं, कृतज्ञ-सा हो आया—क्योंकि अब वह तेज़ी से चलकर लौट सकेगा और किसी के आने से पहले शशि से क्षमा भी माँग सकेगा....

सिर झुकाए हुए बड़ी तेज़ गति से वह चलने लगा—बीच-बीच में एकान्त सड़क देखकर थोड़ा दौड़ लेता और फिर चलने लगता....एकाएक अपने घर के चौखटे पर पैर रखते हुए ही उसने सिर ऊपर उठाया, क्योंकि अँधेरे में कोई निश्चल खड़ा था—शशि... आँचल हाथ से उठाए हुए उसने नाक और मुँह ढँक रखा था, केवल आँखें खुली थीं....

शेखर का हृदय धक् से हो गया। बिना एक शब्द बोले उसने एक बाँह से शशि को घेर लिया और लगभग धकेलता-खींचता हुआ भीतर ले गया—शशि का शरीर शीत से काँप रहा था....जब वह उसे खाट पर बिठाने लगा, तब उसे लगा कि शशि की आँखों से दो बूँदें गिरी हैं—घर में बत्ती नहीं जली थी—उसने लज्जित, चिन्तित और स्नेह-भरे स्वर में कहा, "शशि—"

इतना पर्याप्त था। शशि ने टूटती हुई आवाज में कहा, "आ गए तुम—" और फूट पड़ी....

शेखर लज्जा से गड़ गया, कुछ बोल नहीं सका....फिर सहसा कर्त्तव्य याद करके शशि को कम्बल उढ़ा दिए, और लपककर अंगीठी जलाने चला। कोयलों को जल्दी भड़काने के लिए जोरों से फूंकता हुआ वह शशि के सिसकने का धीमा स्वर सुनता रहा, वह स्वर उसके भीतर बहुत गहरे में कहीं भोंडी छुरी की तरह चुभता रहा....जब आग कुछ सुलग गई, तब वह अँगीठी लेकर शशि के कमरे में पहुँचा, अंगीठी रखकर शशि को धीरे-धीरे लिटाने का प्रयत्न करते हुए बोला, "बच्चे, सर्दी क्यों लगा ली—इतनी फ़िक्र काहे की थी—"

शशि शरीर कड़ा करके बैठी रही, कन्धे से उसका हाथ परे धकेलती हुई बोली, "हटो—"

शेखर अप्रतिभ कुछ देर तक खड़ा रहा। फिर उसने दुबारा कहा, "शशि, बच्चे, लेटकर कम्बल ओढ़ लो—मेरे अपराध की सजा अपने को क्यों देती हो—"

शशि कुछ बोली नहीं, हिली नहीं। शेखर हताश-सा खड़ा रहा।

थोड़ी देर बाद शशि एक लम्बी साँस लेकर अपने आप लेट गई—हाथ-पाँव सिकोड़कर, स्थिर आँखों से अंगीठी के कोयलों की ओर देखती हुई—

"शशि, मैंने जानबूझकर देर नहीं की, बहुत दूर से नदी पार करके यहाँ आना पड़ा, इसलिए देर लग गई—"

वहीं आँखें गड़ाए हुए, "क्यों क्या हुआ था—"

"कुछ नहीं, हम लोग लौटने लगे तो एक पुलिस की लारी देखकर दादा ने कहा, पुल पर से नहीं जाएँगे। तब पाँच-छः मील भटककर नदी पार करके आए।"

"गए क्या करने थे?"

शेखर चुप रहा। थोड़ी देर बाद शशि बोली, "चलो, लौट तो आए—"

"क्यों, शशि, तुम इतना घबरा क्यों गईं—"

आग की ओर देखते-देखते शशि ने फीकी हँसी हँस दी। "हूँ—घबरा क्यों गई! तुम्हें क्या मालूम घबराना क्या होता है.. मैं तो समझी था कि अब—तुम नहीं आओगे—"

"क्यों, शशि, ऐसी क्या बात थी भला—"

शशि ने जैसे अपने भीतर की ओर देखते हुए, सोचते-से स्वर में कहा, "तुम पार गए थे, यह मुझे मालूम था। पीछे मैं बाहर खड़ी थी तो मुझे लगा, पार कहीं से गोलियाँ चलने की आवाज आ रही है। तुम्हारे बारे में विशेष कभी नहीं डरती—मुझे लगता है कि तुम्हारा अनिष्ट कुछ होगा तो अपने आप जान जाऊँगी; पर आज न जाने क्यों मैंने समझा कि अब तुम्हें नहीं देखूँगी—कि तुम गए अब....शायद इसलिए कि अब—मैं ही जा रही हूँ।"

"क्या, शशि—"

"हाँ, शेखर, घबराहट बुरी चीज है; पर कभी-कभी उससे दिव्य-दृष्टि मिलती है। तुम्हारी बाट देखते-देखते—तुम्हारी क्या, तुम्हारे कुछ समाचार की प्रतीक्षा करते—मैंने बहुत कुछ देखा है, जो पहले नहीं देखा था—इतना स्पष्ट नहीं।"

"क्या, शशि?"

"बहुत कुछ... किसी विदेशी उपन्यास में पढ़ा था कि प्यार एक कला है, और कला संयम का दूसरा नाम है। और इसकी व्याख्या की गई थी, किसी भी एक व्यक्ति को इतना प्यार नहीं करना चाहिए कि जीवन में किसी दूसरे उद्देश्य को गुंजाइश न रह जाए—कि जीवन एक स्वतन्त्र इकाई है और यदि वह बिलकुल परायान हो जाए तो वह कला नहीं है, क्योंकि कला के आदर्श से उतरकर है। तब नहीं समझी थी कि यह सब क्या है...."

शेखर भी चुपचाप आग की ओर देखने लगा।

"स्वीकार तो अब भी नहीं किया—पर समझ आज गई....मैं—कला से आगे"

गई हूँ....और—और मैंने देखा, यह ठीक है—मेरे लिए ठीक है। जीवन में दूसरे उद्देश्य की गुंजाइश मुझे नहीं चाहिए—क्योंकि—अब जीवन भी और नहीं है।"

शेखर ने आहत होकर कहा, "शशि, तुम्हें बहुत क्लेश पहुँचा है, इसलिए ऐसी बातें कर रही हो—"

"नहीं, शेखर, नहीं। तुम्हारे बारे में जो कुछ मैंने आज देखा, उसमें चाहे भूल की हो, पर इस बारे में—नहीं। मेरा काम पूरा हो गया ..."

शशि के स्वर में इतनी निश्चयात्मकता थी कि प्रतिवाद में शेखर कुछ बोल नहीं सका। अब तक खड़ा था, अब सहसा शशि की चारपाई पर बैठ गया। उसका स्तब्ध मन शशि की बात का पूरा अभिप्राय समझने का प्रयास करने लगा—पर इससे आगे नहीं बढ़ सका कि शशि कहती है, वह अधिक नहीं जिएगी....

शशि ने धीरे-धीरे आँखें बन्द कर लीं। शेखर आग की ओर देखता रहा। बहुत-सा समय बीत गया—कोयलों पर राख की परत पड़ गई....शेखर अंगीठी को हिलाने के लिए उठनेवाला था कि उसे लगा, शशि की साँस काफ़ी तेज़ चल रही है। उसने धीमे से पुकारा, "शशि—" और उसके माथे पर हाथ रखा और तत्काल खींच लिया। शशि को ज्वर हो आया था....

शशि ने कहा, "अभी चढ़ रहा मालूम होता है।"

शेखर ने एक कम्बल अपने बिस्तर से लाकर और उढ़ा दिया, अंगीठी में आग भड़का दी और फिर कमरे में टहलने लगा....

एक बार सूचनात्मक खड़का करके उढ़काए हुए किवाड़ खोलकर दादा घर में आ गए; शेखर शशि के कमरे से निकलकर स्वागत करने बढ़ा, और एक साथ ही आतिथ्य के अनेक दायित्व उसे याद आ गए—

पर दादा ने कहा, "यह लो, तुम दोनों के लिए खाना बाजार से लेता आया हूँ—बहुत देर हो गई थी—"

शेखर कृतज्ञ-भाव से चुप रह गया।

"शशिजी की तबीयत ठीक है?"

"ऊँ—नहीं—उन्हें कुछ ज्वर है।"

दादा शेखर के कमरे में जाकर सामान आदि रखने लगे, शेखर तश्तरियाँ लेने बढ़ा।

●

दादा ने बताया कि बड़े तड़के वहाँ से चले जाएँगे—दिन निकलने से पहले दिल्ली से बाहर चले जाएँगे और किसी छोटे से स्टेशन से गाड़ी पर सवार हो जाएँगे। उनके जाते समय शेखर के जागने की ज़रूरत नहीं है, वे चुपचाप चले जाएँगे, फिर कभी मिलना होगा तो अच्छा, नहीं तो—'नहीं तो फिर जैसा हो!'

जब सोने का उपक्रम करके वे नियमित साँसें लेने लगे तब शेखर चुपके से बाहर आया और शशि के कमरे में गया। शशि का माथा छूकर देखा, ज्वर था। शशि सोई नहीं थी, शिथिल पड़ी थी....थोड़ी देर उसका माथा सहलाकर वह फिर बाहर आया, अँगीठी में कुछ और कोयले डालकर आँच भड़काकर शशि के कमरे में रख दी, सिरहाने के पास चौकी पर पानी रखा; शशि से धीरे से कहा, "शशि, कुछ जरूरत हो तो मुझे बुला लेना—यों ही उठना मत...." और क्षण भर अनिश्चित खड़ा रहकर अपने कमरे में जाकर लेट गया।

उसे लगा कि उसे रात भर नींद नहीं आएगी, वह सोचता रहेगा—पर न जाने कब दिन की भटकन की प्रतिक्रिया ने उसे धर दबाया और वह सो गया। जब जागा तो हड़बड़ाकर दादा के सिरहाने पड़ी रेडियम घड़ी देखी, चार बज रहे थे....वह रात का सबसे ठण्डा समय होता है, यह सोचकर वह अँगीठी में फिर से आग जलाकर शशि के कमरे में रखने के विचार से उठा तो देखा, वहाँ लैम्प का तीखा प्रकाश है, यद्यपि वह बत्ती धीमी कर आया था....लपककर वहाँ पहुँचा तो देखा, शशि एक कोहनी पर शरीर साधे लेटी-लेटी लिख रही है—लिख नहीं, लिखती रही है, और अब मानो थककर सिर झुकाकर विश्राम कर रही है, कलम अभी उसके हाथ में है। पहली प्रवृत्ति हुई कि पढ़े, क्या लिख रही है, किन्तु उसे दबाकर वह शशि को आराम से लिटाने के लिए आगे बढ़ा तो वह उठ गई, बैठी होकर उसने थकी हुई बाँह को सीधा किया और कागज उठाने लगी।

शेखर ने गहरे उपालम्भ के स्वर में कहा, "शशि...."

शशि सहज भाव से बोली, "बस, अब तो लिख चुकी—" पर शेखर के मुँह का पीड़ित भाव देखकर कुछ लज्जित-सी हो गई "यह लिखना जरूरी हो गया था—अब और कुछ शैतानी नहीं करूँगी—शेखर, मैं बड़ी आज्ञाकारिणी हो गई हूँ, अब तो—"

निरस्त्र-भाव से शेखर ने अँगीठी उठाई और जलाने ले चला।

खड़के से दादा जाग गए। उठकर बाहर आए और बोले, "मैं तो चुपचाप निकलने वाला था, आप मुझसे पहले जाग गए!"

शेखर अभी अँगीठी सुलगा ही रहा था कि वे मुँह-हाथ धोकर तैयार हो गए। "अच्छा शेखर, मैं तो अब चला। फिर कहीं मिलना अवश्य होगा—हमें तुम्हें अभी बहुत कुछ करना है!" तनिक हँसकर, "शशिजी से मेरा प्रणाम कह देना। उनका मैं कृतज्ञ हूँ—हालाँकि कृतज्ञता से मैंने कष्ट ही कष्ट दिया है....अच्छा—"

जल्दी से काले हाथ धोकर शेखर उन्हें द्वार तक पहुँचाने आया, पर विदाएं लेने के अभ्यस्त दादा रुके नहीं, एक भागती मुस्कान उसे देकर चले गए।

शेखर ने धीरे-धीरे द्वार बन्द कर दिया, लौटकर अँगीठी उठाई और फूँकता हुआ शशि के कमरे की ओर चला।

अँगीठी रखकर कमरे का द्वार भी उसने उढ़का दिया, केवल खिड़की किंचित खुली रह गई; फिर मानो वह सोचने-सा लगा कि अब क्या करे—

शशि हिली, अपने शरीर को ढीला छोड़कर और फैलाकर उसने एक लम्बी साँस ली, कम्बल ठोढ़ी तक खींच लिया और शेखर की ओर देखने लगी।

शेखर ने पूछा, "शशि, तुम आराम से हो? इस वक्त ठण्ड बढ़ जाती है, अँगीठी—" और रुक गया। शशि सुन नहीं रही थी; उसकी खोई-सी मुद्रा एक हल्की मुस्कान में घुल गई थी और उसने आँखें मूँद ली थीं। शेखर चुपचाप उसका मुँह देखने लगा। एकाएक शशि ने आँखें खोलीं, स्थिर दृष्टि से शेखर पर टिकाईं और देखती रही। उसकी दीर्घ भेदकता के आगे शेखर का अन्तर उद्वेलित हो उठा; उसने देखा—कुछ परम सत्य, सीमातीत, परिव्याप्त....

"शेखर, यहाँ आओ।"

शेखर बढ़कर चारपाई के पास आ गया।

"मेरे पास बैठ जाओ।"

किसी अज्ञात भावना से प्रेरित शेखर बढ़कर शशि के पैताने बैठ गया—शशि इतनी दूर, लोकातीत-स्वप्नमय, अशरीरी लग रही थी, मानो छूने से वायु में घुल जाएगी—

"नहीं,"—कौन-सा रहस्य उसके स्वर में बोलता है!—"वहाँ नहीं, पास आओ।"

मन्त्रचालित शेखर आगे सरक आता है।

तब बिना एक शब्द और कहे शशि अपनी ठोढ़ी उठाती है; उसकी आँखें अर्ध-निमीलित हैं और ओठ अधखुले, वह निश्चल मुद्रा बोलती नहीं—

क्षण भर शेखर कुछ नहीं समझता, फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है, और वह उन उठे हुए अर्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है—झुकते-झुकते उसकी आप्लावनकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है, एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निक[ट] पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़कर अपना कर्णमूल शशि के ओठों से छुआ देता है; ओठ तप्त हैं—ज्वर से; उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन-सी उसके माथे में दौड़ जा[ती] है, तब चेतना की एक नई लहर से बाधित वह फिर झुकता है और शशि के स्नि[ग्ध] स्तब्ध, किन्तु बे-झिझक ओठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन....

शशि ने एक गहरी साँस ली और आँखें बन्द कर लीं; शेखर विमूढ़ और निश[्चल] नीरव साँस लेता हुआ बैठा रहा। नीरवता में वह अपना नाड़ी-स्पन्दन सुनने लगा, उसे भ्रम हुआ कि यह उसका नहीं, शशि का हृत्स्पन्दन है—फिर लगा कि वह उन[का] का नहीं, प्रत्यूष की आन्तरिक परिव्याप्त नीरवता का स्पन्दन है....

रात की धूसर आच्छन्नता में भोर की अरुणाली घुल आई....

"शेखर?"

"हूँ—"

"तुम मुझसे गाना सुना करते हो ; अब मैं कहूँ तो कुछ सुनाओगे—"

"मैं ?...."

"हाँ, गाकर नहीं, पढ़कर," आँख के इशारे से अलमारी जताते हुए शशि ने कहा, "वहाँ से एक काली-सी कापी निकालो—निचले खाने में—"

शेखर ने कापी निकाली।

"मुझे दो—"

शशि ने कापी खोली, एक हाथ और ठोढ़ी के सहारे कुछ पन्ने उलटकर एक स्थल चुना और कहा, "लो—यहाँ से—"

शेखर ने विस्मय से कापी ले ली—उसमें शशि के अक्षरों में कविताएँ नकल की हुई थीं—हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला—

"और अब देखो—पढ़ो—"

शेखर पढ़ने को हुआ, आधी पंक्ति पढ़कर रुक गया ; फिर एक बार शशि के चेहरे की ओर देखकर धीरे-धीरे पढ़ने लगा—

"I want to die while you love me
While yet you hold me fair,
While laughter lies upon my lips
And lights are in my hair.
I want to die while you love me.
Oh who would care to live
Till love has nothing more to ask
And nothing more....to give ?
*I want to die—"**

---

*"तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मैं मर जाना चाहती हूँ—
जब कि मेरा रूप तुम्हारी आँखों में सुन्दर है,
और मेरे ओठों पर हँसी है,
मेरे केशों में कान्ति...
तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मैं मर जाना चाहती हूँ—
तब तक कौन जीना चाहेगा
जब कि प्यार के पास शेष रह जाए—
न कुछ माँगने को, न कुछ देने को ?
मैं मर जाना चाहती हूँ—"

एकाएक रुककर उसने कहा, "नहीं, शशि, मैं नहीं पढ़ूँगा यह—" और कविता की टेक का, और शशि के उस समय उसे पढ़वाने का गूढ़तर गुरुतर अभिप्राय उसकी आत्मा में पैठ गया....I *want to* die while you love me..."नहीं, बिलकुल नहीं !"

"डरते क्यों हो, शेखर, यह तो पुरानी कविता है—मेरी हँसी तो पहले ही जा चुकी !—नहीं शेखर, तुम्हें दुःख नहीं पहुँचाना चाहती, ऐसे मत देखो मेरी ओर—हमने जाना ही बहुत देर से—मैंने तो कल रात में—कल शाम को, जब तुम जमुना पार गए थे—"

शेखर ने कापी बन्द कर दी, उसे एक ओर रखकर हाथ बढ़ाकर शशि के दोनों हाथ कसकर पकड़ लिए....

देर बाद शशि ने कहा, "छोड़ो, मैं अभी थोड़े ही मर चली हूँ—" और मुस्करा दी। फिर स्वर बदलकर, "शेखर, तुम अब काम-धाम करना चाहो तो करो, जाओ ; मैं सो जाऊँगी।"

शेखर ने आँख उठाकर दिन की ओर देखा, कहना चाहा कि मुझे अब कोई काम नहीं है, सोचा कि सो सके तो शशि के लिए हितकर है, और चुपचाप उठकर बाहर आ गया, यद्यपि उसका निश्चय था कि वह आज कारखाने नहीं जाएगा....

नित्यकर्म के बाद चूल्हा जलाकर उसने दूध में थोड़ा-सा दलिया बनाया, तीन सन्तरों का रस निकाला फिर शशि के कमरे की ओर दबे-पाँव देखने गया। खिड़की से झाँककर देखा, शशि स्निग्ध नींद में सोई थी....

शशि ने वह कविता क्यों उस समय उससे पढ़वाई ? I want to die while you love me....शशि निरी भावुकता की बातें तो नहीं किया करती—तब क्या वह—सन्देश है ? कि केवल सम्भावना है ?....कि भावना है—प्यार के प्रति कृतज्ञता की....कि—पूर्व-सूचना है.

उसने अपने कमरे में जाकर मौसी को एक छोटा-सा पत्र लिखा कि बहुत दिन से समाचार न मिलने से वे दोनों चिन्तित हैं, कि और सब ठीक चल रहा है, कि शशि अस्वस्थ है, और हो सके तो वे थोड़ा-सा रुपया भेज दें। एक बार उसका हाथ अटका कि वह पहले का अभिमान क्या हुआ, किन्तु उस अभिमान की यथार्थता उस समय किसी तरह उसके मन के आगे स्पष्ट न हो सकी....उसने लिफ़ाफ़े पर पता लिखा, एक बार फिर शशि की ओर झाँककर देखा, फिर धीरे से बाहर निकलकर कुछ दूर पर लैटर-बक्स में डालने चला।

शशि अभी जागी नहीं थी, उसके माथे पर प्रस्वेद की बूँदें थीं....ज्वर उतर रहा है....शेखर धीरे से कमरे के भीतर गया और शशि के सिरहाने ज़मीन पर बैठ गया। बाहर कई-एक काम करने को थे, कमरे में कोई काम नहीं था जब तक शशि सो रही थी ; किन्तु शेखर को उस सोए हुए चेहरे से तत्काल ही बहुत कुछ कहना था....

●

यह क्यों है कि जीवन के तीव्रतम इन दिनों की स्मृति में मैं बार-बार दुविधा में पड़ जाता हूँ कि क्या सचमुच हुआ; और क्या हुआ नहीं, केवल सोचा गया ? बाहरी और भीतरी जीवन ऐसे उलझ गए हैं कि उनको अलग-अलग नहीं कर पाता—शायद आन्तरिक जीवन का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि वह बाह्य की भौतिक सीमाएँ तोड़-तोड़कर फूटा पड़ता था—न होकर भी तीव्रतर सत्य था, यथार्थ था—यथार्थ है....

"सुनो, शशि, मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है। तुम जागो नहीं, सोई रहो, तुम सोई-सोई भी सुन लोगी जो मैं कहना चाहता हूँ—क्योंकि मुझे वह तुम्हारे कानों से नहीं कहना, तुम्हारे ओठों से कहना है—जो आज मेरी ओर बे-झिझक उठे हैं, जिन्हें कुछ भी कहने में झिझक मुझे नहीं है—जब वे सोते हैं, तब और भी नहीं....

"शशि, तुमने मुझे प्यार दिया है—तुमने मुझे वर दिया है....वर देने से पहले परीक्षा क्यों नहीं ली ? लो परीक्षा मेरी—देखो कि मैं अधिकारी भी हूँ कि नहीं....

"शशि, शक्ति मेरे पास रही है, पर मैंने उसे जाना नहीं, आजीवन मैं विद्रोही रहा हूँ, पर बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ....एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे यह दिखाया—बताया कि लड़ना स्वयंसाध्य नहीं है, लड़ने के लिए लड़ना निष्परिणाम है, कि विद्रोह किसी के विरुद्ध होना चाहिए—ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता-पिता, अपना-आप, प्यार, कुछ भी हो, जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके....तब मेरे विद्रोह को धार मिली—वह विरुद्ध हुआ....मैं प्रतिद्वन्द्वी हुआ ...

"किन्तु वह आधा ज्ञान था, इसलिए मेरा विद्रोह भी आधा था....फिर—फिर तुम्हीं ने सिखाया कि विरुद्ध लड़ना ही पर्याप्त नहीं है... मैंने देखा, सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है—कि एक अकेला समाज ही नहीं, जीवन आमूल दूषित है—ईश्वर, मानव, सब कुछ....आमूल दूषित—दूषित और सड़ा हुआ, विरुद्ध लड़ने के लिए कुछ भी नहीं है! या सब कुछ है, जो कि एक ही बात है—मिट्टी को काटा जा सकता है, पर दलदल को नहीं—उसमें धँसना ही धँसना है....किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है, किसी के लिए लड़ना भी जरूरी है....

"किसी के लिए लड़ना....किन्तु किसके ? जब सभी कुछ सड़ा है, तो क्या है जिसके लिए लड़ा जाए...."

"तब तुमने क्या निश्चय किया, शेखर ?"

"मुझे आवश्यकता नहीं पड़ी—तुम फिर आ गई—तुम मेरे जीवन में चली आईं.... मैं नहीं जानता था कि किसके लिए लड़ूँ, पर तुम मेरे पास थीं, तुम्हारे लिए मैं लड़ने लगा—या उद्योग करने लगा लड़ने का। शशि, मैं निरन्तर संघर्ष करता आया हूँ—तुमसे भी लड़ता आया हूँ, पर अब स्वीकार करता हूँ, कि मैंने तुम्हें प्यार किया है। लड़ने में अपना श्रेष्ठतम मैं देता आया हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हारे लिए दिया है। बीच में शंका हुई थी कि यह आदर्श घटिया है, फिर दूर हो गई, क्योंकि तुम किसी कोरे आदर्श

से कम नहीं थीं....किन्तु फिर मेरे भीतर एक भूख जागी, और उससे फिर एक नया सन्देह....शशि, क्या मैंने पाप किया है ?"

"शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।"

....दो असम्बद्ध वाक्य....इसका अभिप्राय धीरे-धीरे ही शेखर के प्राणों में उतरा....किन्तु जब पूर्ण-रूपेण उतर गया, तब—

"और शशि—अब जब मैंने लड़ने के लिए साध्य पाया तो—शशि, शशि, तुम क्या सचमुच चली जाओगी, शशि—"

हठात् शेखर ने शशि का माथा ज़ोर से पकड़ लिया....शशि जाग गई, उसकी उँगलियाँ शशि के हाथों को टटोलती हुई आईं—

"शशि, क्या तुम सचमुच चली जाओगी—क्या मेरे जीवन में कभी कुछ सार नहीं होगा—"

शशि ने उसके हाथ को थपकते हुए कहा, "होगा, शेखर, है। मेरे बाद भी होगा। तुम नहीं हारोगे—कभी नहीं हारोगे—मेरे लिए, शेखर, मेरे लिए...."

"मैं जानता हूँ, शशि....रुकना मेरे लिए नहीं है—तुमने मुझे दिया नहीं। पर चलूँगा कैसे, मैं नहीं जानता—मुझे नहीं दीखता—किसके लिए....या कि तुम्हारे ही लिए होना—मेरे बिना देखे, बिना जाने किसी तरह तुम्हारे लिए, तुम्हारे ही लिए, शशि....

शशि का माथा शीतल, चेहरा स्निग्ध और प्रशान्त, इतना शान्त, इतना स्तब्ध कि शेखर आतंकित....भर्राए स्वर में, "शशि, तुम—चली गईं ?" फिर अपने प्रश्न की मूर्खता पर लज्जित, चकित....पर शशि नहीं चौंकती, उसकी अँगुलियाँ शेखर के हाथ पर फिर आती हैं—

क्या वातावरण बदल गया है ? क्या धूप-छाँह के कारण भ्रम होता है ? क्यों शशि के माथे पर हल्की-हल्की छायाएँ थिरककर दौड़ जाती हैं जब कि उसकी अनभिप्र आँखें बिलकुल स्वच्छ हैं और उसके ओठ निश्चल स्निग्ध ? क्यों उसके बाएँ हाथ की उँगलियाँ कभी-कभी छाती पर पड़ी-पड़ी ही सिकुड़-सी जाती हैं जब कि वक्ष की गति नियमित है ?

"शशि, दर्द होता है ?"

आँखों की भाषा, कि नहीं।

किन्तु क्यों उसके हाथ के नीचे शशि के शीतल माथे पर बल आते-आते रह जाते हैं, क्यों उसे लगता है कि शशि काँप-सी रही है ?

"बताओ, शशि, क्यों, क्या होता है...."

तब शशि हाथ उठाकर उसके बाल पकड़कर उसका सिर अपनी ओर खींच लेती है और कहती है, "सुन, शेखर, सुन...."

●

दिन, दोपहर, साँझ, रात, सवेरा, दिन, दोपहर, साँझ; रात, प्रत्यूष....ज्वर, प्रस्वेद, क्लान्ति, स्निग्ध ताप, कँपकँपी, ज्वर; स्नेह-श्लथ हाथ; ज्वर, प्रस्वेद, शैथिल्य....होलियों की हवाएँ, स्निग्ध-शीतल; अनवरत पतझार; छिटपुट रुई के गाले-से सफ़ेद बादल, आवारे, निचिन्त, निर्मोही; धूल-धूसर चक्रवात....डाक्टर; राख-भरी चिलमची, चार्ट और बोतलें, फलों का रस....मौसी की ओर से गौरा के हाथ की लिखी हुई चिट्ठी,—'माँ की आँखों में घोर कष्ट है, इसलिए वे स्वयं नहीं लिख रहीं, तुम दोनों को बहुत-बहुत आशीर्वाद दे रही हैं और कहती हैं कि शशि का हाल जल्दी-जल्दी लिखना, इतनी-इतनी देर से पत्र लिखना अच्छी बात नहीं है। परमात्मा करे, वह जल्दी अच्छी हो जाए....सौ रुपया भेजा है...' फिर गौरा का अपनी ओर से, 'मौसी कहती थीं कि रुपया मनीआर्डर से भेज दूँ, पर मैं चिट्ठी में नोट डालकर रजिस्ट्री से भेज रही हूँ, क्योंकि वहाँ से मनीआर्डर शायद तुम न चाहो। शशि के स्वास्थ्य की मुझे बहुत चिन्ता है, चिन्ता की बात न होती तो तुम भला लिखते ? मैं शुश्रूषा के लिए आ जाऊँ ? माँ से नहीं पूछा, पर तुम कहोगे तो जरूर आ जाऊँगी, चाहे जो हो—सब हाल जल्दी लिखना....' गौरा बड़ी समझदार हो गई है—इतनी-सी लड़की....हल्ला-गुल्ला, मोटरों की दौड़ और घरघराहट, नारे, सफ़ेद टोपियाँ, लाल कमीजें, 'काला कानून', 'भगतसिंह को फाँसी हो गई।' 'गांधीजी की भिक्षा अस्वीकार !'....

दोपहर, साँझ, रात; और सब असत्, मिथ्या, भ्रान्ति—बड़ी दूर की मरीचिका....निकट केवल दो बड़ी-बड़ी स्वाति-सी आँखें, तारे-सी तरल झिलमिलाहट, जो व्यथा को छिपा लेती है, व्यथा, चिन्ता, डर....

●

मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है, जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का भोगनेवाला और आज का वृत्तकार दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है, और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ, नहीं हूँ।

इसमें इतिहासकार की पराजय है तो हो। इतिहास मेरे लिए कुछ नहीं है; घटनाओं का अनुक्रम भी कुछ नहीं है। जीवन का अन्तिम मान है जीव—हमारे जीवन का [illegible] है यह अद्भुत सृष्टि, मानव प्राणी—और प्राणी की प्राणवत्ता का मान है [illegible] —उसकी अपने आपसे बाहर प्रसक्ति होने की, निछावर होने की [illegible] महत्व मेरे लिए नहीं है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसी का महत्व है [illegible] बात का कि मैं स्वयं जाने से पहले उसका स्वीकार कर जाऊँ, [illegible]

नहीं रहूँगा, तो यही एक स्मारक मैं उसके नाम पर खड़ा कर सकता हूँ! अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न रही होतीं, तो उसका भविष्य भी रहा होता—शायद वह एक कुटुम्ब की अधिष्ठात्री होती और उन सबके जीवन में प्रकट होता वरदान-सा वह पुनीत वत्सल प्यार, जो एक विशाल आत्मा की देन होता है....पर वह नहीं हुआ; उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को निकट से केवल मैंने देखा, मैंने जो कि उसके टूटने का निमित्त हुआ....

किन्तु यह साक्षी, यह ज्ञापना, अपने अपराध के धोने के लिए नहीं है, प्रायश्चित्त के लिए नहीं है। उस प्यार में अपराध भी डूब सकते थे, इतना विशाल था वह....मैं शेखर का अपराध छोटा करके नहीं दिखाता, क्योंकि उसके पीछे शेखर के प्यार की .न्मयता थी, उस शेखर की जो मैं हूँ....

चिन्ता, चिन्ता, डर....निश्चय....शशि शायद पहले जान गई थी, किन्तु एक दिन एकाएक शेखर ने जान लिया .. अनदेखी दिखाना शायद उचित या आवश्यक हो, अनदेखी करना क्षम्य नहीं है—कारखाने जाना उसने कई दिन से छोड़ दिया था, अब उसने शशि के पास से हिलना ही छोड़ दिया। उसी कमरे में अपना बिस्तर ले आया, दो घण्टे रात में और एक-डेढ़ घण्टा दिन में कभी अवसर मिलने पर वह सो लेता, नहीं तो निरन्तर शशि के सिरहाने निश्चल बैठा रहता। वह जागती तो उसका माथा या छाती पर पड़ा हुआ हाथ सहलाता रहता; सोने लगती तो सिमटकर अचल हो जाता कि बाधक न हो; अनिश्चित तन्द्रा में होती तो एकदम उसका चेहरा देखा करता—और ऐसे देखने के अवसर क्रमशः बढ़ते जाते थे....या कभी शशि उसे आराम करने को कहती, तो अपनी चारपाई पर औंधा लेटकर कोहनियाँ टेककर और हथेलियों पर ठोढ़ी जमाकर उसे देखा करता....

रोगी की शुश्रूषा एक विज्ञान है, बुद्धि पर आश्रित है, उसमें भावना के लिए स्थान नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त लोग उस भारतीय माँ पर हँसते हैं, जो रोगी बच्चे को डाक्टर के पास नहीं ले जाती, छाती से चिपटाकर रात भर सुन्न बैठी रहती है .. निरा प्रवृत्तिजन्य प्रेम—पशु-माता की आहत शिशु के लिए निर्बुद्धि व्याकुलता—ये वैज्ञानिक शुश्रूषा नहीं हैं; पर प्राणी को प्राणी की पुकार भी एक औषध है, जो एकमात्र औषध नहीं है, पर अनिवार्य तो है—कम-से-कम विज्ञान-सी अनिवार्य—धमनी के स्पन्दन-सी अनिवार्य....और जहाँ विज्ञान अपनी लाचारी जानता है, वहाँ इस मूल वृत्ति की शक्ति ही एक शक्ति है, जो लाचार नहीं है—मृत्यु के आगे भी नहीं; क्योंकि मृत्यु सबसे पहले मृत्यु-भय है, और प्यार के वातावरण से घिरे हुए प्राण को वह भय छू नहीं पाता....

डाक्टर दिन में दो बार आते, दवा दे जाते या भेज देते, शेखर के दल के दो युवक बारी-बारी से खाना पहुँचा जाते और समाचार पूछ जाते, कभी बाहर के समाचार बता जाते, जो शेखर के मन में बैठकर भी न बैठते, क्योंकि वहाँ उनके लिए स्थान न होता....

शेखर बहुत कम बोलता, शशि लगभग बिलकुल नहीं बोलती, केवल जब-तब आँखों से एक आश्वासन का संदेशा शेखर को दे देती....रोग के प्रत्येक नए आक्रमण के बाद—जब कम्पन के बाद ज्वर और ज्वर के बाद प्रस्वेद और शिथिलता का एक चक्र पूरा हो जाता—जब शशि के क्लान्त हाथ उसके वक्ष पर पड़े-पड़े काँप-से जाते, उँगलियाँ सकुच-कर खुल जातीं और बन्द आँखों पर पलकें सिकुड़कर फिर पूर्ववत् हो जातीं, तब शेखर को ध्यान आता कि शशि को प्रसन्न रखने के लिए और पीड़ा से उसका ध्यान हटाने के लिए कुछ मनोरंजक बातचीत करना आवश्यक है। वह यत्न करता कि कुछ ऐसी बात करे, पर उसका मन सूना हो जाता, मनोरंजक कोई बात ही उसे न सूझती। तब वह टटोलकर शशि का हाथ पकड़ लेता और धीरे से कहता, "शशि, घबरा मत, मैं तेरे पास हूँ—" शशि आँखें खोलकर एक बार उसकी ओर देख लेती; उस दृष्टि में बड़ी हल्की-सी हँसती करुणा होती—"मैं घबराती हूँ? तू मत डर, मैं तेरे पास हूँ...."

और इस प्रकार दीप की बाती चुकती जाती, पर शेखर बैठा, आलोक को देखता जाता....

रात लम्बी थी, पर बीत चली थी; अँगीठी बुझ गई थी, शेखर जागता था....

शशि ने धीरे से पुकारा, "शेखर—"

शेखर उसकी ओर झुक गया कि शशि को बात अच्छी तरह सुन ले, कुछ उसे दोहराना न पड़े।

"शेखर—अलमारी में—चिट्ठी।"

आशय समझकर शेखर ने अलमारी खोली, निचले खाने में मोड़कर रखे हुए कई एक पन्ने निकाले और पूछा, "यह पत्र कहीं भेजना या किसी को देना चाहती हो?"

आँख की झपकी, कि हाँ।

"किसे—मैं भेज दूँगा—"

आँखें शेखर पर स्थिर, ओठ धीरे से खुलते हैं, "पढ़ो।"

न जाने किसे शशि ने पत्र लिखा है—क्या पढ़ना उचित है? दुविधा में वह पन्ने खोलता है, अटकते हुए पहली पंक्ति पढ़ता है (—क्या शशि ने रामेश्वर को लिखा है—कैसे लिख सकती है—) कि एक बिजली उसके शरीर में दौड़ जाती है, इतना अन्धा वह कैसे हो सका....शशि ने उसे लिखा है, शेखर को—शेखर को!

इस स्थान तक पहुँचकर शेखर रुक गया, उसका हाथ काँपने लगा, आगे न पढ़कर उसने दृष्टि शशि पर टिकाई—

"नहीं, पीछे नहीं, अभी—"

एक साँस में शेखर पढ़ गया—इतनी जल्दी पढ़ने से उसका अभिप्राय कम समझ में आया हो, सो नहीं, उसके शब्द—वाक्य के वाक्य तपी हुई धातु की तरह उसकी चेतना को दाग गए और उसके कानों में गूँजने लगे....साथ-साथ घटनाएँ भी घटने लगीं, उन घटनाओं में शेखर अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ भागी था, पर वह गूँज भी साथ-साथ

नहीं रहूँगा, तो यही एक स्मारक मैं उसके नाम पर खड़ा कर सकता हूँ! अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न रही होतीं, तो उसका भविष्य भी रहा होता—शायद वह एक कुटुम्ब की अधिष्ठात्री होती और उन सबके जीवन में प्रकट होता वरदान-सा वह पुनीत वत्सल प्यार, जो एक विशाल आत्मा की देन होता है....पर वह नहीं हुआ; उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को निकट से केवल मैंने देखा, मैंने जो कि उसके टूटने का निमित्त हुआ....

किन्तु यह साक्षी, यह ज्ञापना, अपने अपराध के धोने के लिए नहीं है, प्रायश्चित्त के लिए नहीं है। उस प्यार में अपराध भी डूब सकते थे, इतना विशाल था वह....मैं शेखर का अपराध छोटा करके नहीं दिखाता, क्योंकि उसके पीछे शेखर के प्यार की न्मयता थी, उस शेखर की जो मैं हूँ....

चिन्ता, चिन्ता, डर....निश्चय....शशि शायद पहले जान गई थी, किन्तु एक दिन एकाएक शेखर ने जान लिया .. अनदेखी दिखाना शायद उचित या आवश्यक हो, अन-देखी करना क्षम्य नहीं है—कारखाने जाना उसने कई दिन से छोड़ दिया था, अब उसने शशि के पास से हिलना ही छोड़ दिया। उसी कमरे में अपना बिस्तर ले आया, दो घण्टे रात में और एक-डेढ़ घण्टा दिन में कभी अवसर मिलने पर वह सो लेता, नहीं तो निरन्तर शशि के सिरहाने निश्चल बैठा रहता। वह जागती तो उसका माथा या छाती पर पड़ा हुआ हाथ सहलाता रहता; सोने लगती तो सिमटकर अचल हो जाता कि बाधक न हो; अनिश्चित तन्द्रा में होती तो एकदम उसका चेहरा देखा करता—और ऐसे देखने के अवसर क्रमशः बढ़ते जाते थे....या कभी शशि उसे आराम करने को कहती, तो अपनी चारपाई पर औंधा लेटकर कोहनियाँ टेककर और हथेलियों पर ठोढ़ी जमाकर उसे देखा करता....

रोगी की शुश्रूषा एक विज्ञान है, बुद्धि पर आश्रित है, उसमें भावना के लिए स्थान नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त लोग उस भारतीय माँ पर हँसते हैं, जो रोगी बच्चे को डाक्टर के पास नहीं ले जाती, छाती से चिपटाकर रात भर सुन्न बैठी रहती है .. निरा प्रवृत्तिजन्य प्रेम—पशु-माता की आहत शिशु के लिए निर्बुद्धि व्याकुलता—ये वैज्ञानिक शुश्रूषा नहीं है; पर प्राणी को प्राणी की पुकार भी एक औषध है, जो एकमात्र औषध नहीं है, पर अनिवार्य तो है—कम-से-कम विज्ञान-सी अनिवार्य—धमनी के स्पन्दन-सी अनिवार्य....और जहाँ विज्ञान अपनी लाचारी जानता है, वहाँ इस मूल वृत्ति की शक्ति ही एक शक्ति है, जो लाचार नहीं है—मृत्यु के आगे भी नहीं; क्योंकि मृत्यु सबसे पहले मृत्यु-भय है, और प्यार के वातावरण से घिरे हुए प्राण को वह भय छू नहीं पाता....

डाक्टर दिन में दो बार आते, दवा दे जाते या भेज देते, शेखर के दल के दो युवक बारी-बारी से खाना पहुँचा जाते और समाचार पूछ जाते, कभी बाहर के समाचार बता जाते, जो शेखर के मन में बैठकर भी न बैठते, क्योंकि वहाँ उनके लिए स्थान न होता....

शेखर बहुत कम बोलता, शशि लगभग बिलकुल नहीं बोलती, केवल जब-तब आँखों से एक आश्वासन का संदेशा शेखर को दे देती....रोग के प्रत्येक नए आक्रमण के बाद—जब कम्पन के बाद ज्वर और ज्वर के बाद प्रस्वेद और शिथिलता का एक चक्र पूरा हो जाता—जब शशि के क्लान्त हाथ उसके वक्ष पर पड़े-पड़े काँप-से जाते, उँगलियाँ सकुचकर खुल जातीं और बन्द आँखों पर पलकें सिकुड़कर फिर पूर्ववत् हो आतीं, तब शेखर को ध्यान आता कि शशि को प्रसन्न रखने के लिए और पीड़ा से उसका ध्यान हटाने के लिए कुछ मनोरंजक बातचीत करना आवश्यक है। वह यत्न करता कि कुछ ऐसी बात करे, पर उसका मन सूना हो जाता, मनोरंजक कोई बात ही उसे न सूझती। तब वह टटोलकर शशि का हाथ पकड़ लेता और धीरे से कहता, "शशि, घबरा मत, मैं तेरे पास हूँ—" शशि आँखें खोलकर एक बार उसकी ओर देख लेती; उस दृष्टि में बड़ी हल्की-सी हँसती करुणा होती—"मैं घबराती हूँ? तू मत डर, मैं तेरे पास हूँ...."

और इस प्रकार दीप की बाती चुकती जाती, पर शेखर बैठा, आलोक को देखता जाता....

रात लम्बी थी, पर बीत चली थी; अँगीठी बुझ गई थी, शेखर जागता था....

शशि ने धीरे से पुकारा, "शेखर—"

शेखर उसकी ओर झुक गया कि शशि की बात अच्छी तरह सुन ले, कुछ उसे दोहराना न पड़े।

"शेखर—अलमारी में—चिट्ठी।"

आशय समझकर शेखर ने अलमारी खोली, निचले खाने में मोड़कर रखे हुए कई एक पन्ने निकाले और पूछा, "यह पत्र कहीं भेजना या किसी को देना चाहती हो?"

आँख की झपकी, कि हाँ।

"किसे—मैं भेज दूँगा—"

आँखें शेखर पर स्थिर, ओठ धीरे से खुलते हैं, "पढ़ो।"

न जाने किसे शशि ने पत्र लिखा है—क्या पढ़ना उचित है? दुविधा में वह पन्ने खोलता है, अटकते हुए पहली पंक्ति पढ़ता है (—क्या शशि ने रामेश्वर को लिखा है—कैसे लिख सकती है—) कि एक बिजली उसके शरीर में दौड़ जाती है, इतना अन्धा वह कैसे हो सका....शशि ने उसे लिखा है, शेखर को—शेखर को!

इस ज्ञान तक पहुँचकर शेखर रुक गया, उसका हाथ काँपने लगा, आगे न पढ़कर उसने दृष्टि शशि पर टिकाई—

"नहीं, पीछे नहीं, अभी—"

एक साँस में शेखर पढ़ गया—इतनी जल्दी पढ़ने से उसका अभिप्राय कम समझ में आया हो, सो नहीं, उसके शब्द—वाक्य के वाक्य तपी हुई धातु की तरह उसकी चेतना को दाग गए और उसके कानों में गूँजने लगे....साथ-साथ घटनाएँ भी घटने लगीं, उन घटनाओं में शेखर अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ भागी था, पर वह गूँज भी साथ-साथ

थी, मानो दो जीवन साथ-साथ जिए जा रहे हों, एक तीव्र क्योंकि वह तत्काल का जीवन है, दूसरा तीव्रतर, क्योंकि वह तत्क्षण से पिछड़ा हुआ था और उस क्षण को पकड़ लेना चाहता है....

'....तुम कुछ ही घण्टों के लिए गए थे, लौट आए; पर इतनी देर में मैंने कितनी वार तुम्हें खोया और पाया, विसर्जन किया और फिर अपने हाथों बना खड़ा किया.... तुम्हारे स्नेह को मैं क्षण भर भी नहीं भूली, शेखर, पर जब क्षण का उद्वेग चला गया तब मैंने तुम्हारे स्नेह से भी बड़ा कुछ देखा, शेखर, तुम्हारा भवितव्य। स्नेह से बड़ा इसलिए कहती हूँ कि वह स्नेह उसका एक अंग है....उस क्षण की मैं कृतज्ञ हूँ....

'शेखर, यह पत्र तुम्हें लिख रही हूँ कि तुम मेरे बाद पढ़ो—बाद में जब तुम पढ़ोगे तब शायद पूछोगे कि शशि ने यह सब मुझे पहले क्यों न बताया, जब यह इतना तीखा अभिशाप न होता—पर यही ठीक है शेखर....यदि मुझे बहुत जीना होता, तब और बात थी, पर उस स्पष्ट दृष्टि में यह भी देखा कि कुछ दिन ही और बाकी हैं....इसी-लिए अब भी इस पत्र में अपने प्यार की बात नहीं करूँगी—जो चला गया है, उसका प्यार केवल वेदना है, और वेदना को चुप रहना चाहिए....केवल तुम्हारे प्यार की बात करूँगी....

'प्यार कला भी हो सकता है, शेखर; वह आदर्श बुरा नहीं है, कल्याणकर है, मैं मानूँगी; पर मेरे लिए वह कला से भी अधिक अन्तरंग और जरूरी हो गया था—इसे अहंकार से नहीं कहती, अपनी लाचारी मानती हूँ....कला का आनन्द संयत आनन्द है, मैंने अपना समूचा व्यक्तित्व, समूचा इह एक ही वार स्रुवा में भरकर उँडेल दिया—वह संयत नहीं था, इसीलिए शायद—आनन्द भी नहीं हुआ—यद्यपि इतनी बड़ी वेदना हुई कि उसे ट्रेजेडी भी नहीं कह सकती।....

'एक बार मैंने मान से कहा था, "क्या मेरे लिए लिख सकते हो?" तुमने कहा था कि आदर्श पर्याप्त नहीं है, आदर्शों का एक स्थूल प्रतीक चाहिए; और तब मैं प्रतीक बनने को आ खड़ी हुई थी....शेखर, उसमें अहंकार नहीं था—यह दावा नहीं था कि मैं तुम्हारे जीवन का अथ और इति हूँ—अपने को अन्त मानने का दुस्साहस मैंने नहीं किया.... केवल इतना था कि अपना जीवन नष्ट करके—होम कर देकर, राख कर देकर—मैंने माँगा था, चाहा था, कि वह तुममें फलित हो, तुममें अपनी सिद्धि पाए। तुम हो गए थे प्रतीक, मेरे लिए मेरे अपने जीवन के प्रतीक—हमारे आस-पास हहराते हुए वैफल्य और कुण्ठा और निराशा और खण्डन के सागर में मेरे अवस्थान के, मेरे संतरण के प्रतीक.... इसीलिए मैंने कहा था कि मेरे लिए लिखो—तुम्हारे जीवन में आशा देने के लिए नहीं, तुमसे आशा माँगने के लिए....

'तुमने मुझे जो दिया, वह मैंने कृतज्ञ होकर स्वीकार किया—वर मानकर, अधिकार मानकर नहीं, यह कल्पना मैंने नहीं की कि मैं उसे सदा के लिए बाँध रखूँगी। तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योंकि मेरा खण्डित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग

पाता है—तुम्हारे द्वारा, और तुम्हारे लिए मैं जो स्वप्न देखती हूँ उनके द्वारा; किन्तु मैं जानती हूँ, देखती हूँ, कि तुम खण्डित नहीं हो, और इसलिए मेरा निश्चय है कि जहाँ तक मेरा वश है, वह मेरा प्यार नहीं होगा, जो तुम्हें बन्दी बनाने का यत्न करेगा.... शेखर, मेरा तुम पर अगाध स्नेह है, पर मैं चाहती हूँ कि तुम जानो कि मैंने तुम्हें बाँधा नहीं, बाँधती नहीं—न अब, जब मैं हूँ, और न—पीछे....

'तुम्हारा अपना भविष्य है, शेखर; मेरा भविष्य तुम और केवल तुम थे। उस अपने भविष्य की खोज में यदि—'

शेखर शशि की ओर देखता है कि यह सब अभी तुम्हारे सामने पढ़ना अनिवार्य है या—पर देखता है, उस पत्र से भी कुछ अधिक, तात्कालिक शशि की आँखें कह रही हैं, वह उसके बहुत पास चला आता है; शशि के ओठ कुछ कहना चाहते हैं, पर निश्शब्द हैं, शायद निश्शब्द ही कुछ कहना चाहते हैं—शेखर उन पर अपने ओठ रख देता है और उनका कम्पन स्थिर हो जाता है, शेखर शशि की आँखों से आँखें मिलाता है और धीरे-धीरे उठता है—जानता है कि शशि की बात उसने सुन ली, चूमे जाने भर की क्षमता उन ओठों में शेष थी—उसके बाद और शब्द नहीं, केवल स्नायविक कम्पन, जिन्हें मानो वश करने का उद्योग संकल्पना धीरे-धीरे व्यर्थ मानकर छोड़ देती है—सब तनाव और खिंचाव और कर्षणों के एक परम शमन में—

'उस अपने भविष्य की खोज में यदि तुम्हें मेरी याद आए तो अपने को इसलिए अपराधी मत ठहराना कि मेरे बिना तुम अकेले आगे चल सके; तुम चल सके, यह मेरी पराजय नहीं, मेरी अन्तिम विजय होगी....'

शशि का सारा शरीर निःस्पन्द जड़ हो गया था, सिवाय आँखों के—

'कभी, एक दिन, एक क्षण भर के आदर्श माने जाने का सौभाग्य हर किसी को मिल जाता है; पर चिरन्तन आदर्श कोई नहीं है, न हो सकता है। इसलिए जो अपने प्रिय के प्रति 'चिरन्तन' सच्चा है, वह अवश्य किसी आदर्श से च्युत है, और जो आदर्श के प्रति निष्ठावान् है, वह अवश्य, कभी न कभी प्रिय को झर जाने देगा....साधारण मानव और कलाकार—विद्रोही में यही अन्तर है....मैं नहीं चाहती कि तुम मानव कम होओ, शेखर, किन्तु अगर तुममें उसकी क्षमता है, तो उससे बड़े होने की अनुमति—स्वाधीनता मैं तुम्हें सहर्ष देती हूँ....'

आँखें शशि की मरी नहीं; उनके भीतर का उदार निर्भय आलोक, समिधा चुक गई देखकर अपने भीतर तिरोभूत हो गया....

'हम दोनों वर्षों से एक भवन बनाते रहे हैं, तुम और मैं, जिसमें न तुम रहोगे, न मैं....किन्तु हम उसमें नहीं रहेंगे, इसी मात्र से वह कम सुन्दर नहीं होगा....'

इस प्रशान्ति में, सिमटे हुए आलोक में भी क्या क्रन्दन है; चीत्कार है? स्तम्भ-प्राण शेखर का देह-यन्त्र खिड़की की ओर बढ़ा, खिड़की खुल गई, दिन का प्रकाश भीतर भर

आया....शेखर ने मुड़कर देखा, लाल किरणों से घुलकर शशि का चेहरा जीवन के रंग से चमक उठा था....

शेखर ठिठका रह गया—स्तब्ध, किसी अतिमानवी अलौकिक परिव्याप्ति के बोध से आप्लावित, किसी अन्तर्भव सत्य के उदय का प्रतीक्षमाण....

सहसा ज्ञान आया....



किन्तु इससे आगे कहानी नहीं है, अनुक्रम नहीं है। जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था, गति सब-कुछ खो दिया है। निरा अस्तित्व—एक क्षण से दूसरे क्षण तक एक अणु-पुंज का बने रहना—वह भी मिट गया है। मैं एक छाया हूँ, एक स्वप्न, एक निराकार आक्रोश, एक वियोग, एक रहस्य....भावना से भावना तक भटकता हुआ एक विचार—हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला में झुलसता हुआ, जल उठता हुआ, निरन्तर उठता हुआ, उठता हुआ न, बुझता हुआ, न मरता हुआ....

मृत्यु, तू भी तो छाया है—ग्रस ले इस छाया को यदि सकत है तुझमें—यदि साहस है....मशाल को तोड़ दे, कुचल दे, मटियामेट कर दे—देह मशाल है और उसे एक दिन जलकर मिटना ही है, पर उसकी लौ तो ऊपर उठती है,—वह, और वह, और वह—तेरे चंगुल से परे, तुझे चुनौती देती हुई, अक्षय, मुक्त....

ग्रस उसे, छू उसे, यदि सकत है तुझमें, यदि साहस है....



एक युवक आया।

लाहौर से दादा ने दस्ती चिट्ठी भेजकर शेखर से अपील की थी कि अगर हो सके तो वह लाहौर आ जाए—दल के कुछ सदस्य जो बन्दी थे, कुछ दिनों बाद काले पानी भेजे जानेवाले हैं; यदि स्वाधीनता के आन्दोलन को जीवित रखना है, तो इस जीवित समाधि से उन्हें बचाना आवश्यक है, और इस कार्य में शेखर का सहयोग अनिवार्य है.... शशि की तबीयत कैसी है, वे नहीं जानते, पर वे उसकी देखरेख और चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध करने को तैयार हैं—

युवक ने समवेदना के स्वर में कहा, "दादा ने चिट्ठी दी तब वे नहीं जानते थे.... आपको गहरा आघात पहुँचा है....पर आप चलिए, काम में आपको सान्त्वना मिलेगी, और काम बड़ी तपस्या का है...यदि शशि बहिन होतीं तो वे ज़रूर यही कहतीं—और मेरा विश्वास है कि अब भी इससे उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी—"

शेखर ने पहले सुना नहीं था, अन्तिम वाक्य सुना; चाहा कि एक थप्पड़ मार दे इस युवक के मुँह पर, जो इतनी आसानी से बात कर सकता है; फिर कहा केवल इतना कि 'यह सब सँभालना होगा—और कारखाना—'

प्रणाम, यमुना ; प्रणाम, पूर्वदिशा ; प्रणाम, वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल; प्रणाम, झाऊ के उदास मर्मर और धूल के बगूले ; प्रणाम, दो पैरों से लाख बार रौंदे हुए रेतीले नदी तट ; प्रणाम, बही हुई मुट्ठी भर राख....मैं सोचता था, कि यदि ऐसा न होकर वैसा होता, और वैसा होता, और वैसा होता, तो....पर आज सोचता हूँ कि नहीं, आज लगभग माँग रहा हूँ कि यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो ; छाया, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग पर सदा एक-दूसरे की ओर अग्रसर होने में सचेष्ट, साधारण अभिधा में ग़ैर, पर वास्तव में अखण्ड विश्वास में बँधे, धमनी के एक....

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास, फिर—आगे ; कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि कर्म में तुम हो, चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन क्योंकि मुक्त और—मोक्षदा....

...। लेकिन ये अभियोग लगाए जा रहे हैं, और हमारे पास साधन नहीं हैं कि हम ...करें। इन साधनों को पाना अधिकार है, और वह अधिकार हमें नहीं मिल रहा...."

बाबा जँगले के पास आ गए। भिची हुई मुट्ठी शेखर की ओर उठाकर उन्होंने कहा, ...सता—एकदम घृणित परवशता—और किसे कहते हैं ? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, ...त्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को, जिसमें हम सत्य और ...त्य को जानने में असमर्थ हो जाते हैं; दासता है वह बन्धन, वह मनाही, जो हमारा ...न माँगने का अधिकार छीन लेती है...."

एकाएक वे रुक गए। "यह बात शायद मैं पहले कह चुका हूँ—इसका अनुभव किए मुझे एक वर्ष हो गया।" वे एक खोखली हँसी हँसे। "एक साल पहले जानी हुई बात आज सत्य बनकर चुभती है, और मैं बँधा हुआ हूँ!" बाबा की साँस फूल गई थी। दो-तीन लम्बी साँसें खींच उन्होंने फिर कहा, "शेखर, चटगाँव हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर कलंक है। यही मेरी समझ में क्रांति का प्रमाण है—उसके लिए चारित्र्य की आवश्यकता है, वह चारित्र्य बनाती है—और उससे बड़ी चीज क्या है ? हमें चारित्र्य चाहिए, तो हमें क्रांति चाहिए ! क्रांति ! और मैं बँधा हुआ हूँ..."

बाबा खड्डी पर लौट गए। फीके स्वर में बोले, "शेखर, तुम जाओ। मेरा मन ठीक नहीं है। मैंने चाहा था, तुम मुझे हँसता ही देखो—संसार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं, जो अभिमान से भी बड़े हों। यही मैं आज सीख रहा हूँ—अच्छा हुआ कि इतना तीखा दर्द मुझे मिला ! जाओ।"

शेखर चुपचाप, सहमा हुआ और रोमांचित अपनी कोठरी में लौट आया।

तीसरे दिन शाम को बाबा की हालत बहुत खराब हो गई। डाक्टर ने अस्पताल में ले जाना चाहा, पर बाबा ने कहा, "एक दिन के लिए वहाँ नहीं जाऊँगा। मैंने अपने जीवन का उत्तम अंश कोठरी में बिताया है, अब सबसे महत्व का दिन कहीं और बिताने नहीं जाऊँगा।" कोई और होता तो जबरदस्ती ले जाते, बाबा से जबरदस्ती करने का साहस किसी में नहीं था। डाक्टर एक वार्डर की ड्यूटी वहाँ लगवाकर चले गए, एक वार रात में भी आकर देख गए।

शेखर को समाचार कोठरी में बन्द होने के बाद मिला था। जेल में बाबा का कितना आदर था, यह उसने तभी जाना। उस रात जैसा सन्नाटा उसने जेल में नहीं देखा था—बाबा की बीमारी की खबर कानों-कान फैल गई थी, और नम्बरदार लोग 'स... अच्छा !' भी धीमे, सहमे-से स्वर में पुकार रहे थे....

'एक दिन के लिए'....'सबसे महत्व का दिन'....सचमुच ? शेखर के भीतर प्रा... का भाव उमड़ आया....

•

सवेरे कोठरी खाली हो गई।

जब कोठरियाँ खुलीं, तब बाबा का शरीर हटाया जा चुका था। कोठरियाँ खुलने में देर होती देखकर शेखर ने वार्डर से पूछा था, 'क्या आज कोई फाँसी है?' क्योंकि ऐसे ही दिनों खुलने में देर होती थी।

"नहीं।" वार्डर हिचकिचाकर रुक गया था।

"तब?" और फिर एकाएक भय से प्रकाश पाकर, "क्या बाबा—"

वार्डर बोला नहीं था....

शेखर दौड़ा हुआ बाबा की कोठरी की ओर गया, जैसे कोई भक्त भूकम्प से ध्वस्त मन्दिर की ओर जाता है....

कोई कह रहा था,...."रात में उठ बैठे, घण्टा भर रोते रहे। फिर दीवार से सटकर खड़े रहे, और फिर आकर लेट गए और बोले, 'अब बस!' बस—"

यह रात की ड्यूटीवाला वार्डर था। शेखर लड़खकर कोठरी के भीतर घुसा....हाँ, उसका अनुमान ठीक था, दीवार पर काँपते अक्षरों में एक नया लेख था....

"अन्तिम सूत्र—अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है...."

बाबा के पैर छूने में शेखर ने अपमान समझा था, उसके लिए अपने को कोसते हुए उसने उस अन्तिम सूत्र पर माथा टेक दिया, फिर आँखों में आए हुए दो बड़े-बड़े आँसुओं का निर्लज्ज-भाव वार्डरों को दिखाता हुआ कोठरी में चला गया—

दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है....



बेहूदे दिन....

मुकदमा समाप्त हो गया था। सफ़ाई की काफ़ी-सी तय्यारी करने के बाद एकाएक यह परिणाम निकला कि सफ़ाई देना व्यर्थ है। वादी पक्ष कमज़ोर हो, तो प्रतिवाद से लाभ नहीं होता, हानि हो सकती है। केवल विद्याभूषण के लिए कुछ गवाहियाँ पेश की गई थीं; और उन सबके बयान एक ही दिन में हो गए थे क्योंकि जिरह नहीं की गई थी....वकीलों की तू-तू मैं-मैं भी हो गई थी जिसे बहस कहते हैं।

"अब मैं फ़ैसला ही सुनाऊँगा....उसकी तारीख़ फिर तय की जाएगी, अभी आरज़ी तौर पर तारीख़ डाल देता हूँ।" और हाकिम ने मुकदमे की अवधि तेरह दिन और बढ़ा दी थी....

वे दिन बीतते नहीं थे। यह नहीं कि फ़ैसले के बारे में बहुत अधिक चिन्ता या उत्कण्ठा थी, पर इस प्रकार आकाश में लटके रहना....मुकदमा समाप्त हो चुका है, फ़ैसले के लिए जो कुछ आधार होगा, वह सामने आ चुका है, शायद हाकिम ने मन-ही-मन फ़ैसला कर भी लिया है। अब केवल जानने की देर है, और इसके लिए तेरह दिन

ठ रहना होगा ! नहीं तेरह दिन बाद तो यही विदित होगा कि फैसला किस दिन सुनाया जाएगा....

अन्त में तेरहवाँ दिन आया....पर दुपहर हो गई, अदालत जाने के लिए बुलाहट नहीं आयी। शेखर ने समझ लिया, हाकिम ने उन्हें बुलाए बिना तारीख़ डाल दी होगी, अपने-आप पता चल जाएगा। वह लेटकर सोचने लगा, सोचते-सोचते सो गया।

"बाबूजी, बाबूजी ? आपको दफ्तर में बुलाया है।"

शेखर हड़बड़ाकर उठा। "किसने बुलाया है ?"

"दारोग़ा साहब ने।"

"मुलाक़ात है ?"

"नहीं, दफ्तर में बुलाया है। पेशी है।"

"कैसी पेशी ?" कहकर शेखर वार्डर के साथ चल पड़ा।

दफ्तर पहुँचकर मालूम हुआ कि मुकदमे का फैसला सुना दिया गया है। शेखर के बारे में मजिस्ट्रेट की राय है कि उसके विरुद्ध गवाही इतनी दृढ़ नहीं है कि सज़ा दी जा सके, यद्यपि सन्देह बहुत अधिक होता है। किन्तु अगर प्रमाण अकाट्य भी होता, तो भी शायद जितनी क़ैद वह भुगत चुका है, वह पर्याप्त होती, इसीलिए उसे छोड़ा जाता है।

बेजान-से स्वर में दारोग़ा ने कहा, "बधाई है। आप अब आज़ाद हैं। दफ्तर से अपना सामान वग़ैरह ले लीजिए।"

"और बाकी लोग ? पूरा फैसला तो सुनाइए—"

"विद्याभूषण को एक वर्ष; सन्तराम और केवलराम को छः-छः महीने, हंसराज रिहा हो गया है।"

"मैं उनसे मिल नहीं सकता ?"

दारोग़ा ज़ोर से हँसे। "आपने सुना नहीं, जेल की यारी क्या होती है ? क़ैदियों से भी कोई मिलता है ?"

"तो आप नहीं मिलने देंगे ?"

"वे अब क़ैदी हैं। तीन महीने में एक मुलाक़ात कर सकते हैं। आप दरख़ास्त दे सकते हैं; पर आप मिलेंगे तो तीन महीने तक वे दूसरी मुलाकात नहीं कर सकेंगे। इसके लिए वे आपके शुक्रमन्द नहीं होंगे।"

"और हंसराज ?"

"उसे एक घण्टा पहले रिहा कर दिया गया है।"

शेखर चुपचाप दफ्तर में चला गया।

•

दस महीने नष्ट....

उदास भाव से शेखर दफ़्तर की कार्रवाई समाप्त करने के बाद ड्योढ़ी का फाटक खुलने की प्रतीक्षा में खड़ा था। उसे लेने कोई नहीं आया था—किसी को ख़बर नहीं दी। वकील को दी होगी, पर वे अभी काम में व्यस्त होंगे....अकेला ही वह बाहर निकलेगा, अकेला और उदास—जीवन के बड़े-बड़े दस महीने नष्ट करके....

नष्ट? बाबा मदनसिंह ने इक्कीस वर्ष यहाँ बिताए थे, और उसके बाद भी लिख गए थे कि दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है....इस एक बात को जानने में दस महीने सफल हो जाते—और उसने बाबा मदनसिंह को जाना था, मोहसिन को जाना था, रामजी को जाना था, स्वयं अपने को जाना था...नष्ट? मूढ़तम शेखर...

दस दीर्घ यातनाक्रान्त महीने....बन्धनों का अन्त—जिज्ञासाओं का अन्त—जीवन, केवल जीवन, विस्तृत और अबाध जीवन....

किन्तु जब फाटक खड़खड़ाकर खुलने लगा, बाहर का दृश्य उसके सामने आ गया, ठीक उसी के सामने, बिना सीखचों की ओट लिये, तब एकाएक उसे अपनी बात पर सन्देह हो आया। बन्धनों का अन्त? जिज्ञासा का अन्त? शेखर को बहुत पहले पढ़ी हुई कविता की दो पंक्तियाँ याद आईं—

Peace, peace, such a small lamp
illumines, on this highway.
So dimly, so few steps infront of my feet*

अभी कुछ जानने को है अभी, अभी कुछ काट गिराने को है....

और शान्ति?

सहारे के लिए केवल एक छोटी-सी बात—पर बाबा ने लिखा था, अन्तिम सूत्र... उन्हीं के लिए अन्तिम, या मानव-मात्र के लिए अन्तिम?....

फाटक उसके पीछे बन्द हो गए थे। वह मुक्त था।

"अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है...."

---

*शान्ति, शान्ति! इस राजमार्ग पर केवल एक छोटा-सा दीप
आलोकित करता है—
इतने धुँधले प्रकाश से इतने थोड़े-से कदम मेरे चरणों के आगे...

तृतीय खंड

शशि और शेखर

क्या बाबा मदनसिंह का स्वर है यह, जिसकी गूँज मेरे कानों में है? क्या यह अक्षुण्ण गरिष्ठ स्वर उसी वीर का है, जिसकी निर्बलता भी उसके स्वर से गौरव-युक्त हो जाती थी?

"अपने विचारों को इस चारदीवारी से बाहर मत भटकने दो। अपने सगों का विचार करके तुम उनकी यातना नहीं घटा सकते, न उन्हें कोई सुख पहुँचा सकते हो। उलटे हर समय उनके क्लेश की याद से तुम अपनी दृढ़ता की नींव खोद रहे हो!"

क्या यह सच है? नहीं, यह बाबा का स्वर नहीं हो सकता—बाबा का ज्ञान इससे बड़ा था! तब क्या है यह? मेरा अहंकार है?

अतीत से मेरी दृढ़ता घटती नहीं, बढ़ती है, क्योंकि जितना ही मैं उसे देखता हूँ, उतना ही मैं उसके भीतर की अनिवार्यता को पहचानता हूँ—जानता हूँ कि आज वह 'भूत' इसलिए है कि एक दिन वह भविष्य—अवश्यं भवितव्य—था....मैं जानता हूँ कि मुझे लड़ना होगा, लड़ते जाना होगा, कि लड़ाई से होनेवाले क्लेश के कारण रुक जाना उस क्लेश और अन्याय और महायातना को स्थायी बनाना है, जो पहले से मौजूद है....

लेकिन वह गम्भीर स्वर मुझसे सहमत भी होता है,—पुनः-पुनः झनक उठता है, "बन्दी, एक दिन आएगा जब तुम आज की इस यातना के गौरव के लिए अपनी दाहिनी भुजा देने को तय्यार होगे—इतना बड़ा है यह गौरव—"

क्यों? क्या मैं आज भी तय्यार नहीं हूँ? क्या मैं आज भी केवल एक भुजा नहीं, अपना सिर भी देने को तय्यार नहीं हूँ?

वह स्वर हँसता है। "सिर? सिर तो तुम्हारा दे दिया गया!"

किन्तु क्या यह स्वर सच है? क्या यह आत्मरक्षा का एक साधन नहीं है? क्या यह यातना सचमुच गौरव है, क्या वह सचमुच गौरव नहीं होता, जिसकी याद का मन्त्र ही मुझे ऐसा बता देता है कि मैं बहुत योग्य हूँ? यदि मैं 'साधारण' मानव ही होता, अफसरों का और हस्ताक्षर माँगनेवालों का और सिपाहियों का और साम्राज्य-सत्ता का खिलौना न होता, केवल जीने और रहने और मरने की स्वच्छन्दता अकिंचन परम्परा में प्यार पा और दे सकनेवाला एक 'कोई,' तो क्या सचमुच उसका गौरव बहुत कम होता?

तुम्हारा जाना भी भवितव्य था या नहीं, शशि, मैं नहीं जानता, पर तुम चली तो गई हो; और मुझे यह मानने में शर्म नहीं कि तुम न गई होतीं तो—तो...

पर नहीं, परिताप कैसे हो सकता? तुम्हीं होतीं, तो परिताप को अवसर किस बात के लिए होता!

...ो गया ।

●

फाटक के बाहर खड़ा होकर शेखर कुछ क्षणों के लिए ...
क्षण भर तो उसे ऐसा लगा, मानो वह फिर जेल लौट जाना चाहता है, बाहर आने में उसकी अनिच्छा है। फिर उसने अपने पैरों को बाध्य किया कि वे आगे बढ़ें। एक-एक मंजिल नाँघता हुआ वह मानो अपने को चलता रखने के लिए अपने को याद दिलाता जाता, 'यह तुम क्वार्टरों से आगे निकल आए।' 'यह मुर्दाघर पीछे रह गया।' 'यह लुहार-हाता भी निकल गया।' 'यह बाहर का जँगला है और यह फाटक, और अब तुम सड़क पर हो।' 'वह सड़क का मोड़ है।'

मोड़ पर वह फिर क्षण भर रुका; फिर अनिश्चय की, अनिच्छा की एक रगड़ उसके हृदय को छीलती चली गई। साथ ही उसने जान लिया कि वह अनिच्छा लौटने की इच्छा नहीं है, वह उधर बढ़ने का डर है, जिधर वह जा रहा है।

वह कहाँ जाए? कालेज? स्वप्नवत् एक दृश्य उसके आगे दौड़ गया—लड़कों की भीड़ शेखर को घेरे है, कुछ उसे कन्धों पर उठाना चाहते हैं, और हल्ला हो रहा है—जिन्दाबाद! शेखर! इन्कलाब! और उसके तत्काल बाद एक दूसरा चित्र—टिकटी पर मोहसिन नंगा बँधा हुआ है, और उसके चूतड़ों की चिर्रियों से खून बह रहा है। नहीं, कालेज में उसके लिए स्थान नहीं है—और दस मास बाद क्या उसका नाम खाते पर होगा?

डरते-डरते उसका मन फिर उधर को बढ़ने लगा, जिधर से अनिच्छा का सोता फूटा था—शशि के घर? "उस शशि को आशीर्वाद, जो आज तक तुम्हारी बहिन थी....उस पद से तुम्हें अन्तिम बार प्रणाम करती है...." क्या मैं उसे जानता हूँ? क्या वह बदल नहीं गई है, क्या वह चली नहीं गई है—क्या 'शादी के बाद रमा अपने घर चली गई,' वाली बात उसके लिए भी वैसी ही दुर्निवार सच नहीं हो गई, जैसी एक दिन पहले भी शेखर के जीवन में हुई थी?

नहीं, नहीं, नहीं! यह मेरी नीचता है!

और अपने को दिलासा देने के लिए शेखर ने हठात् बाबा का वाक्य याद किया—'दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है'—क्या मुझमें विश्वास की कमी है?

वह आगे चल पड़ा। लेकिन कदम उठाने की प्रेरणा के साथ ही उसने जान ... कि वह शशि के घर की ओर नहीं उठ रहा है।

●

वह नहीं समझ सका कि क्यों उसके पैर उसे इस प्रोफ़ेसर के घर ले आ... प्रोफ़ेसर हीथ से उसकी कभी विशेष घनिष्ठता नहीं हुई थी, और इस समय को... नहीं था कि वह उधर आकर्षित हो—प्रोफ़ेसर हीथ अँगरेज थे और शेखर ने ...

से बृटिश मध्यवर्ग के आदमी का जो खाका खींचा था, वह उन पर बहुत ठीक उतरता था। सामाजिक अलगाव, रूढ़ि-बद्धता, रीति-व्यवहार के कड़े बन्धनों के नीचे घिरी हुई शर्मिन्दा-सी भावुकता—शेखर ने समझ रखा था कि ये सब बातें प्रोफ़ेसर हीथ में पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। इस समय उनसे मिलने में उसके बिखरे हुए मन को एकाग्र होने के लिए काफ़ी ज़ोर लगाना पड़ेगा—शायद वह उसके लिए असमर्थ होकर बुद्धू बने....पर क्या यहीं इस विवश एकाग्रता के लिए ही तो नहीं वह ऊपर जा रहा था? एकाग्र होने को बाध्य होना एक सामाजिक लड़ाई के लिए बाध्य होना है, और उसकी डरी हुई आत्मा लड़ाई से ही तो भागना चाहती है....

प्रोफ़ेसर साहब उसे सीढ़ियों पर से मिले। उनके चेहरे का पहला विस्मय-भाव फ़ौरन ही प्रसन्नता में परिणत हो गया—"हेलो शेखर! तुम आ गए?" और उसके कुछ कहने से पहले, "बिलकुल बरी हो न—कोई झंझट बाकी तो नहीं है?"

हाथ मिलाकर शेखर ने हाथ खींच लिया, पर उसके चेहरे की मुस्कराहट बनी रही। "जी हाँ, कोई झंझट बाकी नहीं है। सब कुछ—पूर्ववत् हो गया है।" एक छाया उसके अन्तर्पट पर दौड़ गई—क्या सचमुच? और शशि....

"अच्छा, तो तुम भीतर बैठोगे न? मैं एक क्लास लेने जा रहा हूँ—मुझे भी झंझट घिर आ पड़ी थी—चाय तो यहीं पियोगे न—ज़रूर मेरे साथ पीना—भीतर पुस्तकें बहुत हैं—और चित्र—"

"धन्यवाद; मैं केवल मिलने आया था; फिर मिलूँगा—"

"नहीं, चाय तो तुम्हें पीनी होगी—" शेखर के चेहरे पर विकलता का भाव देखकर, "क्या दूसरा काम है? तो फिर चाय के समय तक लौट आना—हाँ, तुम्हारी रिहाई कब हुई थी?"

शेखर ने धीरे-धीरे कहा, "रिहा होकर सीधा यहाँ आ रहा हूँ।"

"एँ—सच? तब तो तुम्हें अपने बन्धुओं से मिलना होगा, मैं अन्याय कर रहा हूँ। तुम मिल आओ। चाय पर अवश्य आना—"

प्रोफ़ेसर के साथ उतरता हुआ शेखर एक खोखली मुस्कान लेकर रह गया। नीचे उतरने के बाद वे जब चाय का न्योता दुहराकर चले गए, तब वह मुस्कान हँसी में फूट निकली—'बन्धुओं से मिलना!' शेखर ने ऐसा मुँह बनाया, जैसे कोई कड़वी वस्तु खा गया हो।

●

शेखर के चचा तिमंजले पर रहते थे। सीढ़ियाँ चढ़ने में शेखर को कम आत्मग्लानि नहीं हुई थी, और उन तंग सीढ़ियों पर उसको इतना लगता था कि आत्मग्लानि की चरम सीमा तक पहुँचा जा सकता था... शेखर का साहस—नहीं, साहस की कमी से पैदा हुई वाञ्छा—ऊपर पहुँचते-पहुँचते मुरझा गई थी। बन्द किवाड़ की साँकल पर हाथ रखकर वह क्षण भर रुका रहा।

मुझमें और इस डाक विभाग के इन्स्पेक्टर चचा में क्या साम्य, क्या सम्बन्ध है ? शेखर को याद आया, एक बार गर्मियों के दिनों में कालेज में वह बीमार हुआ था तो चचा से समाचार जानकर चाची ने एक तोला इमली भिजवाई थी कि इसका शर्वत करके पिए....शेखर यदि मनुष्य न होकर एक बेरिंग चिट्ठी होता, तो चचा को उसमें अधिक दिलचस्पी हो सकती—वर्ना शेखर उनकी दुनिया के बाहर की वस्तु था....उसका हाथ कुण्डे पर से उठ गया और वह दबे पाँव नीचे उतर गया।

शशि का घर वहाँ से बहुत दूर नहीं होना चाहिए—पते से शेखर ने ऐसा अनुमान लगाया, पर वहाँ तो जाना नहीं है—और—

क्यों शेखर ने शशि की सब चिट्ठियाँ फाड़ दी थीं ? इस समय उनकी कितनी जरूरत थी उसे—उनकी घनिष्ठता की, उनके प्यार की, उनकी उस समीपता की 'जो अन्तिम प्रणाम कर गई है' ! उफ़ यदि वे पत्र होते, तो शेखर फिर खींच ला सकता उस बीती हुई स्थिति को—

जैसे पत्र कभी प्यार का स्थान ले सकते हैं।

मूर्ख कहीं का !



शेखर समय से पहले नहीं पहुँचा था। किवाड़ खटखटाते ही खुल गया और प्रोफ़ेसर हीथ ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा, "शेखर, तुम्हारे लिए एक सरप्राइज़ रखा है।"

शेखर ने आँख उठाई। परिचय की जरूरत नहीं थी, सामने शेखर का मुकदमा सुननेवाले मजिस्ट्रेट साहब बैठे थे।

मिस्टर बर्नेस ने कहा, "रिहाई पर बधाइयाँ।"

शेखर ने तत्काल उत्तर दिया, "फैसले पर आपको भी बधाई—कम-से-कम फैसले के इस अंश पर !" वातावरण कुछ हल्का हो गया। शेखर बैठ गया, इधर-उधर की बातें होने लगीं। प्रोफ़ेसर हीथ ने बताया कि उन्होंने बर्नेस को भी चाय के लिए निमन्त्रित कर लिया था ताकि बातचीत दिलचस्प हो सके, और वे परस्पर अपने असली भाव व्यक्त कर सकें।

चाय शुरू हुई। बातचीत के सिलसिले में प्रोफ़ेसर ने बर्नेस को बताया कि शेखर लेखक है। "क्या लिखते हैं आप—" बर्नेस ने प्रश्न शुरू ही किया था कि प्रोफ़ेसर ने उत्तर दे दिया, "शेखर प्रायः गल्प लिखता है, कभी कुछ—"

"मैंने पहले ही यही सोचा था।"

शेखर ने कुछ उत्सुक होकर पूछा, "क्यों ?"

"क्योंकि अदालत में आपकी सफ़ाई का बयान गल्प-कला का बढ़िया नमूना था !" कहकर बर्नेस अपने मज़ाक पर खिलखिलाकर हँस पड़े।

मोहसिन के नंगे चूतड़ और बाबा के अन्तिम दिन की मौतें शेखर के आगे नाच गईं ; अपना अपमान उसे दुगना तीव्र होकर चुभ गया, पर उसने ढीठ होकर हँसते हुए कहा, "आपकी साहित्यिक परख का मैं कायल नहीं हो सकता।" मन ही मन निश्चय किया कि वह बदला लेगा।

प्रोफ़ेसर हीथ ने शायद बात टालने के लिए कहा, "शेखर, मैंने सोचा कि तुम दोनों यहाँ होगे, तो एक दूसरे को जानने का अच्छा मौका मिलेगा। प्रायः भारत में भारतीयों और अंगरेज़ों का सम्बन्ध ऐसा रहता है कि हम लोग तकल्लुफ़ में ही रह जाते हैं। मिस्टर बर्नेस को साहित्य में बहुत रुचि है। शतरंज के भी खिलाड़ी हैं। बर्नेस, कभी शेखर को अपने यहाँ बुलाना—" उन्होंने बर्नेस की ओर देखा, वे बोले, "अवश्य ही—"; प्रोफ़ेसर फिर कहने लगे, "और शेखर, तुम अवश्य इनके यहाँ जाना। श्रीमती बर्नेस बड़ी सज्जन हैं और कई दृष्टियों से असाधारण महिला हैं—"

शेखर को रास्ता दीखा। उसने कुछ खिलकर कहा, "मैंने पहले ही यही सोचा था।"

बर्नेस कुछ चौंके, लेकिन उनके मन का प्रश्न व्यक्त हुआ प्रोफ़ेसर के मुँह से—"क्यों?"

"क्योंकि अदालत में मिस्टर बर्नेस को देखकर मुझे ध्यान आया करता था कि यह व्यक्ति किसी असाधारण स्त्री का ही पति होगा।" सन्तुष्ट होकर शेखर कुछ पीछे झुककर आराम से बैठ गया। वातावरण में आये हुए हल्के-से तनाव को दूर करने की इच्छा से प्रोफ़ेसर ने पैंतरा बदला, "शेखर, तुम अंगरेज़ी में क्यों नहीं लिखते?"

शेखर ने कुछ सोचते-से स्वर में कहा, "अंगरेज़ी में....?"

"हाँ, इधर कुछ समय से उधर लोग भारत में काफ़ी दिलचस्पी लेने लगे हैं। यदि भारतीय जीवन के कुछ चित्र कहानी के रूप में अंगरेज़ी पाठक के आगे रखे जाएँ, तो शायद काफ़ी पसन्द किए जाएँ।" कहते-कहते प्रोफ़ेसर ने सम्मति के लिए बर्नेस की ओर देखा।

"हूँ—ऐसी चीज़ों के लिए अमरीका में तो काफ़ी माँग है, पर मेरे ध्यान में हम लोग तो बहुत आकर्षित नहीं हैं। निजी तौर पर मुझे तो बहुत अच्छी लगती हैं, पर हम अंगरेज़ कोई खास पसन्द नहीं करते।"

प्रोफ़ेसर हीथ ने सहमति जताते हुए कहा, "हाँ, हमारे लिए वे कोई महत्त्व नहीं रखतीं—"

शेखर ने प्रोफ़ेसर की ओर उन्मुख होकर पूछा, "वैसे आपका क्या ध्यान है—यानी निजी तौर पर आपका? क्या आपको वे पसन्द आती हैं?"

"हाँ, अवश्य; मैं तो बहुत पसन्द करता हूँ—"

शेखर उठ बैठा। तो यों है बात! ये दोनों ही व्यक्ति किसी वस्तु को चाहते हैं, किन्तु फिर भी कहते हैं, हमें उसमें दिलचस्पी नहीं है, हमारे लिए उसका कोई महत्त्व

चार आदमी हट गए।

"और आप लोग—आप अब भी अनुशासन तोड़ना चाहते हैं?"

"हम सेनापति के पास अपील करना चाहते हैं। हम—"

"अपील दण्ड के बाद में होती है। लेकिन आप कर सकते हैं। अपने स्थान पर जाइए।"

परेड बरख़ास्त कर दी गई। शेखर चुपचाप अपने दफ़्तर की ओर जाता हुआ सोचने लगा, बात बढ़ाना तो वह नहीं चाहता था, लेकिन और चारा क्या था? और कोई अनुचित बात तो उसने नहीं की—

•

वह दफ़्तर में बैठा ही था कि बुलावा आया—सेनापति जी बुलाते हैं।

शेखर ने जाकर सावधान मुद्रा करते हुए एड़ चटकाई और सलाम किया। सेनापति अपने ख़ेमे में गद्दे के सहारे बैठे थे। पास ही दो-एक और उच्च कार्यकर्ता बैठे थे।

"आइए, आइए, बैठिए—क्या बात है?"

शेखर ज्यों का त्यों खड़ा रहा।

"इन दोनों को कुछ शिकायत है।"

"जी हाँ।"

"मामला क्या है?"

शेखर ने संक्षेप में चारों बार की जुए की बात और उस दिन की कार्रवाई बताकर कहा, "इन लोगों को मेरे फ़ैसले पर आपत्ति है।"

सेनापति ने वादियों की ओर उन्मुख होकर कहा, "क्यों भई, जुआ खेलना तो बुरी बात है न, फिर खेलनेवालों को सज़ा तो मिलनी चाहिए—"

"इसकी बात हम नहीं कहते। लेकिन कालेज के दो छात्रों की सरेआम बेइज़्ज़ती करना तो बहुत बुरी बात है। वालंटियरों में बहुत से अनपढ़ देहाती हैं, वे क्या समझेंगे? ऐसे अपमान सहने के लिए हम लोग नहीं आए हैं। यदि आप दख़ल नहीं देंगे तो हम सब..."

अब सेनापति शेखर की ओर उन्मुख होकर बोले, "देखो भई, दस-पन्द्रह दिन की बात होती है। किसी तरह मिल-मिलाकर चलना है। किसी को नाराज़ करने का क्या फ़ायदा? [illegible] ही तो लड़ना है—"

अब शेखर से नहीं रहा गया। रोष से होंठ चबाकर बोला, "[illegible]! आप [illegible] करना चाहते हैं? तब यह सब वर्दियाँ क्यों, [illegible] क्यों, [illegible] क्यों? आप [illegible] [illegible] यहाँ [illegible] और [illegible] [illegible] हैं? [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible]। मैं भी [illegible] [illegible] [illegible]

अगर संगठन है तो अनुशासन है। मैं अपने फ़ैसले को ग़लत नहीं मानता, आप उसे रद्द करें, वह आपकी मर्ज़ी है।"

सेनापति इस आवेश के लिए तैयार नहीं थे। बोले, "आप बहुत गुस्से में मालूम होते हैं—"

"नहीं। मैं क्या कर रहा हूँ, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जानता हूँ कि जैसा अनुशासन मैं चाहता हूँ, वैसा होता तो मेरे लिए वही व्यवस्था होती, जो इन जुआरियों के लिए मैंने की है। लेकिन अगर वैसा होता, तो मेरे यहाँ पेश होने की जरूरत न होती। आप जैसा गुज़ारा करना चाहते हों, कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नहीं होगा। मुझे इजाज़त दें—"

शेखर लौटकर जाने को ही था कि सेनापति के पास बैठे हुए शुद्ध खद्दरधारी महाशय बोले, "और यह तो हमारे अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ़ है—"

शेखर ने घूमकर तीव्र स्वर में कहा, "क्या?"

"दो आदमियों को ऐसे बेइज्जत करना और पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। हमारी वालंटियर सेना अहिंसक है।"

शेखर क्षण भर निर्वाक् रह गया। फिर उसका मन हुआ कि एक बार ठठाकर हँस दे और चला जाए। फिर अपने को वश में करता हुआ वह बोला, "आपके प्रश्न का उत्तर भी हिंसा ही होगा।" और बाहर चला आया। बाहर निकलते हुए उसने सन्तोषपूर्वक याद किया कि कुछ दिन पहले उसे लम्बे कद के कारण अवसर दिया गया था कि वह सेनापति के अंगरक्षक दल में आ जाए—उस दल के सदस्य को काम कुछ नहीं करना पड़ता, सिवाय इसके कि दूसरे-तीसरे दिन जब सेनापति महोदय पूरी सज्जा के साथ कहीं निकलें, तब उनके आगे-पीछे कंधे पर लुइसगन के नमूने पर बने हुए चरखे लेकर चला करें—तब उसने अवसर का लाभ उठाने से इनकार कर दिया था। यदि वैसा उसने न किया होता, तो आज क्या अपने को क्षमा कर सकता?....

परिणाम कुछ नहीं हुआ। निकाले गए व्यक्ति वापस नहीं बुलाए गए, यद्यपि उन्हें उनकी वर्दियाँ दे दी गईं, क्योंकि उसकी कीमत उन्होंने दी थी। दो-चार बड़े अफ़सरों को छोड़कर, जो केवल अफ़सरी करते थे, हाजिरी नहीं देते थे, बाकी सभी शेखर का फ़ैसला उलटने के विरुद्ध थे।

और जो विद्यार्थी-विद्रोह होनेवाला था, नहीं हुआ। खाहमख़ाह झगड़ा करके अपमान पाना और पलने में मुफ़्त तमाशा देखने का अवसर भी खोना—यह उनका मार्ग नहीं था!

•

रात के नौ बजनेवाले थे। शाम ही को जो घना कुहरा छा गया था, वह अब मिटने लगा था, क्योंकि वर्षा होनी आरम्भ हो गई थी। शेखर कन्धे पर ओवरकोट डाले, थैला

के द्वार पर खड़ा नौ बजे अपने-अपने काम पर जानेवालों की तैय्यारी देख रहा था और सोच रहा था, अभी थोड़ी देर बाद शिकायतें आनी शुरू होंगी कि हमारी ड्यूटी बदलनेवाला कोई नहीं आया....न जाने नियुक्ति के अधिकारी क्यों नहीं उचित प्रबन्ध कर पाते ?....

बाईं ओर जहाँ नगर को नाम देनेवाले स्वर्गस्थ नेता की प्रतिमा पड़ी थी, कुछ कोलाहल हुआ। शेखर ने कान देकर सुना, कोलाहल बढ़ रहा है और उधर ही आ रहा है। वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उस ओर चल पड़ा।

तीन-चार दिन पहले कैम्प में पुलिस ने छापा मारा था—कैम्प की तलाशी लेकर खाली हाथ लौट गई थी। तब से कांग्रेस नगर का वातावरण कुछ तना-सा था—प्रत्येक असाधारण दीखनेवाले, काले कोटवाले, लम्बी मूँछवाले, तुर्रेदार पगड़ीवाले, पट्टेदार बालोंवाले, या बेंत हाथ में लेनेवाले व्यक्ति पर खुफिया पुलिस के नर होने का सन्देह स्वयंसेवकों को रहता था। खुफिया के वहाँ होने में हानि कोई न थी, न कोई मनाही थी; किन्तु एक तो स्वयंसेवकों को यह अनुचित हस्तक्षेप मालूम होता था, दूसरे मानव प्रकृति की स्वाभाविक वृत्ति है खुफिया जाहिर बनाना; अतएव प्रायः ऐसे व्यक्तियों से वालण्टियरों की नोक-झोंक हो जाती थी और कभी उन्हें कैम्प के दफ्तर में भी ले आया जाता था।

उस समय भी एक ऐसे ही व्यक्ति को पकड़े हुए पाँच-सात स्वयंसेवक घसीटे ला रहे थे। वह गालियाँ देता जा रहा था, छुड़ाने की कोशिश भी करता जा रहा था और घिसटता भी आ रहा।

शेखर ने निकट पहुँचकर डपटकर कहा, "कौन है—छोड़ दो इसको ! क्या मामला है ?"

"सी० आई० डी० है, सी० आई० डी० !"

"चोर है चोर ! भागा जा रहा था !"

"हटाओ, कांग्रेस का राज कोई मखौल नहीं है !"

एकदम इनकी सब बातों की उपेक्षा करते हुए शेखर ने फिर कहा, "छोड़ दो !" स्वयंसेवक [illegible] अलग खड़े हो गए। "किसने पकड़ा था ? क्या बात थी ?"

"यह प्रतिमा के पास अँधेरे में घूम रहा था। मैंने पूछा कि यहाँ क्या काम है, तो बोला कि अपना काम देखो। मैंने कहा कि प्रतिमा का पहरा ही मेरा काम है, और तुम्हें कोई काम न हो तो यहाँ से चले जाओ, तो बोला कि बहुत देखे हैं तुम जैसे पहरेदार। मैंने फिर [illegible] और नाम-पता पूछा तब [illegible] गालियाँ दीं। फिर हम इसे पकड़कर कैम्प में लाने लगे, रास्ते में और भी लोग आ गए, [illegible] [illegible]"

[illegible] उस आदमी से शेखर ने पूछा, "आप कौन साहब हैं ?"

"मैं सी० आई० डी० का इन्स्पेक्टर हूँ। इन लोगों ने मेरी बेइज्जती की है और मेरे काम में हर्ज किया है। मैं एक-एक को मजा चखाऊँगा—"

"आपने पहले ही कह दिया होता कि मैं सी० आई० डी० का आदमी हूँ तो क्यों ज़िल्लत उठानी पड़ती ? चोर-उचक्कों की देखभाल इनका काम है। आप खुद मानेंगे कि आपका रवैया तसल्ली देनेवाला नहीं था। खैर आप जाएँ; आपको जो तक़लीफ हुई, उसके लिए हम माफ़ी माँगते हैं।" शेखर ने फिर स्वयंसेवकों को कहा, "तुम लोगों ने नाहक एक भले आदमी को बेइज्ज़त किया है। जिन्होंने इसे पीटा है, उन्हें माफ़ी माँगनी चाहिए और कैम्प में भी दण्ड लेना चाहिए। और दो आदमी इन्हें नगर के बाहर तक सम्मानपूर्वक पहुँचा आएँ।"

"मुझे किसी साले की ज़रूरत नहीं है"—कहकर वह एक ओर को बढ़ा।

"ये आपकी हिफ़ाजत के लिए हैं कि दुबारा ऐसी घटना न होने पावे।"

दो सेवक उसके पीछे हो लिये।

●

पहरे बदल चुके थे। शेखर ने सोचा कि लगे हाथ नगर का चक्कर भी लगा ले और देख ले कि कहाँ-कहाँ ड्यूटी बदली नहीं गई, ताकि कुछ प्रबन्ध हो सके।

यह जानकर उसे कुछ अचम्भा हुआ कि वर्षा के कारण कई लोग अपना पहरा चुकाकर बदलीवाले के आए बिना ही चले गए थे और कैम्प से बदलीवालों को खोज-खोजकर भिजवा रहे थे। अधिवेशन का केवल एक दिन और था—कैम्प के तीन दिन—इसलिए उसने इस सम्बन्ध में अधिक पूछताछ अनावश्यक समझी। और फिर जानेवालों को इतना तो ध्यान रहा ही था कि बदलीवाले को भेज दें। सेनापति को 'गुज़ारा करने' वाली बात याद करके वह मुस्करा दिया।

बारिश जोर की होने लगी थी। शेखर ने अपनी गति बढ़ा दी।

प्रतिमा के पास पहुँचते-पहुँचते उसने सुना, कोई गा रहा है—

'किशन बंसीवाले आ जा—'

और फिर कुछ अटक-अटककर मानो नया प्रयोग कर रहा हो,

"मोहन बदलीवाले आ जा—"

उसके बूटों की चाप सुनकर गायक चुप हो गया। शेखर ने देखा, प्रतिमा का पहरेदार सतर्क दृष्टि से उसे देख रहा है।

शेखर ने पूछा "नई ड्यूटी लगी है ?"

"जी नहीं।"

"कब से हो ?"

"तीन बजे से—"

"तीन ? छः बजे भी नहीं बदली ?"

"जी नहीं। छः बजे वाले ने मुझे कहा था कि उसे बाहर जाना है, मैं उसकी ड्यूटी दे दूँ। मैंने मान लिया था।"

"और नौ बजे ?"

"उसका तो पता नहीं। कोई बदली के लिए लगा होता तो आ ही जाता—"

शेखर ने मुस्कराकर कहा, "उसी को टेर रहे थे क्या ?"

कुछ झेंपकर, "यों ही थकान मिटा रहा था—"

"बहुत थक गए हो ?"

"नहीं, भीग गया हूँ, और बाँह में दर्द हो रहा है—"

एकाएक शेखर इस आदमी के प्रति कृतज्ञ हो आया, जो दो आदमियों का काम करके तीसरे का शुरू करते समय गा रहा है—उसे जान पड़ा कि चौदह सौ आदमियों में एक ने उसके अनुशासनवाले आदर्श का समर्थन किया है—समर्थन ही नहीं, पालन किया है। एक तो इसी से उसका जी एकाएक कुछ हल्का हो गया, दूसरे यह भी जानने की उसे इच्छा हुई कि वर्षा में तीन-चार घण्टे अकेले खड़े रहना कैसा लगता है....उसने निश्चय करते हुए कहा, "अच्छा, अब तुम जाओ, तुम्हारी बदली मैं करूँगा।"

"आप ?"

"हाँ—मुझे भी तो देखना चाहिए, रात को ड्यूटी कैसी लगती है।"

"पर आपके पास छाता नहीं है—" कुछ अनिश्चित-से स्वर में अपना एक ओर से फटा छाता बढ़ाते हुए स्वयंसेवक ने कहा...

"यह ओवरकोट बहुत काफी है। जाओ, अब आराम करो तुम।"

स्वयंसेवक चला गया। शेखर चुपचाप नियमित गति से टहलने लगा....

रात लम्बी थी। शेखर का मन बहुत थोड़ी देर के लिए ही उस स्वयंसेवक पर टिका रह सका, फिर ऊहापोह में पड़ गया।

उस सी० आई० डी० वाले को उन्होंने पीट दिया—बुरी बात हुई। पर उसने अपना नाम-पता नहीं बताया—तब बिना उसे पकड़े क्या होता ? पकड़े का मतलब क्या होता ? अभी कोई अजनबी यहाँ आ जाए, तो क्या मैं पूछूँगा नहीं, वह कौन है ?...हो सकता है, वह आया ही इसलिए हो कि झगड़ा हो जाए—यह तो इनका काम ही होता है। मार-पीट हो गई—यह तो उसकी सफलता हुई। पर मार-पीट में उनके जैसे यदि [illegible] सकता था...कहाँ तक सहा जा सकता ? क्या बात खत्म हो गई है, या अभी और कुछ रंग दिखेगा ? देखा जाएगा....

वह स्वयंसेवक जो तीन बजे से पहरे पर था—वह भी उसे पकड़ने में रहा होगा ? [illegible] —[illegible] रह गया हो जैसे [illegible]....काम तो ऐसे ही होता है.... [illegible] किसी काम के लिए किसी [illegible] किया जाए ? [illegible] का काम होता है [illegible] काम जिसमें कोई [illegible] नहीं—सिर्फ काम [illegible] काम में लग सकता ?

[illegible] अन्धकारों में खड़ा रहता है, [illegible] दुनिया

में जो मेरा कर्तव्य है, वह नहीं करता...दुःख उसकी आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नहीं।' यही तो उसने कहा था....और 'दुःख सब जगह है'—मैं उसे एक जगह—समझ रहा हूँ—अपना ही दुःख लिये फिरता हूँ....और शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं है, दूसरों के लिए दुःखी होने में है....

मैंने जो उसकी बदली कर दी, क्या उसी के लिए? मेरा भी तो मन था कुछ ऊँट-पटांग काम करने का—अपने सन्तोष के लिए तो मैंने उसे छुट्टी दे दी....पर इस सन्तोष से बचकर कोई कहाँ जाए? वह तो सब जगह है। अपने को नष्ट कर देने में भी तो सन्तोष होता है—तब क्या सन्तोष के लिए ही कोई अपने को नष्ट कर देता है?...

असल में मुझे चाहिए था, पहले उस नालायक नियुक्ति अफसर को बुलाकर यहाँ लाता, फिर दो-चार सुनाता और कहता कि इस गरीब की जगह ड्यूटी तुम दो, जरा इस पौष की वर्षा में चलो फिरो, तोंद हल्की होगी... अन्याय को सह लेना उसे बढ़ावा देना है—अनुचित परिस्थिति में अपने को कष्ट देना कोई त्याग है?

दूर आधी रात के घण्टे खड़के। उस वर्षा में मानो घण्टे की आवाज भी भीगकर ठिठुर गई थी—ऐसी शिथिल-सी थी वह...शेखर ने अनुभव किया कि—उसका ओवर-कोट पहने से चौगुना भारी हो गया है, और जो अब तक रक्षक था, वही अब शत्रु हो गया—ओवरकोट के कारण वर्दी भी भीग गई है और पानी की बहुत छोटी-छोटी धारें उसकी पीठ गुदगुदा रही हैं। टाँगों में पट्टियाँ भी भीग गई हैं—पानी बूटों में भर रहा है। बूटों के तले 'वाटरप्रूफ' हैं, बाहर का पानी भीतर नहीं घुसने देंगे—और भीतर का बाहर नहीं निकलने देंगे....शेखर एक बार काँपा और फिर जल्दी-जल्दी चलने लगा....

ठण्ड बढ़ती ही जाती थी....बदली वाला अभी तक क्यों नहीं आया? क्या यह पहरा भी ऐसे ही जाएगा? ठेहुनों और घुटनों तक उसका शरीर सुन्न हो गया था। अब उसे बिलकुल अनुभव नहीं होता था कि बूटों में पानी है या नहीं, पैर भी हैं या नहीं...मानो बैसाखियों के सहारे ही उसका सिर और कन्धे टिके हों...उसने सोचा, अगर मैं भी जमकर खड़ा हो जाऊँ, तो इस प्रतिमा की तरह खड़ा ही रह जाऊँगा।

एक....घण्टे का स्वर इतना मन्द था कि अगर शेखर के कान नीरवता को भी सुन लेने के लिए चौकन्ने न होते तो वह सुन भी न पड़ता।

नियुक्ति अफसर....अनुशासन के नाम पर सब चिढ़ गए थे—हिंसा है। यदि यह हिंसा है, तो कर्तव्य की—जीवन की ही—भित्ति हिंसा पर कायम है। मैं कहूँ, नियुक्ति अफसर को निकालकर रात भर इस वर्षा में खड़ा रखना चाहिए, तो वह हिंसा है, पर वह बिना कहे, बिना सुने अनेकों को रात भर यहाँ भीगने और गलने दे, तो वह हिंसा नहीं है....किसी से ऐसा कह दूँगा, तो वह कहेगा, तुम्हें किसी से क्या, तुम निष्काम कर्म करते चलो। उसकी भूल को तुम सह लो। त्याग इसी में है। त्याग पुण्य है। *त्याग धर्म है*। त्याग—त्याग—त्याग! हम नहीं कहते त्याग बुरा है, पर हम त्याग माँगनेवाले से

कौन ? अगर हमें कह सकते हो कि त्याग करें, निष्काम कर्तव्य करें, तो क्यों नहीं उसे कह सकते कि निष्काम या सकाम किसी तरह तो कर्तव्य करे....

दो....अबकी बार शेखर को क्रोध नहीं आया, एक नीरस मुस्कान भर उसके मुख पर दौड़ गई....

त्याग....त्याग मापने के लिए हर एक का अपना अपना गज होता है—और वह गज होता है उस व्यक्ति का अपना त्याग करने की क्षमता....जो खुद कभी त्याग नहीं करता, वही हर जगह, हर समय त्याग की प्रशंसा करता है—'अमुक ने इतना बड़ा त्याग किया', 'अमुक ने इतना भारी आत्म-बलिदान कर दिया'... उसका गज इतना छोटा होता है कि पैसे से कम की कोई वस्तु ही उसे नहीं दीखती....और जो स्वयं त्याग करता है, उसे जान ही नहीं पड़ता कि त्याग है क्या चीज ? अपने को दे देना उसके लिए साधारण दैनिक चर्या का एक अंग होता है, जो होता ही है, जिसे देखकर विस्मय, कौतूहल, प्रशंसा, किसी से भी रोमांच नहीं होता, मुखर भावुकता नहीं फूटती....

लेकिन क्या बदली रात भर होगी ही नहीं, और रात क्या कभी चुकेगी नहीं ?....

नियुक्ति अफ़सर....यदि उन्हें स्टेज पर खड़ा कर दिया जाए कि त्याग पर भाषण फटकारें, तो शायद नियुक्ति के मामले से कहीं अधिक सफलता दिखाएँगे....वह तुंदिल मनहूस लोग....क्या नालायक ही अफ़सर बना करेंगे, और ईमानदार लोग ही नौकर ?.... यदि ऐसे ही नेता होंगे, तो और नेता पाकर हम क्या करेंगे ? रोज सुनने में आता है कि नेता नहीं है, नेता नहीं है....ऐसे नेताओं के बोझ से तो समाज कुचला ही जाएगा, उठेगा कैसे....जो ऊपर से लादा जाएगा, वह भार ही होगा, भारवाहक कैसे होगा ? भार उठाने की सामर्थ्य तो उसमें होगी, जो नीचे से उठेगा,—विघ्नों, बन्धनों, भारों, अवहेलनाओं की उपेक्षा करता हुआ, चोटों से दृढ़ हुए पुट्ठे और संघर्ष से दृढ़ हुआ हृदय लेकर अभिमान-भरा और मुक्त....हम मुक्ति के लिए लड़ रहे हैं, पर हमारे सभी नेता—हमें आगे खींचनेवाले, हमारे भारवाहक—ऊपर बादलों से बरसे हुए तुषार की तरह, एक भी तो पददलित मिट्टी से नहीं उठा है; नहीं फूटा है कठोर धरती को तोड़कर नए अंकुर की तरह....

मुक्ति, स्वराज, स्वतन्त्रता—कितने सुन्दर शब्द ! किन्तु कहाँ है इनके पनपने के लिए सिंचित और खाद-युक्त मिट्टी,—जनता; कहाँ है वह मिट्टी में की रासायनिक क्रियाओं से बनी हुई खाद—जनता का अपना [illegible]; और कहाँ है—

बीज....

नहीं, अकर्मों की बात सोचने का कोई फायदा नहीं है—अब क्या होगा ? जैसे बीज, वैसे फल, [illegible] कोई [illegible] ही [illegible] किसी को [illegible]—अतः बड़े [illegible] का [illegible] और [illegible] वैसी होगी....

हाँ, दिनरात जनता की सोचते हैं, किन्तु क्या यह जनता का दोष है कि वे नेता जनता से उत्पन्न नहीं हुए हैं ?

स्वाधीनता तो प्रकृत अधिकार है—उसके चाहनेवाले आप उत्पन्न होने चाहिए—वे तो जंगली वनस्पति की तरह फूटने चाहिए। क्यों मिट्टी और क्यों खाद और क्यों परवरिश? तब क्या यह ठीक है कि जनता ही अपराधिनी है, देश की मिट्टी ही खराब है, और हम स्वाधीनता के अयोग्य हैं?

पर हमारा वन-प्रदेश काट दिया गया है, हमारे स्वाभाविक सोते और जलागम सूख गए हैं, हमारी मिट्टी बंजर हो गई है। जंगल हो या उद्यान, हमें उसे फिर से खड़ा करना है, इसीलिए यह आवश्यक है... और ये हमारे नेता—ये नहीं हैं आवश्यक—मरुभूमि के इन कँटीले झँखाड़ों में नहीं है जीवन-रस, और नहीं है जीवनरस को खींचकर या स्वयं गलकर, भूमि को हरा करने की क्षमता....

शेखर चौंका—पैरों की चाप...क्या बदली आखिर होगी? अब तो उसकी आवश्यकता नहीं थी, वर्षा थम चली थी और सर्दी भी अब जितनी लग सकती थी, लग चुकी थी....

लेकिन यह तो कई एक पैरों की चाप है—एकाएक चार-पाँच टार्च-बत्तियों के प्रकाश से शेखर चौंधिया गया—किसी ने कहा, "यहीं का वाक़या है—यह आदमी उन वालंटियरों का अफ़सर है, जिन्होंने हम पर हमला किया था"—शेखर ने रातवाले सी० आई० डी० के आदमी का स्वर पहचाना और देखा कि कई-एक पुलिस के सिपाही उसके सामने हैं—उनके अफ़सर ने कहा, "गिरफ़्तार कर लो, सवेरे कांग्रेस के दफ़्तर को खबर देना"—दो सिपाही शेखर के अगल-बगल हो गये—शेखर ने पूछा, "मैं बन्दी हूँ क्या? क्यों?"—उत्तर मिला, "हाँ, थाने में चलना होगा।"

"ऐसी जल्दी है क्या? सवेरे गिरफ़्तार कर लीजिएगा; अभी तो ठण्ड से मेरी टाँगें अकड़ी हैं, चला नहीं जाता।"

सिपाहियों ने उसकी बगल में हाथ डाल लिए—पिटे हुए सी० आई० डी० वाले ने कहा, "देखा अपने रंग-ढंग?"—सिपाही उसे खींच ले चले—एकाएक अपने को अपमानित अनुभव करते हुए शेखर ने झटका देकर अपने को छुड़ा लिया और कहा, "चलिए जहाँ चलना है—इतना निकम्मा तो मैं नहीं हूँ कि सहारा चाहूँ।"

अफ़सर और मुख़बिर ने फिर आँखें मिलाईं। टोली चल पड़ी—और चलते-चलते शेखर ने देखा कि आस-पास के वालंटियरों ने कुछ गोलमाल देखकर खबर कर दी है और लोग जुटने लगे हैं।

पुलिस की मोटर में बैठते हुए उसे फिर शशि के ये शब्द याद आए—'दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं, दूसरे के स्थान पर दुःखी होने में है....

क्या वह पात्र है? क्या उसकी आत्मा का एक नया परिच्छेद खुलनेवाला है? क्या वह पूर्ण पुरुष है—विजेता—परिस्थिति का स्वामी?

द्वितीय खंड

बन्धन और जिज्ञासा

बन्दी होने के ठीक इक्कीस दिन बाद शेखर पहले-पहल अदालत में पेश किया गया। उस दिन उसे मालूम हुआ कि पाँच और व्यक्तियों के साथ उस पर मार-पीट, हमला, हिंसा के लिए साजिश, सरकारी अफ़सरों की हत्या का प्रयत्न, सरकारी अफ़सर के कार्य में अवरोध, और मुकदमे से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री छिपाने के आरोप लगे हैं। उसी दिन उसे पुलिस की हवालात से जेल में भेज दिया गया।

शेखर को मालूम नहीं था कि पुलिस की हवालात में और जेल में क्या अन्तर है—इसके सम्बन्ध में कानून क्या है, यह भी वह नहीं जानता था। उससे अगर पूछा जाता कि 'क्या तुम जेल जाना चाहते हो?' तो वह सहज सचाई के साथ कह देता, 'नहीं!' अब जब उसे जेल भेज दिया गया, तब वह सोचता हुआ जा रहा था, क्या मुकदमा ख़त्म हो गया? न गवाही, न सुनाई, न फ़ैसला—क्या मैं जेल ही में पड़ा रहूँगा? उसने दूसरे मुकदमों की बातें पढ़ी-सुनी थीं, यह कार्रवाई उसे विचित्र मालूम हुई....वह अपने साथियों से पूछना चाहता था, पर डर रहा था कि वे हँसें नहीं। उस समय वह अपने को बहुत छोटा, बहुत अकिंचन, बहुत बेवकूफ़ अनुभव कर रहा था....उसके साथी लारी में बैठे-बैठे हँस रहे थे और वह विस्मय से सोच रहा था, इन्हें तो कुछ सोच नहीं है....उनमें से दो पहले जेल हो आए थे, ऐसा शेखर ने उनकी बातों से जाना। तब क्या एक बार जेल हो आने से ही उनका साहस इतना हो गया है?....

"लेकिन सरदार, आप कैसे इनमें आ फँसे?"

शेखर को विस्मय हुआ कि वह कैसे अनायास अपने पकड़े जाने की बात कह गया है।

प्रश्नकर्ता ने हँसकर कहा, "देखा आपने उसकी सफ़ाई—'यह आदमी उन वालंटियरों का अफ़सर है, जिन्होंने मुझ पर हमला किया था'—खूब? हमले से आपका सम्बन्ध कैसे जोड़ा गया है?" एकाएक उसका चेहरा गम्भीर हो गया। "आपको उन्होंने ऐसे नाटकीय ढंग से गिरफ़्तार किया है—हम लोग तो अगले दिन प्रातःकाल पकड़े गए—और आपको अफ़सर भी बताते हैं, तब हमले की सारी ज़िम्मेदारी भी आप ही पर डालेंगे! हाँ, आपने बदली किसकी की थी?"

शेखर ने बता दिया।

"उसी ने तो पकड़ा था उसको। हम लोग पीछे पहुँचे थे। जब हम लोग पकड़ कर कैम्प लाने लगे, तब उसने कहा कि वह तो ड्यूटी पर ही रहेगा; किसी साले सी० आई० डी० से उसे कोई मतलब नहीं है। हाँ, प्रतिमा से छेड़छाड़ करेगा कोई तो देखी जाएगी।"

"हूँ!"

"आप सफ़ाई देंगे!"

शेखर ने चुपचाप उसकी ओर देख लिया—वह नहीं जानता था कि इसका क्या उत्तर है।

"आप पहली बार आए हैं न ? खैर। जेल में आप हर बात में हम लोगों का साथ माँगते रहिएगा। एक मुकदमे के अभियुक्तों को इकट्ठे रहने का अधिकार है। सफ़ाई के लिए वकील आदि का कुछ न कुछ प्रबन्ध होगा ही—फिर हम लोग इकट्ठे सलाह करेंगे कि क्या किया जाए।"

"अच्छा।"

"और खूब अकड़कर रहिएगा। अकड़ के बिना जेल में काम नहीं चलता; और फिर अभी आप क़ैदी नहीं हैं, केवल अभियुक्त हैं। आप पर शासन करने का अधिकार किसी क्यों हो ? है न ?"

"ठीक।" शेखर मुस्करा दिया। उसे याद आया, कहीं उसने पढ़ा था; न्याय का सिद्धान्त है कि कोई व्यक्ति तब तक निर्दोष है, जब तक कि वह दोषी सिद्ध नहीं हो जाता। और अकड़—वह तो उसकी आदत ही थी।

जब लारी जेल की ड्योढ़ी में जाकर खड़ी हुई, उतरते हुए शेखर ने देखा कि उसके आगे और पीछे लोहे का बड़ा फाटक है और एक हाथ में पड़ी हुई हथकड़ी के दूसरे छोर पर सिपाही, तब एकाएक उसे स्वाधीनता का अर्थ समझ में आ गया, और वह अपने को कोसने लगा कि क्यों अब तक—बीस वर्ष की आयु तक—वह उसके प्रति उदासीन रहा है; क्यों नहीं अब से कहीं पहले स्वाधीनता उसके लिए भूख-प्यास और श्वास-गति की तरह एक अत्यन्त आवश्यक, जीवन-मरण की-सी महत्वपूर्ण वस्तु बनी....



जब शेखर ने अपने को एक कोठरी में बन्द पाया, जिसमें दाईं ओर खड्डी पर उसका बिस्तर पड़ा था, बाईं ओर एक चबूतरे पर चक्की जमी हुई थी, पिछले कोने में निसर्ग के लिए कोलतार से रँगा हुआ एक पतरा और मिट्टी की एक छोटी-सी टोंटी थी, ऊपर छत में प्रकाश के लिए जँगला-सा था, सामने सींखचे थे, जिनके बीच से एक लोहे का फाटक, फाटक के एक छिद्र से और सींखचे थे, और सर्वत्र, सर्वत्र दुर्गन्ध थी—तब एकाएक अपनी भौगोलिक स्थिति का समाधान उसके लिए आवश्यक हो गया। मैं ठीक कहाँ पर हूँ, मेरे आसपास जेल का और पृथ्वी का प्रसार किस तरह है, यह जाने बिना जैसे वह साँस नहीं ले सकेगा....जेल नगर के किस ओर है, वह जानता था; जेल का फाटक उत्तर की ओर था, वहाँ से वह पहले इधर मुड़ा था, फिर उधर, फिर उधर, फिर....तो उसकी कोठरी का मुख पूर्व की ओर था, पर उससे आगे....

यह समस्या अगले दिन ही हल हो सकी। प्रातःकाल उसे टहलने के लिए निकाला गया, तब उसने देखा कि वह चालीस कोठरियों की एक कतार में बारहवीं कोठरी में है। उस कतार से आगे शायद चालीस कोठरियों की एक और कतार है। सामने की

दीवार में दो फाटक हैं.... जो नम्बरदार उसे टहलाने लाया था, उसने बताया था कि एक कारखाने में खुलता है, दूसरा गोरा बारक में....शेखर ने मन ही मन जेल पर पृथ्वी के नक्शे का आरोप किया, और तब अपनी स्थिति का खाका उसके आगे स्पष्ट हो गया—फाटक उत्तरी ध्रुव, दरोगा का दफ्तर उत्तरी हिमवृत्त, कारखाना जापान, दूर उधर फाँसी की कोठरियाँ अरब; और वह—वह कहाँ है ? वह साइबेरिया के हिमावृत्त मरुस्थल में....उसे कुछ शान्ति हुई—वह कहीं है तो—यहाँ तो यही डर है कि उसका अस्तित्व ही न खो जाए।

थोड़ी देर बाद अभिमान जागा। वह दूसरी तरफ़ दक्खिनवाली कतार में होता, तो भारत में होता। वह कतार अच्छी नहीं है; नम्बरदार ने कहा था कि वहाँ बदमाश रखे जाते हैं, पर होता तो वह भारत....उसे एकाएक अचम्भा हुआ कि अपने देश की मिट्टी का, उसके नाम का, नक्शे में उसकी आकृति और स्थिति का मोह उसमें कब से जाग गया है....पहले तो ऐसा नहीं था—सुन्दर प्रदेश थे, घर के लोग थे, पर भारत—भूगोल की पुस्तक के बाहर कहाँ था वह ? उसे याद आया, पिता कभी राजपूतों की, ऋषियों की, वीरता की गाथाएँ कहते-कहते एकाएक कह उठते थे "इस आर्यों की भूमि से ऐसे ही रत्न उत्पन्न हुआ करते थे"....और शेखर को लगता था, उस समय अपने अभिमान के तीव्र आलोक में ही परख लेना चाहते हैं कि शेखर भी वैसा रत्न है या नहीं; पर वह तो दूर किसी पुराने देश की बात थी—आर्यावर्त्त की, और उन वीर गाथाओं का आर्यावर्त्त उसके मन में कभी उसके पैरों तले रौंदे जाते आज के भारत से एकरूप नहीं हुआ था....

'खूब अकड़कर रहिएगा'....अकड़ तो उसके भीतर साहमसाह बढ़ती जा रही है....उसने कोई अपराध नहीं किया है; पर जो उन कोठरियों में है, जो 'भारत' में हैं और सजा भुगत रहे हैं, वह उन्हीं की तरफ़ होगा, वह अकड़ेगा और लड़ेगा....

उसका सैर का समय चुक गया।



पूरे तीन दिन बाद उसे यह माँग करने का मौका मिला कि उसे 'साथियों' के साथ रखा जाए। दरोगा निरीक्षण के लिए आए थे। तिरस्कार के स्वर में बोले, "तो वे तुम्हारे साथी हैं, क्यों ?"

शेखर ने व्यंग्य की उपेक्षा करते हुए कहा, "हमें एक ही मुकदमे का अभियुक्त बनाया गया है, हमें मिलने का अधिकार है।"

"अधिकार ! ऐ है ! यह जेल है जेल, बन्दू साहब ! यहाँ का अधिकार है चक्की पीसना, समझे ? वह देखो !" दरोगा ने कोठरी के भीतरवाले चबूतरे की ओर इशारा किया। "घबराओ मत ! सब देखोगे।" उसकी माँग का उत्तर दिए बिना वे चले गये।

किन्तु शाम को जब शेखर को कोठरी से निकाला गया, तब उसने देखा कि दस

…ारह कोठरियों से आगे चलकर एक और कोठरी भी खुली है, जिसमें से उसे अकड़ने …का परामर्श देनेवाला विद्याभूषण निकला है, और दूसरी ओर से बाक़ी तीनों साथी लाए जा रहे हैं।

विद्याभूषण को देखकर वह इतना प्रसन्न होगा, इसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। वह लपककर उससे गले मिला, और फिर एकाएक अपने उत्साह के लिए कुछ लज्जित-सा होकर कुछ अलग होकर खड़ा हो गया।

क्षण-भर के लिए दोनों एक दूसरे को सिर से पैर तक देखते रहे। विद्याभूषण क़द का मध्यम, बलिष्ठ शरीर का और गोरे रंग का कोई बीस वर्ष का युवक था। पीछे की ओर सँवारे हुए रूखे बाल, चौड़ा माथा, सीधी नाक और पतले ओठ, सीधी और पतली ठोड़ी—शकल से वह अध्ययनशील हठी दीखता था; आँखों में अवश्य उसके एक कोमल हास का चंचल प्रकाश था। शेखर ने निश्चय किया कि यह व्यक्ति उसके मन के अनुकूल है। उसने पूछा, "आप पहले भी जेल आए हैं न? कैसे?"

"हाँ; असहयोग के ज़माने में आया था। तब मैं छोटा ही था। तब कड़ाई भी अब से ज्यादा थी। वन्देमातरम् का नारा लगाने पर मुझे बेंत लगे थे। अब तो राजनैतिक कैदी को कम ही बेंत लगते हैं।"

शेखर ने एक बार फिर उसे सिर से पैर तक देखा। नहीं, इस गम्भीर युवक के आगे अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करने में लज्जा नहीं है। उसने कहा—"राजनैतिक कैदी अलग होते हैं? मैं कुछ जानता-वानता नहीं।"

विद्याभूषण मुस्कराया। "कोई बात नहीं—यहाँ बहुत जल्दी सब कुछ जान जाएँगे अच्छा कालेज है, जेल। मुझे तो जब बेंत लगे थे, तब टिकटी पर ही कई बातें समझ आ गई थीं। चरित्र की डिग्री तो यहीं मिलती है। पर फेल बहुत होते हैं।" उस… चेहरा गम्भीर हो गया।

"हूँ।"

एकाएक कुछ याद करके विद्याभूषण बोला—"हाँ, हम लोगों को साथ नहीं… जाएगा, पर दिन भर हम मिल सकेंगे। यही फैसला हुआ है। ऐसे भी ठीक है।"

"और मुक़दमे का क्या होगा?"

"आज मेरे भाई मुझसे मिलने आए थे। एक वकील का प्रबन्ध हुआ है… हम सबसे मिलेंगे। तभी आगे के बारे में निश्चय होगा।"

शेखर एकाएक इस आकांक्षा से भर गया कि कोई—'कोई' नहीं, शशि… मिलने आए….भाई शायद आएँ—पर यदि शशि आती—आ सकती….

बाकी तीनों साथी भी आए थे। परिचय हुआ, शेखर ने उनके नाम… सिर से पैर तक जाँचा और तय किया कि वे विद्याभूषण के पाये के नहीं हैं… वे भले ही अच्छे रहे हों, पर ऐसा उनमें अधिक नहीं है जो जेल में आकर… और उसने यह बहुत सहज पाया कि बातें करता हुआ भी वह शशि…

सम्भावना पर सोचता जाए''''जेल के जीवन के बारे में उसे अधिक चिन्ता नहीं थी—वहाँ के दैनिक जीवन की व्यवस्था उससे कोई विशेष बुरी नहीं थी, जो उसने वयःसन्धि के दिनों अपने को दण्ड देने के लिए अपने लिए तजवीज कर ली थी....दिन बीत ही जाएँगे—शरीर उसका काफ़ी कठोर था; हाँ प्रारब्ध उसके वश में नहीं था और वे अगाण्ड इतने थे कि....



अभियोग की सुनाई आरम्भ हो गई। वकील ने शेखर को बताया कि उसे चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं है, और तो कोई धारा उस पर लगती नहीं—केवल एक लग सकती है, सरकारी अफ़सर के काम में अवरोध डालने की; और वह भी शामवाली घटना के कारण नहीं, रात को गिरफ्तारी के समय की घटना से....पुलिसवाले कह सकते हैं कि वे उस समय सरकारी काम पर गए थे, जब उसने रुकावट डाली और झगड़ा किया आदि-आदि....किन्तु उस आश्वासन के बिना भी मुकदमे में शेखर की दिलचस्पी मिट-सी गई थी। जेल ने उसके सामने एक नई दुनिया ही मानो खोल दी और उसके अपने भीतर इतने नए प्रश्न जाग रहे थे कि अदालत में पूछे गए व्यर्थ के प्रश्नोत्तर की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता था....उसे जान पड़ता था, वह जेल-संसार को मानो एक Prism के बीच में से देख रहा है; प्रत्येक दृश्य के कई रंगों के कई रूप कई दिशाओं में उसे दीखते थे, और यह कहना असम्भव हो रहा था कि कौन सत्य है, कौन मिथ्या....उसके अब तक के बने हुए सब पैमाने निकम्मे हो गए थे, वह एक नई और भीषण वास्तविकता को जान रहा था कि सभी कुछ सत्य है, सभी कुछ मिथ्या है; सभी कुछ अच्छा है और सभी कुछ बुरा है। अब भी वह देख रहा था कि ऐसी दशा में मार्ग का, कार्यक्रम का, निर्णय आदर्शवाद के सहारे ही हो सकता है, लेकिन उस आदर्शवाद के आधार पुराने आदर्शों पर नहीं टिकते थे—उसकी आत्मा के भीतर क्रान्ति की जरूरत थी....विद्याभूषण का साथ उसके लिए आवश्यक हो चला था। किन्तु दिन में तो विद्याभूषण मुकदमे को देखता था—शेखर ने अपना हित उसी के सिपुर्द कर दिया था—अतः शेखर प्रातःकाल उससे उलझता और दिन भर उस उलझन पर विचार किया करता और उसके आगे सुलझाया करता....

आरम्भ उस दिन हुआ था, जिस दिन विद्याभूषण के यह कहते समय, कि हमें देश के आत्माभिमान की रक्षा के लिए एक ऐसा संगठन बनाना चाहिए, जो सरकारी अफ़सरों और शासकों का दिमाग़ दुरुस्त रखे, शेखर ने एकाएक पूछा था, "अच्छा, यह तो बताओ, तुमने उस सी० आई० डी० वाले को पीटा था भी कि मेरी तरह ही आए?"

"पीटा तो था। इतना उद्धत व्यवहार करके वह अछूता लौट जाता तो मैं आपुमर अपने को क्षमा नहीं कर पाता।"

"क्यों ?"

"राह चलते तुम्हें कोई माँ-बहन की गाली दे जाए, तो तुम क्या करोगे ? तब वह
ा इसीलिए बच जाता कि कमीना होकर वह सरकार का गुमाश्ता भी है ?"

"वह सरकार का एक अंग तो था—ऐसे सरकार कैसे चलेगी ? मान लो अपनी
सरकार होती, तब—"

"सरकार का अंग—तो सरकार के आतंक से हीन हम उसे पीटने से रह जाते ? अगर तुम हिंसा की बात कहते हो, तो क्या डर के कारण अपने गौरव की रक्षा से चूकना हिंसा नहीं है ? आत्महिंसा सबसे बड़ी हिंसा है, क्योंकि वह राष्ट्रीय अभिमान की—राष्ट्र की—रीढ़ तोड़ डालती है।"

"तुम्हारे कहने का मतलब यह हुआ कि जब भी गुस्सा आए, उसे व्यक्त ही करना चाहिए, दबाना नहीं ? ऐसे तो बड़ा अनाचार फैलेगा—"

"नहीं मैं यह नहीं कहता। एक गुस्सा कमजोरी होता है, एक गुस्सा कर्त्तव्य होता है। अगर अपने राष्ट्र का अपमान होता है, तो उस पर रोष राष्ट्र के और समाज के प्रति कर्त्तव्य होता है—वह रोष हमें देश को देना ही है। नहीं तो हम में भीतर कहीं प्राणों की जगह कचरा भरा हुआ है।"

"अगर देश के अपमान पर रोष उचित है तो, प्रान्त के, सम्प्रदाय के, परिवार के और फिर स्वयं अपने अपमान पर भी उचित है। वही क्यों कमज़ोरी है ?"

"ठीक है। पर सवाल उस स्थूल वस्तु का नहीं है, जो देश या प्रान्त या हम हैं। सवाल भावना का है। हमारे देश की मिट्टी अनुर्वर है, यह सीधी-सच्ची बात भी हो सकती है, पर 'हमारा राष्ट्र नपुंसक है' यह अपमान है। आदर्शों के लिए रोष उचित है।"

"तब धर्मान्धता उचित है ? धर्म आदर्श है न ?"

विद्याभूषण कुछ हिचकिचाया। "न—नहीं ! कहीं पर सीमा बाँधनी ही होगी पर धर्मात्मा और धर्मान्ध हम कहते हैं और उसका अलग-अलग अर्थ भी समझते जिसका अर्थ यही है कि धर्मान्धता में कुछ ऐसे तत्व आते हैं, जो बुरे हैं। वे क्या यह खोजना होगा। जैसे धर्मान्ध रोष में सबसे पहली बात होती है व्यि असहिष्णुता—मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि मेरा धर्म तुम्हारे धर्म से अच्छा है, मैं तुमसे अच्छा हूँ। यह स्पष्टतया अनुचित है और इस अभिमान की तो उखाड़नी चाहिए।"

"हूँ ?" शेखर कुछ देर तक सोचता रहा। "तब हम कहाँ पर पहुँचे ?" अ पर वह हँस भी पड़ा।

"जो रोष आदर्श के लिए है, वह धर्म है, यह तो तय है। रह आदर्श क्या है, सो इसके बारे में साधारण नियम कठिन है, पर कहा जा स

जो भी भावना मानव और मानव के भेद को मिटाने की, उसकी सीमाओं और बन्धनों को अधिकाधिक प्रसारित करने की चेष्टा करती है, वह आदर्श है।"

"तब जहाँ मानव और मानव का सवाल आए, वहाँ राष्ट्रीयता भी विघ्न हो सकती है?"

"अवश्य! यूरोप में ऐसा समय आ चला है कि राष्ट्रीयता पाप हो जाए—वहाँ राष्ट्रीय संगठन अब मानव की स्वाधीनता में विघ्न हो गया है।"

"हूँ।" शेखर की 'हूँ' विचारों से इतनी लदी हुई थी कि वह आगे जिज्ञासा करना भूल गया। पूर्ण आश्वस्त तो वह हुआ था, लेकिन विद्याभूषण ने उसकी बुद्धि को एक गहरा आघात अवश्य दिया था—इतने बड़े-बड़े प्रश्नों को सामने पाकर वह उनकी ललकार से मानो तिलमिला उठी थी।



अभिमान या अहंकार एक सामाजिक कर्त्तव्य भी हो सकता है, शेखर के लिए यह एक नया दृष्टिकोण था। वैसे तो राजनैतिक मामलों में उसको कभी अधिक दिलचस्पी नहीं रही थी, और प्रायः राजनैतिक झगड़ों और हिस्सा-बाँट की बातें अखबारों में पढ़कर वह राजनीति की क्षुद्रता पर दुःखी ही हुआ करता था। पर 'राजनीति क्यों है?' यह प्रश्न राजनीति का नहीं, जीवन का था, और ऐसे प्रश्नों का आकर्षण वह कभी भी टाल नहीं सकता था। जब विद्याभूषण के निमित्त से उसकी बुद्धि इस प्रश्न से जा उलझी, तब उस नई दृष्टि के धक्के से वह दो-तीन दिन अचम्भे में पड़ा रहा। वह जानता था कि विद्याभूषण की बातों से वह पूर्ण आश्वस्त नहीं हुआ, और यह भी वह जानता था कि दूसरे की सोची हुई बातों से कभी भी कोई आश्वस्त नहीं हो सकता, वे अपने ही अन्तरात्मा से निकलें, तभी सच होती हैं; दूसरा अधिक से अधिक यह कर सकता है कि अन्तरात्मा की उर्वर भूमि की थोड़ी-सी निराई कर दे....

तीन-चार दिन तक वह इसी एक बात को लेकर अपने से युद्ध करता रहा। क्या अहंकार एक सामाजिक कर्त्तव्य है? तीन दिन के बाद उसके भीतर जागा हुआ बृहदाकार दानव जिज्ञासु मानो एक प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़कर नए युद्ध के लिए तैयार हुआ, तब उसके 'युद्धं देहि!' के उत्तर में कई नए भीमाकार प्रश्न आ खड़े हुए—शासन क्यों है? क्या वह स्वाधीनता में बाधक नहीं है? क्या उसके बिना हम रह सकते हैं? क्या उसे हम नष्ट भी कर सकते हैं? कैसे कर सकते हैं?

अगर मुक्ति की ओर बढ़ना ठीक है—और ठीक वह नहीं कैसे हो सकता है? तब शासन-सत्ता का होना बुरा है—है नहीं, तो हो सकता है। कब? और उस समय क्या आदर्श है हमारा जिसके लिए रोष कर युद्ध करना, अहंकार करना, धर्म हो जाता है?

और रोष—युद्ध—हिंसा—क्या हिंसा करना उचित है? यदि विद्याभूषण का तर्क

ठीक है, तो हिंसा उचित है और धर्म भी हो सकती है। पर....वह विश्वास करता है, करना चाहता है, कि हिंसा से मानव को घृणा है, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति-जन्य अनिच्छा है हिंसा करने में....और वह समझता है कि कोई भी मौलिक प्रवृत्ति ग़लत नहीं हो सकती—अगर हमारा आचारशास्त्र उसका समर्थन नहीं करता तो वही ग़लत है—प्रकृति नहीं; प्रकृति की आधारभूत एक प्राकृतिक नीतिमयता में उसका अखण्ड विश्वास है। क्यों है, क्या प्रमाण है उसके पास, इसका जब वह कोई उत्तर नहीं दे पाएगा, तो यही देगा कि उसमें विश्वास करने की मौलिक इच्छा होना ही उसका प्रमाण है। मनुष्य क्यों चाहे उसमें विश्वास करना? क्योंकि अपने गूढ़ातिगूढ़ अन्तरतम में वह नीतिवादी है। वह सृष्टि को नीति की कसौटी पर खरा मानना चाहता है। और अगर मानव-प्रकृति में नीति मूल तत्व है, तो प्रकृति में भी आधारभूत कैसे नहीं है?

प्रकृति नैतिक है। तब क्या हिंसा भी नैतिक है? सदा नहीं, तो कभी, किसी परिस्थिति-विशेष में वह नैतिक हो सकती है? क्या कभी हत्या उचित हो सकती है?

और फिर व्यावहारिक प्रश्न यह कि क्या उससे कभी लाभ हो सकता है?

आह देवि जिज्ञासा—इतनी दुर्निवार कि वह दानवी दीखती है!

सिद्धान्त के प्रश्न से व्यवहार का प्रश्न सदा छोटा होता है, और इसीलिए अधिक तात्कालिक; हिंसा की व्यावहारिकता भी शेखर के लिए वैसी ही थी।

उसने विद्याभूषण से पूछा, "क्या हिंसा कभी उचित हो सकती है? क्या उससे कोई लाभ हो सकता है?"

विद्याभूषण ने मुस्कराकर कहा, "तो तुम सोचते रहे हो?"

शेखर ने खीझकर कहा, "सोचूं न?"

विद्याभूषण हँसा। फिर गम्भीर होकर बोला, "तो सुनो। कई बार हिंसा इतनी नितान्त आवश्यक होती है कि उचित हो जाती है।—या यों कह लो कि इतनी अधिक उचित होती है कि आवश्यक हो जाती है। वास्तव में वह तब हिंसा रहती नहीं। नासूर होता है, तो उसका इलाज यही है कि नश्तर लगा दिया जाए। उससे दर्द होता है तो क्या वह हिंसा है? वह हिंसा इसलिए नहीं है कि रोगी के भले के लिए है, चिकित्सक का स्वार्थ उसमें नहीं है। और लाइलाज रोग का रोगी अगर दर्द से तड़प रहा हो, तो उसे मारक मुक्ति देने में भी हिंसा नहीं है, यद्यपि उसकी जान ले ली गई होगी। यहाँ फिर हिंसा एक सामाजिक कर्त्तव्य के रूप में आती है। रहा उपयोगिता का प्रश्न—सो मैंने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें उसकी उपयोगिता ही उसका प्रमाण है—हाँ, यह ध्यान रखना कि व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, सामाजिक उपयोगिता ही उसका प्रमाण हो सकती है।"

"तुम्हें यह भेद करते देखकर सन्देह होता है। क्या सचमुच सामाजिक होने से हिंसा क्षम्य हो जाती है? एक समाज दूसरे समाज पर अत्याचार कर सकता है—?"

"मेरी बात को ग़लत मत समझो। सामाजिक से मेरा मतलब किसी एक समाज

का नहीं है। मेरा मतलब उस सारे संगठन से है, जिसका एक अंग हम—मानव मात्र हैं। इस दृष्टि से जहाँ हत्या अहिंसा हो सकती है, वहाँ राह चलते, गेहूँ की एक बाल तोड़कर फेंक देना हिंसा होगी, क्योंकि वह कर्म उस विश्व-समाज का कोई हित नहीं करता, उलटे थोड़े-से हित की सम्भावना को नष्ट कर देता है।"

शेखर ने अब भी सन्दिग्ध स्वर से कहा, "अच्छा, उसे जाने दो। जहाँ से बात शुरू हुई थी, वहीं लौटें। तुमने जो उस सी० आई० डी० वाले को मारा, उससे क्या लाभ हुआ या हो सकता है?"

"एक तो मैंने बताया—अपने आत्मसम्मान की रक्षा जरूरी थी, और उसे पीटे बिना वह असम्भव था। अगर तुम इसे बहुत काल्पनिक लाभ समझते हो, तो दूसरा यह कि इससे और सी० आई० डी० वालों को सबक मिलेगा कि किसी का अपमान करना हँसी-खेल नहीं है।"

शेखर ने मुस्कराकर कहा, "यही सबक तो यह तुम्हें सिखाने चला है।"

"हाँ, पर ऐसा सबक हर एक सी० आई० डी० वाला हमेशा हर एक को नहीं सिखा सकता। एक मुकदमा करने में सरकार के कई हजार रुपये लगते हैं। अगर सौ ऐसी घटनाएँ हो जाएँ, तो सरकार को कुछ दूसरा इलाज सोचना पड़ेगा।"

"दूसरे शब्दों में तुम यह चाहते हो कि सरकार के दिल में डर बैठा दिया जाए कि ये लोग सम्मान के पात्र हैं। अगर मैं ग़लती नहीं करता—मेरा इधर का ज्ञान कम है—तो यह उन लोगों की दलील है, जो आतंकवादी कहलाते हैं।"

"ऊँ—हाँ। और इतना अन्याय किसी के साथ नहीं होता जितना उनके। सबसे पहले तो उन्हें आतंकवादी कहना ही अन्याय है, यद्यपि आतंक को वे अपने कार्यक्रम से बाहर नहीं निकालते। आजकल के जमाने में जिस आदमी का राजनैतिक दर्शन आतंकवाद तक जाकर समाप्त हो जाता है, वह मानसिक विकास की दृष्टि से सात साल का बच्चा है। साफ बात यह है कि उसमें इतना नैतिक बल ही नहीं हो सकता, जितना कई आतंकवादी कहलानेवालों में सब लोग मानते हैं।"

"तुम तो ऐसे सफ़ाई दे रहे हो, जैसे स्वयं आतंकवादी होओ!" विद्याभूषण को सिर हिलाता देखकर शेखर फिर बोला, "पर मुझे यह दीखता है, यह सब ग़लत है। हिंसा से कभी कुछ नहीं हो सकता। वह नकारात्मक है। वह निरा संहार है, उससे सृजन नहीं हो सकता। यह नश्तरवाली ही बात लो, रोग का इलाज तो चिकित्सा है, नश्तर तो नहीं करती है। नश्तर नगण्य चीज है, स्वास्थ्य-लाभ तो बाद की महीनों लम्बी शुश्रूषा से होता है। इसी तरह परिस्थितियों का सुधार स्वाभाविक विकास द्वारा ही होगा।"

"यों ही सही। नश्तर नगण्य ही सही, अस्थायी ही सही, पर अनिवार्य तो है न? समाज के लिए की गई हिंसा के बाद भी सामाजिक चिकित्सा होती है—चाहो तो मुख्य चीज उसी को समझ लो। उससे पहली आवश्यकता नहीं मिट जाती।"

शेखर को एक और बड़ा कौर मिल गया था—इसे काफ़ी चबाने की जरूरत थी।

तसल्ली उसे नहीं हुई थी। उसे लगता था, तर्क में कहीं कुछ त्रुटि अवश्य है। आपद्धर्म—एक अनिवार्य बुराई—इस तरह की बातें उसने पहले सुनी थीं—विश्वामित्र की कुत्ते का मांस खाने की बात उसने बहुत पहले सुन रखी थी—पर उसे लगता था, यह आदर्श की कोई कमजोरी है, जिसे हम हेतुवाद द्वारा छिपा लेना चाहते हैं। हिंसा-कर्म को तात्क्षणिक भी मानना सब कुछ मान लेना है, हिंसा को स्वीकार कर लेना है। अगर हत्या द्वारा मानवता अपनी रक्षा कर भी लेती है, तो अन्ततः वह एक पाप-कर्म की आड़ में ही जीती है। प्रश्न सीधा है—हिंसा उचित है या नहीं है, या तो वह पूर्णतया अनुमोदित हो सकती है या पूर्णतया वर्जित। किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में आगे का मार्ग नहीं दीखता....



शेखर के बड़े भाई ईश्वरदत्त के साथ शशि उससे मिलने आयी।

शेखर ने इच्छा की थी, पर आशा नहीं। वह नहीं जानता था कि आशा करने का कोई कारण हो सकता है। नहीं....शशि वहीं शहर में होती, तब तो आशा होती, पर दूर गाँव से, और अकेली....

पर वह आ गई। शेखर का अन्तर इतना भर उठा कि वह उससे बात भी न कर सका, और भेंट का समय समाप्त हो चला....वह ईश्वरदत्त से बात करते-करते बीच में क्षण भर स्थिर होकर उसकी ओर देख लेता, और फिर भाई से बात करने लगता....

जब बिलकुल ही समय आ गया, तब अन्त में शशि ने पूछा, "शेखर, क्या तुम सचमुच शामिल थे?"

शेखर ने भेदक दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह जानना चाहता था कि उसके मन में क्या है—डर, चिन्ता, प्रशंसा—क्या....कुछ नहीं दीखा। उसने सरल गाम्भीर्य से कहा, "नहीं।"

शशि कुछ बोली नहीं। शेखर को लगा, मानो और कोई जिज्ञासा या माँग शशि को नहीं है; उसे विस्मय हुआ इसीलिए अपने भावों के तूफान से कुछ अलग होकर उसने पूछा, "क्यों, शशि? तुम्हें तसल्ली हुई क्या?"

"कैसी तसल्ली?"

"कि मैं निर्दोष हूँ?"

"ऊँ—हाँ, कुछ तो हुई ही—"

"क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो?"

"तब भी तसल्ली होती, मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने ही से मुझे सन्तोष हो जाता है, डर नहीं होता।"

कितना चाहता था शेखर यह पूछ उठना, "क्यों शशि, इतना विश्वास है तुम्हारा मुझमें...." पर भाई की उपस्थिति ने उसे साहस नहीं दिया। एकान्त में भी वह इतना

निजी प्रश्न उससे उस समय पूछ सकता, वह नहीं जानता, पर शशि ने मानो वह अव्यक्त जिज्ञासा पढ़ ली ; तभी तो चलते-चलते उसने शेखर की ओर स्थिर आँखों से देखकर कहा, "वीर कभी अपराधी नहीं होते...." और वढ़ गई—शेखर ने उसकी आँखों की वत्सलता से रोमांचित होकर मन-ही-मन उस आदिम बहन को प्रणाम किया, जिसने पहले पहल भाई के लिए 'वीर' शब्द का आविष्कार किया था....कितना महत्त्व था जेल में वात्सल्य का !—प्रेम—प्रेम अन्ततः एक वासना है और वासना की तो क्रीड़ास्थली ही है जेल ; पर वात्सल्य....



मुकदमा अत्यन्त नीरस हो गया था। आज के बाद कल, कल के बाद परसों—नित्य वही कहानी नए-नए गवाहों के मुख से नए-नए रूप में सुनना, एक ही सत्य को उलटाकर दिखाने के लिए वकीलों के दाँव-पेंच और कलाबाजियाँ....एक दिन ऊब-ऊबकर ही अन्त में शेखर ने अपने लिए मनोरंजन की सामग्री पैदा कर ली थी—उसने वकील की दलीलों की विडम्बना लिखकर पहले अपने मित्रों को दिखाई थी और फिर लिफ़ाफ़े में बन्द करके हाकिम के आगे रख दी। उस समय मजिस्ट्रेट साहब वकील की बातें सुन रहे थे, उन्होंने लापरवाही से पूछा था, "क्या है, दरख़्वास्त ?" और सुनते रहे थे। पर दुपहर की छुट्टी के बाद जब इजलास फिर बैठा, तब उन्होंने एक तीव्र दृष्टि से शेखर की ओर देखा था, जिसमें थोड़ी-सी दया सी थी, थोड़ी-सी खीझ ; और उनके दबाकर प्रभावोत्पादक बनाए गए ओठों पर एक हल्की-सी मुस्कराहट खेल गई थी....शेखर निश्चय से नहीं कह सका कि उनके मनोभाव वह समझ गया है, पर अपनी दलीलें याद करके वह भी मुस्करा दिया था. .."जनाब, गवाह कहता है अमुक चीज ऊपर थी, अमुक नीचे, अमुक दाईं ओर....लेकिन अगर हम सिर के बल खड़े होकर देखें—और स्पष्ट है कि वैसे देखे बिना न्याय की रक्षा नहीं हो सकेगी—तब जो ऊपर बताया गया, वह वास्तव में नीचे होगा, और जो दाएँ बताया गया है, वह निर्विवाद रूप में बाईं ओर....ऐसा विकृत और झूठा बयान देनेवाला गवाह बिगड़ा हुआ ही हो सकता है ; आपसे निवेदन है कि उसके बयान को महत्त्व न दिया जाए और हमें अनुमति दी जाए कि हमीं जिरह कर सकें...."

लेकिन इस तरह की बात नित्य नहीं हो सकती थी, और अदालत में बैठे-बैठे प्रायः शेखर पाता कि उसका ध्यान शशि की ओर चला गया है। वह उसके कहे हुए एक-एक शब्द को याद किया करता और मानो मन का प्रकाश उन पर केन्द्रित करके उनका चित्र लिया करता ; फिर विस्मय से सोचा करता कि क्यों यह लड़की उसके भीतर इतना महत्त्व पाती जा रही है....वह उसकी बहन लगती थी अवश्य, पर शेखर की बड़ी बहन सरस्वती की तरह वह क्यों नहीं थी ? सरस्वती को भी शेखर पर बड़ा स्नेह रहा था—अब भी था, यद्यपि अब शादी हो जाने के बाद दो-तीन बच्चों की माँ है।

वाद वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु हो गई थी—और सरस्वती से भी शेखर ने बरावर का सहज विश्वासी वन्धुत्व पाया था, पर....वह नहीं जानता कि वह उस भेद को कैसे कहे, और जब कह नहीं सकता तो कैसे अपने को समझाए....शशि को जैसे वह उस सहज स्वीकृति में नहीं ला सकता था, जिसमें सरस्वती को उसने पाया था—सरस्वती तो 'थी' ही। शेखर ने होश सँभालने के समय से ही उसको अपने आसपास देखा था—पर शशि मानो उसकी अपनी स्नेह का परिणाम थी, असंख्य प्राणियों के उस उलझे संसार में से उसने उस एक को खोज निकाला था, अपने स्नेह के दायरे में बिठाने के लिए; वह वहिन, यानी अपनी होकर भी नई, कुछ अपरिचित, कुछ आयास-सिद्धि थी....जैसे उसे अपनाने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था....नहीं, यह बात नहीं थी—वह नहीं समझ सकता था कि क्या वात थी....

शशि फिर मिलने आयी थी। इस वार शेखर ने अपने में वात करने का साहस पाया था, और उसे जेल की कई एक वातें सुनाई थीं। वह चुपचाप सुनती गई थी, उसकी विस्फारित आँखें शेखर पर टिकी थीं....बहुत देर वाद शेखर ने एकाएक जाना कि आँखें वहीं स्थिर होने पर भी मन उनके पीछे नहीं है; जैसे शशि उसकी अर्थहीन वातें सुनती हुई उसे कुछ कह रही है।

"क्यों—कुछ कहना है?"

शशि चौंकी नहीं, मुस्करा दी।

"जिन लोगों ने उस सी० आई० डी० वाले को मारा था, उन्हें तुम जानते हो?"

"हाँ, क्यों?"

"सव पकड़े गए?"

"नहीं, अधिकांश वाहर हैं।"

"अच्छा? और तुम्हारे अलावा वाकी सव थे?"

"हाँ, थे ही, यद्यपि—पर खैर वे कानूनी वातें हैं।"

"तो, तुम पकड़े कैसे गए?"

शेखर ने संक्षेप में वता दिया कि घटनास्थल पर ड्यूटी दे रहे होने के कारण वह फँसा लिया गया है।

"तुम ड्यूटी देते थे—क्यों?"

शेखर ने परिस्थिति समझा दी।

शशि कुछ देर तक चुप रही। फिर वोली, "तुम सन्तुष्ट हो?"

शेखर ने उससे आँख मिलाकर कहा, "मैं सुखी हूँ। कालेज आते समय तुमने जो वात कही थी, वह मैं भुला नहीं सका।"

शशि ने कुछ विस्मय से कहा, "मैंने? क्या कहा था—मुझे तो याद नहीं।"

"अच्छा है। श्रेष्ठ दान दे, तो भूल ही जाना चाहिए। शशि—"

शशि की आँखों में जो प्रश्न था, वह धीरे-धीरे मिट गया। उसकी मुद्रा देखकर

शेखर को भी न जाने कैसा लगा—जैसे दूर के भाई-बहन होकर भी एक ही धमनी का रक्त दोनों में प्रवाहित हो रहा है, और उस सम्पूर्ण ऐक्य में कथोपकथन को स्थान नहीं है....क्या ऐसा ही भाव शशि के मन में था ? वह कैसे जाने ?

शशि जाने लगी तो उसने पूछा, "पर तुमने बताया नहीं—"

"क्या ?"

"तुम कुछ बताना चाह रही थी न—मुझे दीख गया।"

शशि की मुस्कराहट में वेदना थी। उसने रुकते-रुकते कहा, "हाँ, चाहती थी। पर कह नहीं सकती—यहाँ नहीं। और लिख भी नहीं सकती—मैं नहीं चाहती कि ऐसी बेहूदा चिट्ठी लिखूँ, जो जेलवालों को पढ़ने दी जा सके।"

"मैंने भी एक लिखकर फाड़ डाली थी। तब ?"

"देखो—" कहकर वह चली गई। यदि वह जानती कि जेल में किसी का मन उकसाकर उसे असन्तुष्ट छोड़ जाना क्या होता है, तो..

●

उस रात शेखर ने वह किया, जो जेल के अन्य कैदियों को करते सुनकर वह झुँझलाहट से दाँत पीसकर रह जाता था—बन्द होने के कुछ समय बाद जब गिनती हो चुकी और ताले ठोंके-बजाए जा चुके और "नम्बर—अच्छा—भा-भा" की पुकार उस 'सब-बुराई' के रौरव की विडम्बना कर चुकी और कुछ शान्ति हुई, तब उसने दोनों हाथों से कोठरी के द्वार के दो सींखचे पकड़े और अपने तन के समूचे जोर से उन्हें झकझोरने लगा। उसका शरीर झनझना उठा, दाँत जैसे रेत की रगड़न से किचकिचा उठे; ताला, सींखचे, फाटक सब खड़क उठे और सहानुभूति से बाहर आँगन के पार का लोहे के पत्तर का किवाड़ भी क्रुद्ध फुँफकार-सी कर उठा ...उसके तने हुए शरीर के हिलाने से उसकी ऐन्द्रिक अनुभूति ने मानो पृथ्वी के ही कम्पन का रूप ले लिया, वह असह्य कर्कश कोलाहल मानो किसी संहारक शक्ति के ताण्डव-सा गूँज उठा....वह उसे सह नहीं सकता था—सह नहीं सकता था इसलिए और भी जोर से फाटक को झकझोरता था... मैं इस बन्धन को तोड़ना चाहता हूँ, मुक्त होना चाहता हूँ, क्योंकि किसी को मुझे कुछ कहना है और वह जानना मेरे लिए आवश्यक है, सुख से अधिक आवश्यक, शान्ति से अधिक आवश्यक, जीवन से अधिक आवश्यक, मेरे बल से, पुरुषार्थ से भी अधिक आवश्यक.. विवश, विवश, विवश, क्रुद्ध क्षोभ....व्यर्थ, व्यर्थ, उद्‌भ्रान्त अहंकार...

उसकी विवश उद्‌भ्रान्ति ने ही अन्त में सान्त्वना दी—पसीने से तर, थकान से लड़खड़ाता, दूसरे कैदियों की अवमानना के लिए लज्जा में डूबा हुआ वह गद्दी पर आ गिरा और निस्पन्द, निश्चल आँखों से छत की ओर देखा किया....

उसे कुछ कहना है, मैं जानना चाहता हूँ, मैं जानना चाहता हूँ, मैं....

एकाएक वह तड़पकर सीधा हो गया, एक आँधी-सी उसके मन को हिल

घण्टे बाद खजूर की चटाई के नीचे से ताज़े कीचड़ की बू ने ही उसे बताया कि वह अभी तक अवश सिसकता जा रहा है....



एक निर्बुद्धि कुहासा शेखर के मन पर छा गया—जड़ मनहूसियत का एक पर्दा-सा। उस रात उस तरह रोने के बाद से ही जो घनीभूत कुछ उसे दबाए जा रहा था, उसे किसी तरह भी वह उतारकर न फेंका सका।

धीरे-धीरे एक डर-सा उसे लगने लगा—क्या मैं हार रहा हूँ ? क्या जेल का जीवन मुझे तोड़ रहा है ? क्या मैं कायर हूँ ?...जैसे किसी भीतरी घाव में कंकड़ चुभे, ऐसे ही यह संशय उसके भीतर चुभता था....नहीं तो मैं क्यों ऐसे बेबस होकर रोया ? जो समर्थ हैं, जो वीर हैं, वे क्या रोते हैं ? ऐसे कोठरी में अकेले बन्द पड़कर भेड़ की तरह मिमियाते हैं ?

उसने कहीं पढ़ा था, जो रो नहीं सकता, वह अवश्य विश्वासघात करता है, रो सकना अपने प्रति—अपने हृदय के प्रति—सच्चे रहने का लक्षण है....शायद वह ठीक है....पर यह—यह और चीज है; यह तो निरी निपट निर्बल बेबसी है....

किन्तु रोने के बाद उसे क्यों लगा था कि वह हल्का है, साफ़ है, और, हाँ समर्थ भी है....हारने में तो ऐसा नहीं होता; हार में तो प्रत्येक बार आदमी अपने को कुछ अधिक निर्बल, कुछ पतित अनुभव करता है....क्या वह पतित हो गया है—हो रहा है ?

उसका आहत व्यक्तित्व इस प्रश्न पर विद्रोह से चीत्कार उठा; पर निर्दय परीक्षक की तरह वह पूछता ही जाता, क्यों, अगर झूठ है तो तुम्हें चुभता क्यों है ? बोलो, बताओ, क्या तुम अपराधी हो, पतित हो ?

अगर उसे ज़रा भी सन्देह होता कि जेलवालों ने उसका यह रूप देखकर उसे 'पराजित' समझकर ही कुछ अधिक स्वाधीनता दी है, तो वह उसे लेने से इनकार कर देता। अब उसे कहकर तो कुछ नहीं दिया गया था, किन्तु टहलते समय वह अपनी कोठरियों की कतार से आगे बढ़कर दूसरी कतार—'भारतवर्ष'—तक चला जाता तो वार्डर उसे रोकता नहीं था और प्रायः कैदियों से बात भी कर लेने देता था।

ऐसे ही एक दिन शेखर एक कोठरी के बाहर के आँगन में घुसा, तो वार्डर ने कहा, "बाबूजी, दारोगा साहब हमारी जान को आ जाएँगे—" पर उसके स्वर से ही शेखर ने जान लिया कि दारोगा की ओर से कोई मनाही नहीं है, वार्डर स्वयं ही उसे उस विशेष कोठरी में जाने से रोकना चाहता है। वह कैदी अवश्य ही कोई खास आदमी होगा। वह वार्डर की उपेक्षा करके भीतर घुस गया।

"आप शायद कुछ ही दिन से यहाँ हैं ?"

प्रश्न की आत्मीयता और उसकी ध्वनि की सहज प्रसन्नता से शेखर ने चौंककर देखा। सींखचों से सटा हुआ एक वृद्ध चेहरा, ऊपर शुभ्र जटा और नीचे धवल दाढ़ी से

आवृत एक निर्मल मुस्कान से उसका स्वागत कर रहा था। मानो हिमशृङ्ग पर धूप खिल आई हो....

शेखर ने विस्मय से कहा, "आपने कैसे जाना ?"

"आपके चेहरे पर दीखता है। नया चेहरा हमेशा प्रश्नों से भरा हुआ होता है—वह जानना चाहता है। पुराने पापी तो ताक में रहते हैं कि कोई सुननेवाला मिले। जीवन समाप्त होने पर एक ही बात तो बची रहती है—उसकी कहानी!"

शेखर ने नए विस्मय से भरकर पूछा—"आप कौन हैं ?" इस व्यक्ति के आगे शिष्टाचार मानो स्वयं झर जाता था—प्रश्न या तो सीधा-सीधा पूछा जा सकता था, या नहीं-ही पूछा जा सकता था।

"मेरा नाम मदनसिंह है। सन् '१६ में पकड़ा गया था। तब से जेल में हूँ।"

इक्कीस वर्ष जेल में रहकर यह आदमी ऐसे हँस सकता है? शेखर को लगा कि वह कुछ छोटा हो गया है, या उसके सामने वाला व्यक्ति कुछ ऊँचा उठ गया है।

"मैं तो अभी आया हूँ, यह आपने जान ही लिया। कालेज में पढ़ता था, वहाँ से यहाँ पहुँच गया।"

"कौन-सी श्रेणी में ?"

"एम. ए. में। पिछले साल बी. ए. पास किया था।"

"भाग्यवान् हैं आप! मैं तो बिलकुल अनपढ़ था जब आ गया—यहीं मैंने पढ़ना-लिखना सीखा, और यहीं रो-रोकर उन बड़ी बातों को जानने की कोशिश की है, जिनके बिना कोई जी नहीं सकता। और आप—आप विद्या लेकर आए हैं। आपके सामने भारी दुर्ग है, लेकिन, उसकी चाभी आपके पास है।"

शेखर कुछ सोचता हुआ-सा बोला, "पता नहीं—मैं तो अपने को बहुत छोटा अनुभव करता हूँ।"

"है भी मनुष्य कितना छोटा! पर आप मेरी बात मानें न मानें, है वह ठीक। मैंने अपने लिए चाभी स्वयं अपने कष्ट से बनाई थी। आपने सुना है न गरीब की साँस वह धौंकनी होती है, जो लोहा गला दे? उसी से मैंने काम लिया...." एक मधुर हँसी फिर कोठरी में गूँज गई।

शेखर के मुख पर स्पष्ट अविश्वास का भाव दीख गया। कोशिश करने पर भी वह उसे नहीं छिपा सका।

"हाँ, मैं समझ रहा हूँ—आप सोच रहे हैं, यह आदमी बन रहा है। लेकिन सच मानिए, जहाँ मेरी बुद्धि रह गई, वहाँ आँसुओं के जोर से, हाँ, आँसुओं के जोर से मैं जिया—" एकाएक कोठरी के भीतर की ओर घूमकर उन्होंने कहा, "यह देखिए, मेरे पास सबूत भी है। यह आप पढ़ सकते हैं?"

सामने की दीवार पर जहाँ मदनसिंह ने उँगली रखी थी, कुछ कठिनाई से शेखर ने लिखा हुआ वाक्य पढ़ा—'दासता क्या है? अप्रिय तथ्य का ज्ञान नहीं, अगत्य का ज्ञान

भी नहीं; दासता है सत्य या असत्य की जिज्ञासा को शान्त करने में असमर्थ होना; वह बन्धन, वह मनाही, जिसके कारण हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छिन जाता है।'

"और यह देखिए।"

शेखर ने परिश्रम से पढ़ा—'हमारी सभ्यता मानव की शैशवावस्था को बढ़ाने का अनन्त प्रयास है। वह चाहती है सुरक्षा, पुरुषत्व माँगता है साहस!'

"और इधर अँधेरे में है; आप कहें तो सुना सकता हूँ। पर आप शायद अब जाएँगे। खैर, काम की बात यह कि इनमें एक-एक नुस्खा पाने के लिए मैं घण्टों रोया हूँ। मुझे दीखता है कि शान्त बैठ रहना तपस्या नहीं है, शान्त न बैठ सकने से ही तपस्या शुरू होती है।" एकाएक उनका चेहरा फिर खिल गया। "देखिए,—विद्यावान् के निकट आने से ही मैंने बिना रोए यह बड़ी बात जान ली।"

शेखर झेंपा-सा चुप रह गया। मदनसिंह कहते गए "ऐसे सौ-एक सूत्र लिखे पड़े हैं। यह तीन साल का काम है—तब कोठरी में सफ़ेदी हुई थी। उससे पहले, के मिट गए—एक आध शायद दीख सके—" वे एक कोने की ओर झुके, "हाँ, यह देखिए, 'क्रान्ति का प्रमाण यह है कि उसके लिए चारित्र्य आवश्यक है।"

सीधे होकर उन्होंने शेखर की ओर देखा, वह कुछ कहने को उतावला हो रहा था। "आप कहेंगे कि यह सब मैं किताबों में पढ़ चुका हूँ? आपके पास विद्या की चाभी थी—मैं तो अभी सीख रहा हूँ।"

शिष्टाचार इस आदमी के आस-पास कहीं नहीं फटका था—उसकी विनम्रता भीतर के किसी झरने से फूटी पड़ती थी। अपने को और भी तुच्छ अनुभव करते हुए शेखर ने कहा, "आपको तीन साल इसी कोठरी में हो गए?"

"तीन? मैं तो नौ साल से इसमें हूँ। लेकिन आपने उस पठान की कहानी सुनी है न, जो जेल में तीस साल काटकर अपनी आयु अट्ठाईस बताता था।" शेखर का सिर हिलता देखकर—"जब वह जेल से लौटा तो किसी ने पूछा, 'खान, तुम्हारी उम्र कितनी है?' बोला 'अट्ठाईस'। पूछनेवाले ने फिर कहा 'जेल में कितनी देर रहे?' तो जवाब दिया 'पता नहीं।' जेल गए तब कितनी थी?' बोला, 'अट्ठाइस!' पूछनेवाले ने जब उसके गणित पर आपत्ति की तो बोला, 'जेल क्यों जोड़ते हो? उन दिनों तो कुछ हुआ ही नहीं, तो उम्र कैसे बीत गई?' वही हाल मेरा है। पर बाल तो पक ही जाते हैं—" एक हल्की-सी उदासी उनकी आँखों में दौड़ गई।

शेखर के भीतर तीव्र कामना जागी कि वह इस धवल-जूट शिशु को हाथ जोड़कर अभिवादन करे....किन्तु किसी मिथ्या अहंकार ने कहा—'नहीं, यह नहीं करना होगा—' उसने सोचा, विदा लेकर चले।

"आप ऊब तो नहीं गए—फिर आएँगे न? मैंने कहा था खूसट बुड्ढे सुनाना ही चाहते हैं, कोई मिल जाए सही सुननेवाला!" मदनसिंह फिर मुस्करा दिए।

शेखर का आन्तरिक तनाव मानो दूर हो गया। उसने हँसकर कहा—"और मैं तो

जिज्ञासु हूँ हो !" फिर एकाएक गम्भीर स्वर में उसने कहा, "आपकी बातों से अभी ही कई प्रश्नों का उत्तर मुझे मिल गया, जिन्हें पूछने का साहस मुझमें नहीं था। मालूम होता है कि अहंकार स्वाभाविक होता है, विनय सीखनी ही पड़ती है।"

"सूत्र बोलने का रोग आपको भी लगा क्या ? जेल में बातचीत ही अस्वाभाविक हो जाती है।"

आँगन के फाटक तक पहुँचकर एकाएक शेखर ने अपना सारा साहस बटोरकर लौटकर कहा, "पिछले हफ़्ते मैं भी खूब रोया था—" और तब एकाएक कृतज्ञता और लज्जा से भरकर जल्दी-जल्दी अपनी कोठरी की ओर बढ़ गया....

o

फिर एक दिन घूमता हुआ वह 'भारतवर्ष' वाली कतार की परली सीमा तक चला गया था। आखिरी चार कोठरियों में शायद फाँसी के कैदी थे—उनके आँगनवाले पत्तर के फाटक बन्द थे और भीतर सन्तरी बन्दूक लिये पहरा दे रहा था। शेखर लौट पड़ा।

कुछ-एक कोठरियाँ लाँघकर वह सोच ही रहा था कि किसी कैदी से बात करे, कि एकाएक पुकार आई, "ओ मौलवी !"

शेखर कल्पना नहीं कर सकता था कि यह पुकार उसके लिए थी, पर उसके साथ का वार्डर सिख था, और पुकार फिर आई, "बात तो सुन जा, ओ मौलवी !"

शेखर ने आँगन में खड़े होकर पूछा, "मुझे पुकार रहे थे क्या ?"

"हाँ, और किसे। मौलवी तो बने हुए हो, कितने दिन से हजामत नहीं बनाई है। उस्तरा नहीं है क्या ?"

"है तो, पर यहाँ कौन देखता है, यों ही नहीं बनाई।"

"अरे भले आदमी, कोई नहीं देखता तो क्या अपने भी नहीं चुभती ? और खुद तो बाहर जाने लायक बने ही रहना चाहिए—फिर कोई छोड़े न छोड़े, बला से !" वह अपने बड़े-बड़े पर सुघड़ और उज्ज्वल दाँत निकालकर हँस पड़ा।

शेखर तय नहीं कर सका कि इस सहज परिचय का सामना किस तरह करे। अगर यह आत्मविश्वास से उत्पन्न हुआ है, तब तो इसका सम्मान करना चाहिए, अगर ओछेपन से तो—

"न हो तो एक पतरा मुझे ही भेज देना। मुझे तो हर समय रिहाई के लिए तैयार रहना अच्छा लगता है।"

शेखर ने हँसकर कहा, "अच्छा, कल ला दूँगा।"

"तुम उन्हीं नए पोलिटिकलों में से हो न, जो सी० आई० डी० वालों को पीटने के जुर्म में आए हैं ?"

"हाँ।"

"ठीक। अच्छा, मैं तुम्हें मौलवी कहा करूँ न ?"

तुम्हारी मर्ज़ी है ।"
मौलवी होते तो मक्कार हैं, पर मेरा मौलवी हिन्दू होगा तो निभ जाएगी ।"
शेखर चुप रहा ।
"और सुनो, मुझे यहाँ अकेला-अकेला लगता है । शाम को अच्छा नहीं लगता । तुम
री कोठरी में हो ?"
"परली कतार में—बारहवीं में ।"
"अरे इतनी दूर ! खैर । मैं शाम को तुम्हें गाना सुनाया करूँगा । गाना बुरा तो
हीं लगता ?"
"गाना हो, तब तो बुरा नहीं लगता ।"
वह ठठाकर हँसा । "यह तो तुम जानना कि गाना है या नहीं, मैं तो गा दूँगा ।
अच्छा, अब जाओ ।"
शेखर चलने लगा ।
"मेरा नाम है मोहसिन—मुहम्मद मोहसिन । पर तुम मुझे क्या पुकारोगे ?"
शेखर ने शरारत से कहा, "पंडित ।"
"वाह-वा ! ठीक है । तब मैं हजामत करके तिलक भी लगाया करूँगा ।"
लौटते हुए शेखर को वार्डर ने बताया कि यह लड़का मोहसिन अजब लफंगा है—हर किसी को तुम करके बुलाता है—दारोगा और साहब को भी—और हर वक्त ठट्ठा करता रहता है । लावारिस है, बाप-मां, भाई-बन्द कोई नहीं है, तभी ऐसा उलंग हो गया है । एक मौलवी ने पाल रखा था और पढ़ाया था, पर पीछे स्कूल में बिगड़ गया, और बगावत फैलाने के जुर्म में एक साल की सजा पाकर आया है । पाँच महीने काटे हैं । हरदम, हरवक्त शरारत ही उसे सूझती है, और बराबर सजाएँ पाता रहता है—आजकल भी रात को हथकड़ी लगती है ।
"रात को हथकड़ी ?"
वार्डर ने बताया कि जेल के दण्ड-विधान में यह भी एक सजा है । शाम को बन्द
करते समय कैदी के हथकड़ी लगा दी जाती है, सवेरे खोली जाती है जब मशक्कत क
वक्त होता है । बदमाश हो तो उलटी भी लगाते हैं—पीठ के पीछे । तब रात भर औं
पड़े रहना पड़ता है । "पर, बाबूजी, यह लड़का अजीब बेशरम है कि पिछले पन्द्रह
से उलटी हथकड़ी भी लग रही है, पर शरारत से बाज नहीं आता ।"
"क्या करता है ?"
"एक तो मशक्कत नहीं करता । कहता है, मैंने बगावत फैलाई, तुमने जेल
दिया । अब मशक्कत क्यों करूँ ? तुम मेरे लिए चक्की पीसो, तब मैं भी बद
लिए पीस लूँगा । दूसरे जो मशक्कत दें, फेंक देता है । चक्की पीसने को दी
सब कबूतरों को चुगा दी । पूछने पर बोला, कबूतर मेरे भाई हैं, मुझे खुश
साहब ने बेड़ियाँ डलवा दीं तो बेड़ियों से चक्की उखाड़ डाली, ईंटों से एक बड़

बनाकर उसमें मिट्टी भर दी और पानी डाल दिया। फिर पेशी हुई तो कहने लगा कि मैंतो भर्ती गया—उसमें सबको कोई है। लड़का क्या है, शैतान की औलाद है!''

शेखर का कौतूहल जाग गया था। उसने मोहसिन से फिर मिलने की ठानी, और कोठरी में चला गया।

शाम को वह बैठा न जाने क्या सोच रहा था कि दूर कहीं कोठरी का 'जंगला' खड़कने की आवाज़ उसने सुनी। उसका शरीर तन गया—उसे वह अवस्था याद आई जब उसने भी सीखचें पकड़कर झकझोरे थे....उसका हृदय समवेदना से भर आया—इस समय कोई वैसी ही अवस्था में से बीत रहा है, जिसमें से वह निकला था....वह कान देकर सुनने लगा। एकाएक वह कोलाहल बन्द हो गया, और शेखर ने सुना, जैसे कोई पुकार रहा है—

क्या उसने ठीक सुना था? पुकार फिर आई—हाँ, मोहसिन पुकार रहा था—उसने भी दोनों फेफड़े वायु से भरकर, मुँह उठाकर, स्वर को पता करने के लिए हाथों की आड़ देकर बचपन में सुनी हुई किसानों की पुकार की नकल करते हुए पुकारा—''पण्डित हो—ओ!''

इस बार मोहसिन ने सुना। ''गाना सुनाऊँ?''

''हाँ, सुनाओ।''

''क्या करते थे?''

''बैठा था।''

''अच्छा सुनो।''

शेखर ने कल्पना में ही अट्ठाइस कोठरियों को दूरी नापी और वहीं ध्यान केन्द्रित किया। कहते हैं कि इन्द्रियाँ अपना काम अलग-अलग करती हैं, शेखर ने जैसे पाँचों-छहों इन्द्रियों की एकाभूत ग्रहण-शक्ति से मोहसिन का गाना सुना—

'' ... . आया तो क्या

.... ''

मोहसिन का गला अच्छा था। स्वर में तीव्रता भी थी और पतलापन भी। इतना अधिक चिल्लाने में उसमें कभी-कभी कर्कशता आ जाती थी—वह फट-सा जाता था—पर फिर भी उसका स्वाभाविक तरंगित कम्पन श्रोता में भी एक सिहरन पैदा करता था—जैसे उसमें चुपचाप सही हुई यातना का 'धक्—धक्—' स्पन्दन गूँज रहा था . .

''मिट गईं जब सब उम्मीदें मिट गए सारे खयाल—
उस घड़ी फिर नामाबर लेकर पयाम आया तो क्या?''

गीत बन्द हो गया। शेखर का तनाव कुछ ढीला हुआ—

''है गाना?''

''है। बड़ा अच्छा है।''

''और सुनाऊँ?''

थक नहीं गए ?"

'गाते नहीं थकता मैं !"

"अच्छा, सुनाओ।"

मोहसिन फिर गाने लगा। किन्तु दो-तीन कड़ियाँ गा लेने के बाद उसका स्वर कुछ पड़ने लगा, और क्रमशः उसे सुनना असम्भव हो गया। शेखर ने नहीं चाहा कि सूचित करे—वह उस पागल साहसिक के प्रति झुँझलाहट, प्रशंसा और कृतज्ञता से र रहा था....

दस-एक मिनट के बाद फिर पुकार आई, "मौलवी ओ-ए !"

"पण्डित हो !"

"अब सो जाओ ! कल और सुनाऊँगा।"

"अच्छा।"

नीरवता। शेखर को याद आया, अभी अभियुक्त होने के कारण उसके पास लालटेन है, वह पढ़ता रहेगा, फिर सो जाएगा। पर मोहसिन कैदी है, उसके पास प्रकाश नहीं है, है घनी रात। शेखर ने बत्ती नीची कर दी, उठकर कोठरी के द्वार पर जाकर जँगले पकड़कर बाहर अँधेरे आकाश की ओर देखता खड़ा रहा।

ऊपर बादल घिरे थे, अकाल मेघ—अर्थहीन और बेढंगे....

जेल में इस समय चौदह सौ बन्दी होंगे—और कम से कम सात सौ के पास प्रकाश नहीं होगा, और नींद का विस्मृति-जनक अन्धकार भी नहीं होगा....

नीरवता—सन्तरियों की पदचाप से, नम्बरदारों की 'सब अच्छा !' से और दूर कहीं उल्लुओं के 'हू-हू' कराहने से कर्कश नीरवता—शेखर अनझिप आँखों से अदृश्य काले आकाश को देखा किया....

टप्—टप्—वैशाख की पहली बूँदें....एकाएक शिथिल होकर शेखर जाकर लेट गया, और लालटेन के बहुत छोटे-से अधनीले प्रकाश को, और उसके कारण छत पर बने हुए अँधेरे वृत्त को, देखता रहा....

बन्धन....

◎

शेखर को एक पत्र मिला।

उसके पत्र पढ़े जाकर और कट-छँटकर भेजे जाया करें, यह उसे असह्य था, अतः उसने पत्र लिखना ही छोड़ दिया था। बाहर से भी पत्र बहुत कम आते थे, आते तो ऐसे जिनका उत्तर देना आवश्यक न होता। पर एक दिन वकील ने उसे कुछ कागज़ दि और कहा, "इन्हें सँभालकर ले जाइएगा, आपके मुकदमे के आवश्यक कागज़ हैं। पर—क्षमा करें, जेल जाकर ध्यान से पढ़िएगा।" और शेखर ने रख लिए; जब आकर वह बन्द हो चुका और रात घनी हो गई, तब उसने उन्हें निकालकर पढ़ना

किया। कागज़ों पर केवल मुकदमे का टाइप पर छपी हुई कार्रवाई का विवरण था, जिस पर यहाँ-वहाँ पेंसिल से कुछ नोट लिखे हुए थे; पर बीच में एक सुई से नत्थी किए हुए कुछ पन्ने थे, जिन्हें देखकर शेखर चौंक पड़ा—शशि का पेंसिल से बहुत बारीक लिखा हुआ पत्र था....

क्षण भर तक शेखर सब कुछ भूलकर बेबस रह गया—उसका हृदय इतनी ज़ोर से उछल पड़ा था कि मानो अब डूब ही जाएगा....फिर वह भूखी आँखों से पत्र निगलने लगा....

शशि का विवाह हो रहा था। वर का चुनाव हो गया था; आषाढ़ में तिथि भी नियत हो गई थी। और शशि नहीं चाहती थी विवाह—अभी कुछ वर्ष वह उसका विचार भी नहीं करना चाहती थी।

अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती-बातचीत को स्थगित कराने में; पर वह जेल में है, और—और कोई इस इतनी बड़ी दुनिया में है नहीं जो उसका पक्ष ले। माँ हैं पर वे अकेली हैं, समाज के विरुद्ध वे क्या करेंगी? अधिक से अधिक यह कि आषाढ़ से अगहन तक स्थगित कर देंगी, पर उससे क्या? वचन-बद्ध हो होंगी, तो कुछ नहीं कर सकेंगी....

एक धुन्ध-सी में शेखर को ध्यान आया कि पत्र रखना नहीं है, यन्त्रवत् उसने दुबारा उसे पढ़कर मानो मन में बिठा लिया, परिश्रम से उसके छोटे-छोटे टुकड़े किए, चक्की के एक ओर गेहूँ रखने के थाले में पानी भरकर उसमें उन टुकड़ों को मसलकर लिखत मिटाई और फिर गोलोले बनाकर बाहर फेंक दिया; तब वह पैर पटककर उठ खड़ा हुआ, कोठरी में चक्कर काटने लगा और सोचने लगा ...

वह क्या करे? कैसे शशि की सहायता करे? वह सचमुच नहीं चाहती विवाह; उसने स्वयं पत्र में लिखा है कि आम तौर पर लड़कियों को जो डर और अनिच्छा होता है, उससे शशि की अनिच्छा बहुत भिन्न है, वह अनिच्छुक भी है, अप्रस्तुत भी है और वह अपने को अन्याय का शिकार भी अनुभव करती है . .

मैं बाहर होता, तो कुछ करता ही। लड़ता-झगड़ता, बहस करता। शायद लड़का भी अच्छा न हो। उसे कालेज के अपने परिचित लड़के याद आए, जो भविष्य में सरकारी पद पाएँगे; सफल, और यशस्वी, और कन्याओं के पिताओं की विशेष अभिधा में 'योग्य' ठहरेंगे—क्या वह अपना बहन को वैसे किसी की गृहिणी देख सकेगा?

अगर वह नहीं चाहती विवाह करना, तो कौन-सी मजबूरी है विवाह की? समाज कौन है मजबूर करने वाला? सम्बन्धी कौन है? माँ कौन है? कोई भी कौन है उस पवित्र धर्मभूमि में, जिसमें आत्मा संकल्प लेकर अपने को दे देती है—'इदं कृष्णार्पणमस्तु इदन्न मम—' नहीं, 'इदं अग्नये इदन्न मम....अग्नये ...'अग्नये....यहीं है सत्य—नारी का आत्मा सदा हुतात्मा है ...

क्या मौसी को लिखा जाए? पर अपनी अनिच्छा तो शशि माँ पर प्रकट कर चुकी

है। क्या मौसी उसकी भावनाओं की उपेक्षा कर सकती हैं ? पर बातचीत तो वे आगे बढ़ा रही हैं। क्या शशि ने काफ़ी जोर नहीं दिया ?

अगर मौसी उसकी बात मानकर विवाह से इनकार कर दें तब क्या परिणाम हो सकता है ? एक तो जो लोग वर खोजने की दौड़-धूप कर रहे थे—मामा, चाचा, यह, वह—सब कहेंगे कि नहीं मिलता था तो रोती थीं, अब मिलता है तो दिमाग़ आसमान पर चढ़ा जा रहा है, ऐसा है तो अपना काम आप देखो, हमें कोई वास्ता नहीं।.... कहेंगे तो कहें, बला से ! बल्कि छुट्टी पा लेंगी मौसी।....दूसरे वर-पक्ष नाराज़ होगा—हो। तीसरे—तीसरे—तीसरे क्या ? आगे के लिए कठिनाई होगी—वर मिलेगा नहीं !.... जिस पुरुष-जाति में शशि जैसी स्त्री की कद्र नहीं होगी, वह पड़े चूल्हे में—शशि उसमें शादी किए बिना मर नहीं जाएगी।

क्यों नहीं मौसी इनकार कर देतीं ? क्या शशि के प्रति उनका उत्तरदायित्व नहीं है ? वे अनुभव नहीं करतीं ? मौसी विद्यावती न अनुभव करें तो कौन करेगा ? वे अवश्य करती होंगी। पर लड़की ब्याहना भी तो उत्तरदायित्व ही है। वह भी तो माता-पिता को करना होता है। दायित्व है या नहीं, कम से कम वे अवश्य मानती हैं और सारा समाज मानता है। संस्कार ही ऐसा है—परम्परा यही है।....पर ब्याहना कर्त्तव्य है तो क्या अच्छी तरह ब्याहना कर्त्तव्य नहीं है ? क्या यह 'अच्छी तरह' ब्याहना है ?....अच्छी तरह क्या होता है ? शिक्षा हो, धन हो, कुल हो, शील हो, चरित्र हो, रूप हो, यश हो....और इनकी कसौटी क्या है ? डिगरी हो, बँधी नौकरी या जायदाद हो, सम्बन्धी हाकिम हों, बातचीत सलीके से करे, कहीं निन्दा न सुनी गई हो, रंग गोरा और नाक-आँख भले हों, यार-दोस्त प्रशंसा करें या शायद अखबार में नाम छपे ! क्या ये चीज़ें आदमी बनाती हैं ? क्या ये और केवल ये आदमी को देवत्व का वह अंश दे देती हैं कि वह किसी की आजीवन तपस्या का पुण्य अपने खाते में लिखने का हक़दार हो जाए ?.... शेखर का मन फिर अपने कालेज के अनेक साथियों की ओर लौट गया—उफ़ ! इन सब वस्तुओं में भी तो कोई गारण्टी नहीं है कि कल्पना का देव-पुरुष वास्तविकता का यज्ञ-ध्वंसक राक्षस नहीं होगा ?

सारा प्रश्न यह है कि ब्याह के पहले किसका दायित्व है ? माँ-बाप का, या वर-कन्या का ? कौन-सा धर्म पहले है—कि व्यक्ति गृहस्थ बने, या पिता सास-ससुर बनें ? पितरों का काम सहायक का है, विधायक का नहीं।...क्या शशि ही को इनकार करना चाहिए ?

उसका परिणाम ? सम्बन्धियों का क्रोध तो है ही। माता का भी हो सकता है ; निन्दा भी है—'लड़की का चरित्र अच्छा नहीं है'....'माँ ने ही बिगाड़ा है'....और जो लड़की चरित्रहीना घोषित हो चुकी, उसकी चरित्रहीनता के प्रमाण खोजते कितनी देर लगती है ? और उसके बाद ? जिसे 'समाज के लिए खतरनाक' कह दिया जाता है, उसके लिए समाज तत्काल खतरनाक हो जाता है....'लड़की ने शादी नहीं की। क्यों

नहीं की ? आज़ाद तबीयत की होगी—और ऐसी तबीयत की लड़की क्या बीस वर्ष की उम्र में भी पुरुषों की उपेक्षा ही कर जाएगी ? असम्भव !' और निन्दक समाज निन्दित का प्रसाद पाने भी आ जुटेगा—नृशंस, राक्षस !

शेखर की बुद्धि में मानो गाँठ पड़ गई, इससे आगे वह नहीं सोच सका....वह द्रुत-गति से चक्कर काटने लगा, और हर कदम पर मुट्ठियाँ बाँधकर पूछने लगा, क्या करूँ—क्या करूँ—क्या करूँ ?....गति द्रुततर होती गई, कदम भी पाँच की बजाय तीन पड़ने लगे, इतनी जल्दी-जल्दी रुख बदलने से सिर भी घूम गया, पर प्रश्न का उत्तर नहीं मिला....उसका आवेश, उसकी पराजित बुद्धि का आक्रोश बढ़ने लगा—उसने दोनों हाथों से सिर पकड़कर भींच लिया, फिर मुट्ठियों में बाल भरकर मुट्ठियाँ ज़ोर से भींच लीं.... बाल खिंचने लगे, उनकी पीड़ा से सिर को कुछ शान्ति मिली, पर प्रश्न....क्या करूँ.. क्या करूँ ?

"और मौलवी ओ—ए !"

मोहसिन बुला रहा था। उत्तर देने की शेखर की इच्छा नहीं थी। उस समय वह शशि की समस्या के और अपने प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानना चाहता था—किसी भी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं चाहता था ! वह, और शशि की समस्या....

"मौलवी ओ-ए ! ओ मौलवी !"

उस शाम मोहसिन ने उसे नहीं बुलाया था, न जाने क्यों ? अब वह बार-बार पुकारता ही जा रहा था ; उसका स्वर ऊँचा ही उठता जा रहा था—

"मौलवी-ओ-ए ! मर गए ? ओ मौलवी !"

नहीं, वह पीछा नहीं छोड़ेगा। शेखर ने पुकारा, "पण्डित हो !"

"क्या कर रहे हो ?"

"कुछ नहीं।"

"बोले क्यों नहीं ?"

"ध्यान नहीं था !"

"रो रहे हो ?"

"नहीं—"

"अच्छा, सो जाओ, मैं नहीं बुलाता।"

क्या उसे दुःख पहुँचा ? और क्या शेखर के स्वर से ही वह भाँप गया कि शेखर परेशान है ? उसे कुछ परिताप हुआ। उसने अपने को मजबूत करके आवाज़ दी—"पण्डित हो !"

"हाँ, ओ-ए !"

"गाना नहीं सुनाओगे ?"

"अच्छा ? तुम्हारा जी नहीं है—"

"नहीं, सुनाओ।"

"अच्छा।"

मोहसिन गाने लगा :—

शेखर ने दो-एक कड़ियाँ सुनीं और सोचने लगा, मोहसिन को इस समय यह गाना क्यों याद आया ? क्या मेरे लिए ही वह गा रहा है ? किन्तु शीघ्र ही उसका मन भटकने लगा, गाना सुनना वह भूल गया।

पूछता था, 'रो रहे हो ?' उसने कैसे जाना ? वह भी रोया होगा कभी—पर मोहसिन ? असम्भव। रोना आया होगा तो किसी से लड़ पड़ा होगा, बस! बाबा मदनसिंह कहते थे, रोना अच्छा है—रोने से प्रकाश मिलता है! तीन वर्ष में सौ बार—बरस में तैंतीस—महीने में क़रीब तीन बार....इतना रोए हैं बाबा ? कितनी स्वच्छ है उनकी हँसी! कोई कल्पना करेगा कि यह आदमी रोता है ? और मैं—

एक क्रुद्ध झपेटे से शेखर ने आँख में आई हुई बड़ी-सी बूँद पोंछ डाली। फिर वह बैठ गया।

नहीं रोऊँगा—नालायक! प्रकाश मिलता है तो मिले! मुझे नहीं चाहिए रोकर पाया हुआ प्रकाश। मैं अपना रक्त जलाकर प्रकाश पैदा करूँगा....रक्त के आँसू—रक्त के आँसू—क्या मतलब ? रोना ही रक्त जलाना है ? बकवास। कमजोरी के बहाने हैं।

—और मैं—मैं ऐसा हूँ कि मोहसिन ने इतनी दूर से पहचान लिया कि मैं रोने-वाला हूँ ...इससे तो रोकर स्वच्छ रहना अच्छा—

नहीं, मुझे जवाब खोजना है। शशि के लिए मार्ग खोजना है....

वह उठकर जंगले पर चला गया, आकाश की ओर देखने लगा। इधर-उधर दो-चार तारे बिखरे हुए थे। अनजाने उसकी देह तन गई थी, उसके हाथ सींखचों को पकड़कर घुट गए थे—उसने चौंककर उन्हें छोड़ दिया।

नहीं, भीतर के इस उबाल को किसी तरह भी बिखरने नहीं दूँगा, किसी की सहायता नहीं लूँगा, स्वयं मार्ग खोजूंगा, अपने लिए और शशि के लिए, शशि के लिए और अपने लिए....

और चलकर काटना फिर आरम्भ हुआ—एक, दो, तीन, चार, पाँच—एक, दो, तीन, चार, पाँच....

और रात भी ढलती चली....ग्यारह, सब अच्छा! बारह, सब अच्छा! एक, स[illegible] अच्छा! दो, सब अच्छा!....शून्य—धुन्ध—शून्य....उसके आगे शेखर को बोध [illegible] हुआ जब उसने देखा कि उसके मुँह पर धूप पड़ रही है, आठ बजे हैं, और वह थका- [illegible] हाम्को पर पड़ा है।

क्या हुआ था ? स्मृति की लहर आई—शशि....

वह जान गया कि वह उसे क्या लिखेगा।

•

चिट्ठी लिख चुकने के बाद शेखर जैसे किसी तन्द्रा से जाग उठा; एकाएक उसके आसपास का जीवन फिर उसके सामने आ गया, उसकी सब जिज्ञासाएँ पुनः जाग उठीं; मुकदमे की ओर भी कभी-कभी उसका ध्यान जाने लगा। न जाने क्यों मुकदमे की अब लम्बी-लम्बी तारीखें पड़ने लगी थीं। शायद सबूत कमजोर समझा जाने लगा था और सरकारी पक्ष नई तय्यारी का प्रबन्ध चाहता था। शेखर कभी-कभी अदालत में बयान सुनकर सोचा करता कि उसका कितना प्रभाव किस ओर पड़ा है। पर प्रायः उसका ध्यान सिद्धान्त या व्यवहार के ऐसे प्रश्न लिये रहता, जिनका दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं—ऐसे प्रश्न जो विद्याभूषण से टक्कर होने पर बार-बार जाग उठा करते....

बाबा मदनसिंह से मिले शेखर को कई दिन हो गए थे। एक दिन अकस्मात् शेखर को विचार आया कि जो प्रश्न वह विद्याभूषण से पूछा करता है, वह बाबा से पूछे—बाबा की बातों से जान पड़ता था कि वे जो उत्तर देंगे; वह शास्त्रीय चाहे हों चाहे न हों, उसके पीछे गम्भीर विस्तार की शक्ति अवश्य होगी....

दूसरी बार मिलने पर भी बाबा मदनसिंह का आनन्दित विस्मय और स्वागतभाव उतना ही सरल था जितना पहली बार; पर उसके बाद फ़ौरन ही उन्होंने गम्भीर होकर पूछा था, "आप चिन्तित दीखते है—क्या बात है?"

बाबा से बात करना, प्रश्न करना कठिन नहीं था। शेखर ने संक्षेप में अपने और विद्याभूषण के विवादों की बात उनसे कह दी, और पूछा, "मैं आपकी राय जानना चाहता हूँ। पहले हिंसा का प्रश्न लीजिए। क्या हिंसा उचित है? और क्या वह लाभकर है।

बाबा मदनसिंह ने आँगन के फाटक की ओर देखकर पूछा, "आप अकेले हैं?"

इधर कुछ दिनों से वार्डर ने अपने कामों में काफी ढील देनी आरम्भ की थी—केवल बन्द करने का समय वह नहीं भूलता था। बाकी उसने शेखर पर छोड़ दिया था—"बाबू साहब, आप समझदार हैं, मुझ गरीब पर कोई मुसीबत न लाइएगा।"

बाबा मदनसिंह बोले, "देखिए, मैं आपसे कह चुका कि मैं पढ़ा-लिखा आदमी नहीं हूँ। मेरी बात में कुछ सार होगा तो इसीलिए कि मैंने जो पढ़कर नहीं जाना, उसे सहकर जानने की कोशिश की है। यह भी मैं कह चुका हूँ कि जेल में आदमी स्वाभाविक ढंग से नहीं रहता या सोचता, उसका तर्क विकृत होता है। तब मेरी बात का क्या मोल? मेरे तो कुछ-एक सूत्र हैं, जो मैंने अपनी तसल्ली के लिए गढ़ लिए हैं। एक सूत्र यह भी है कि हरएक को अपना रास्ता खुद बनाना चाहिए। यह सूत्र तो आपके शास्त्र में भी होगा?"

शेखर ने कहा, "मैं भी तो जेल में हूँ—अस्वाभाविक अवस्था में। तभी ये प्रश्न भी।

मेरे लिए इतने बड़े बन गए हैं—स्वाभाविक जीवन में इतनी बातें कहाँ सूझतीं ? बाहर तो प्रायः पाँचों ही इन्द्रियों से जीना होता है, यहाँ छठी ही पीछा नहीं छोड़ती। तो समाधान भी अगर अस्वाभाविक हो तो क्या बुरा है ? मुझे लगता है कि आपकी बात ही ज्यादा सच होगी, क्योंकि आप उसकी कमज़ोरी भी दिखाते जाएँगे।"

"आप पूछते हैं, तो मैं कहता हूँ। पर मेरी बात सुनकर भूल जाइएगा, मानिएगा नहीं ! कभी—अगर आपको यहीं रहना पड़ा—तब आप खुद सब बातें जान लेंगे—आप तो पढ़े-लिखे भी हैं—तब चाहे इस बुढ़ऊ की बातें याद करके मिलान कर लीजिएगा कि कहाँ क्या फ़र्क है।"

"अच्छा।"

"सूत्र कहने से आपको अच्छा नहीं लगेगा—आप ही की बातें लेकर चलता हूँ। मैं प्रकृति को बड़ी चीज़ मानता हूँ। यह भी मानता हूँ कि उसके नियम एक बहुत विशाल बुद्धि पर, प्रज्ञा पर टिके हुए हैं। और मुझे मानव-जाति के भविष्य में गहरा विश्वास है। ये बातें मैंने जान-बूझकर कही हैं—अभी आपको शायद व्यर्थ लगेंगी।" क्षण भर रुककर वे आगे कहने लगे—"आपको लगता है हिंसा नकारात्मक है, निरा संहार है, उससे सृजन नहीं हो सकता। बिलकुल ठीक। पर यह आप कैसे जानते हैं कि जिस चीज़ से सृजन नहीं होता, वह ग़लत ही है ? और यह भी आप कैसे मानते हैं कि सृजन करना आप ही के हाथ में है ?"

शेखर कुछ बोला नहीं, अपनी मुद्रा से ही उसने यह दिखाया कि वह समझा नहीं, बाबा का इशारा किधर है।

"आपने किताबों में पढ़ा होगा, जब घर में स्वच्छ हवा का संचार करना होता है तब केवल हवा निकलने के मार्ग बनाए जाते हैं। प्रवेश उसका अपने आप हो जाता है। जब आप साँस लेते हैं, तब उसे निकालने में ज़ोर लगाते हैं, फिर फेफड़े भर अपने-आप जाते हैं। इसको सूत्र में बाँधकर वैज्ञानिक कहते हैं कि शून्य प्रकृति को नापसन्द है। हाँ, यह सूत्र आपको याद आया दीखता है। मेरा सूत्र यह है कि सबसे आवश्यक देवता रुद्र है—ब्रह्मा तो आवश्यकता-अनावश्यकता के फन्दे से परे हैं। हमें विनाश के गणों की रचना करनी होगी, सृजन, जन्म—आपके शब्दों में रचनात्मक चीज़—तो अनिवार्य है। क्षति-पूर्ति स्वयंभू है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। इसीलिए मैं आज के संहारकारी युग में भी मानव के भविष्य में विश्वास करता हूँ—भविष्य वर्त्तमान् की क्षति-पूर्ति है, इसलिए वह स्वयंभू है, उससे निस्तार नहीं है।"

बाबा ने रुककर शेखर की ओर देखा। मानो कुछ सन्तुष्ट होकर वे फिर कहने लगे, "इस तर्क से शायद हमारे अभिमान को चोट पहुँचती है। अगर संहार और सृजन प्रकृति का भाटा और ज्वार है तो हम कहाँ हैं ? क्या हम प्रकृति की उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त से अधिक कुछ नहीं हैं ? क्या हम भाग्य-बद्ध हैं ? क्या आत्म-निर्णय झूठ है ?

इन प्रश्नों का उत्तर नहीं है, क्योंकि ये प्रश्न हर किसी के मन में नहीं उठते। और जिसके मन में उठें, वह अपने सूत्र खुद ढूंढे।"

वे फिर कुछ देर के लिए रुक गए।

"नश्तर की और चिकित्सा की बात मुझे नहीं जँची। मुझे लगता है कि प्रश्न को इस ढंग से रखना ही गलत है कि 'हिंसा हो या न हो।' प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? क्योंकि यह आपकी बात मैं मानता हूँ कि 'हिंसा के लिए हममें स्वाभाविक घृणा है तो उसका कारण होना चाहिए। यह आपका सूत्र—" एक मुस्कराहट उनके चेहरे पर दौड़ गई—"बहुत महत्व का है। हाँ, तो अहिंसा क्या है? यह तो स्पष्ट है कि निष्क्रियता वह नहीं है। निष्क्रियता, कायरता, सबसे भीषण और घृणित प्रकार की हिंसा है। तब अहिंसा क्या है? अगर आत्म-पीड़न, आत्म-बलिदान अहिंसा है, तब हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'अहिंसात्मक' रक्तपात भी हो सकता है। इस बात को मान लेने पर फिर यह क्यों कहा जाए कि सब रक्तपात हिंसा है?"

बाबा मदनसिंह ने फिर एक बार स्थिर दृष्टि से शेखर की ओर देख लिया।

"यह तर्क अच्छा नहीं है। आपके कहने से पहले ही मैं स्वीकार कर लेता हूँ। मैं इसे पेश कर रहा हूँ तो इसीलिए कि आपका ध्यान एक और बात की ओर जाए—कि रक्तपात कभी सामाजिक कर्तव्य हो जा सकता है। अगर ऐसा है तो, वह रक्तपात अनुचित नहीं रहता, और अहिंसात्मक वह हो ही सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि अगर आत्म-संहार अहिंसात्मक हो सकता है, तो फिर रक्तपात के हिंसा या अहिंसा होने की कसौटी सामाजिक—या कह लीजिए आध्यात्मिक—आवश्यकता ही होगी। यह नहीं कि गिरा हुआ रक्त मेरा है या दूसरे का। मेरा रक्त किसी के रक्त से पतला नहीं है।"

शेखर का मन विचलित हो गया था। उसे बाबा का तर्क पसन्द नहीं था, परिणाम भी पसन्द नहीं थे, पर वह सोचने का समय चाहता था। वह बोला "यह आज के लिए काफ़ी है। इसे पचा लूँ, फिर आगे सही। अगर इसमें गुठलियाँ निकलेंगी तो आप ही के पास लाऊँगा फोड़ने के लिए।" वह हँस पड़ा।

"ठीक है। मैं आपकी गुठलियाँ अपने लिए फोड़ूँगा। आप अपने फल स्वयं पकाइए और खाइए। मैं तो एक कलम के नमूने पेश कर रहा हूँ।" बाबा भी हँस दिए। फिर कहने लगे, "जब आप गुठलियाँ मुझसे चबवाएँगे, तो एक फल और लेते जाइए। मैंने कहा था न, बुड्ढों को कोई सुननेवाला चाहिए।"

"कहिए—"

"मैंने कहा था कि अहिंसा ठीक है, पर उसकी परिभाषा ठीक हो तभी। सफल भी वह तभी हो सकती है। मुझे लगता है अहिंसा उपयोगी तभी होगी, जब वह आक्रामक अहिंसा हो—यानी जब वह केवल पारिभाषिक अहिंसा रह जाए। जैसे बहिष्कार में—बहिष्कार तभी सफल होता है जब उसे अस्त्र के रूप में किसी विशिष्ट व्यक्ति या संगठन के विरुद्ध बरता जाए—सारी दुनिया का बहिष्कार अपना ही बहिष्कार होगा। अब

भारत चाहे कि सारी दुनिया का व्यापारिक वहिष्कार कर दे, तो वह असम्भव भी है और व्यर्थ भी, क्योंकि वह ब्रिटेन के विरुद्ध नहीं पड़ेगा और हमें उससे स्वाधीनता नहीं दिलाएगा। सफल वह तब होगा जब कि उसे ब्रिटेन के विरुद्ध केन्द्रित किया जाए, यानी आक्रमण का साधन बनाया जाए। यह स्पष्ट है कि अहिंसा केवल पारिभाषिक अहिंसा है, क्योंकि अहिंसा में तो आक्रमण की भावना नहीं होनी चाहिए, आत्मरक्षा के लिए भी नहीं। है न?"

उत्तर में शेखर ने एक अनिश्चित "हूँ" किया, मानो अभी वह किसी तरफ़ उत्तर देने को तय्यार नहीं है।

"और अगर परिभाषाओं पर लड़ना है तो 'सच्ची' अहिंसा आत्मपीड़न है, जो अन्ततोगत्वा एक प्रकार की हिंसा ही है। पर इस फ़िज़ूल की शब्द-कलह को छोड़कर काम की बात सोचें। यह मैंने कहा कि अहिंसा सफल तभी होगी जब वह आक्रामक हो, यानी केवल शाब्दिक अहिंसा हो; दूसरी ओर हिंसा आक्रामक हुए बिना भी, केवल स्वरक्षात्मक होकर भी, सफल हो सकती है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि उदाहरण बेकार है। आप जानते हैं कि कानून भी स्वरक्षात्मक हिंसा को मानता है। तो नतीजा यह निकला कि हिंसा स्वरक्षात्मक भी सफल हो सकती है—यानी केवल पारिभाषिक हिंसा, क्योंकि बिना आक्रमण के हिंसा कैसी? अब पारिभाषिक अहिंसा और इस पारिभाषिक अहिंसा के बीच में लकीर खींचना मेरा काम नहीं है—निकम्मों का काम है।"

बाबा मदनसिंह चुप हो गए। कुछ देर शेखर प्रतीक्षा करता रहा कि वे शायद आगे बोलेंगे, जब वे नहीं बोले तब शेखर ने सोचते-सोचते कहा, "तो परिणाम क्या निकला?"

"परिणाम?" बाबा जोर से हँसे। "मैंने अपनी बातें कह दीं। अब इनको एक सूत्र में आप बाँधिए!"

शेखर कुछ कहने को था कि उसने बाहर पैरों की आहट सुनी—शायद वार्डर उसे बुलाने आया था। स्वयं उसी को विस्मित करनेवाली प्रत्युत्पन्न मति से उसने, ऊँचे स्वर से कहा, "यह मजे की रही। फिर साहब ने क्या कहा?"

बाबा ने एक बार उसकी ओर देखा फिर मुस्कराकर कहने लगे, "आप बहुत जल्दी सीखने लगे—यह है स्वरक्षात्मक हिंसा या झूठ!—हाँ तो—" फाटक पर खड़े वार्डर की ओर देखकर, "साहब क्या कहता! अपना-सा मुँह लेकर चला गया।"

वार्डर ने कहा, "बाबू साहब आप यहाँ हैं, मैं तो—

शेखर ने अनसुनी करके कहा, "अभी दूसरी बात तो रह ही गई। खैर, बाकी फिर किसी दिन सुनूँगा।"

वार्डर ने अपनी बात समाप्त की, "मैं तो खोजता-खोजता हैरान हो गया। अब चलिए न।"

शेखर चल पड़ा।

बाहर वार्डर ने पूछा, "बाबा आपको अपने झगड़े की बात सुना रहे थे क्या ?"

"क्यों ?"

"यही सबको सुनाया करते हैं। पहले साहब से झगड़ा हो गया था। साहब की नाकों दम कर दिया बुड्ढे ने।"

"हूँ।"

वार्डर ने मानो पुरानी बातें याद करते-करते कहा, "बुड्ढा कभी तूफ़ान ही रहा होगा। पर है बिचारा बड़ा सन्त आदमी—तबीयत का बिलकुल ग़रीब है।"

"हूँ।"

शेखर बन्द हो गया। वार्डर ताला बन्द करके खड़काकर चला, तो शेखर धीरे से हँस दिया—एक मीठी हँसी!

•

जो आदमी जीवन द्वारा जीने का आदी है, उसे यह असह्य है कि उसे जीवन के बचे-खुचे बासी टुकड़े ही मिलें, जीवन का उच्छिष्ट मिले—किन्तु बन्दी शेखर के लिए यही विधान हो गया था... यह विचार ही उसको असह्य था, पर आता था वह बार-बार, और हर बार मानो उसको बाँधनेवाले लोहे के किवाड़ों का एक सींखचा उसकी अन्तर्ग्लानि से ही तप्त होकर उसके हृदय में घुस जाता था....?

बाहर के संसार से—शशि से—उसका एक सम्बन्ध रह गया था निर्जीव कागज के पन्ने, उस पर निर्जीव लिपि के अक्षर....भाषा सजीव होती है, दर्द सजीव होता है, पर क्या उनके प्राण इस ज्ञान के आगे टिक सकते हैं कि आज जो उसके सामने है, उसमें जीवन का स्पन्दन तीन दिन, या सात दिन, या दस दिन पहले था?....

शेखर को शशि का पत्र मिला, तो ऊपर तारीख देखकर उसे अनुमान नहीं हुआ कि चिट्ठी उस तक पहुँचने में जो नौ दिन लग गए हैं, वे उसके जीवन-प्रवाह के एक युग का अधिकांश एक ही घूँट से पी गए हैं। वह बढ़ती हुई वेदना से सारा पत्र एक बार पढ़ गया, फिर दूसरी बार पढ़ गया—हाँ, वेदना बहुत थी, पर इतनी नहीं कि वह फूट जाए, निर्वेद हो जाए—यह पीछे आई जब बायाँ हाथ उठाकर उसने तारीखें गिनना शुरू किया और जाना चौदह में से नौ जायँ तो पाँच बचते हैं....

अबकी बार शशि का पत्र छोटा था। शेखर से वह सहमत थी कि जीवन में हरएक को अपना मार्ग स्वयं खोजना होता है, हम किसी को मार्ग नहीं बता सकते, किसी को उधार भी नहीं दिया सकते; हम कर सकते हैं तो इतना ही कि पथिक के पैर दाब दें, उसका श्रम कम दें, अगर उसके पास दीया है तो उसकी बत्ती कुछ उकसा दें। और इसलिए वह शेखर के प्रति दुगुनी कृतज्ञ है कि वह उसके लिए इतना करके उसके आगे भी आ रहा है, वह उसके दीपक में स्नेह भी भर रहा है।...."भविष्य क्या है, नहीं जानती; और मैंने जो मार्ग अपने लिए निर्धारित किया है, उसमें भविष्य होने न होने

शन भी नहीं है। वह इतना ज्वलित है; पर इतना मैं आज तुम्हें कहती हूँ कि तुमने मुझे दिया, वह मैं उसमें नहीं भूलूंगी। तुमने लिखा है निर्णय मेरा है, पर उसका दर करना तुम्हारा है; तुमने लिखा है एक निश्चय में मुझे तुम्हारा आन्तरिक आशी-ाद, स्नेह और सद्भावना प्राप्त होगी, दूसरे निश्चय में तुम्हारा सहयोग और संरक्षण, और आवश्यक होने पर तुम्हारे हाथों का परिश्रम और तुम्हारे पसीने की रोटी; तुम्हारी उदारता में मैंने दोनों पा लिए हैं, और अब चुनने के नाम पर तुम्हारा आशीर्वाद ही चुनती हूँ। मैंने माँ से कह दिया है कि मुझे इस मामले में किसी तरह की कोई दिलचस्पी नहीं है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।"

कठोर और कड़ुवा और स्वयं नारी की तरह चिरन्तन शशि का निर्णय—कठोर और कड़ुवा और चिरन्तन उसका यह अपनी आहुति दे देने का निर्णय—कठोर और कड़ुवा और चिरन्तन नागी का अभिमान कि जो समाज उसका आदर नहीं करता, उसी के हाथों नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-त्रस्त-ध्वस्त होकर वह उसकी अवमानना करेगी....आशीर्वाद ? क्या आशीर्वाद हो उस नारी को क्षुद्र पुरुष का ? कि तू हुतात्मा हो, तेरी ज्वाला उज्ज्वल और सुगन्धित और निर्धूम हो ! लज्जा, क्षोभ और आत्मग्लानि से शेखर ने अपनी बँधी हुई मुट्ठी छाती में मार ली....

क्यों उसने शशि को अपनी सम्मति नहीं दी थी ? क्यों नहीं उसे कहा था कि समाज पर अपने को बलि देना अपनी और समाज की भी विडम्बना है ? क्यों नहीं कहा था कि समाज उसकी विविक्त इकाइयों का समूह है, और इकाई की अवहेलना समाज की अवहेलना है ? क्यों नहीं कहा था कि अन्याय को सहना उसका भागी बनना है ? क्यों स्वाधीनता दी थी निर्णय की ? क्यों दोनों सूरतों में सहानुभूति का वचन दिया था ?

उसे याद आया कि उसने क्या लिखा था....कि यह मामला शशि का है, शशि के अतिरिक्त किसी का भी नहीं है, और इसमें परामर्श भी किसी का ग्राह्य नहीं है, माँ का भी नहीं, शेखर का भी नहीं....शशि, निपट अकेली शशि, इस समस्या से लड़े और किसी निष्पत्ति तक पहुँचे; बाकी यहा कर सकते हैं कि सहानुभूतिपूर्वक देखें, अपनी इच्छा-शक्ति से उसे इतनी प्रेरणा दें कि वह ठीक ही परिणाम पर पहुँचे, यह आश्वास दें कि निर्णय जो भी हो, वे उसके साथ हैं ...'और मैं तुम्हारे साथ हूँ, शशि, तुम विव हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य में मिटा दो, तब भी मेरी स शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुए मार्ग में अडिग रहो; और वैसा नहीं करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की बजाय समाज के विरोध से ही ट लेना चाहो, तो भी मैं तुम्हारे साथ हूँ। वह तुम्हें अलग कर दे, घर-बार भी तुम जाए, तो मेरा अकिंचन सहयोग तुम्हें मिलेगा; अगर अपने हाथों के परिश्रम तुम्हारी रोटी प्राप्त करनी पड़ेगी तो वह मेरा गौरव होगा....मैं जानता हूँ कि तुम जो सीख दी है, उसका मूल्य मैं किसी तरह नहीं चुका सकता, उसके लिए कृत दिखा सकता हूँ तो केवल इतनी कि उसी पर चलते-चलते, या चलने की चेष

करते समाप्त हो जाऊँ। इतनी भी कृतज्ञता न दिखा सकूँ, ऐसा बुरा मैं नहीं हूँ—पहले रहा भी होऊँ तो तुम्हारी प्रीति का मुकुट पहनकर अब नहीं हूँ। मैं तुम्हारे साथ हूँ, चाहे जिधर भी तुम जाओ; किधर जाओ, इसका उत्तर तुम्हें तुम्हारे भीतर का आलोक दे....'

शशि ने मार्ग चुन लिया। 'आज से ठीक दो सप्ताह बाद, आज ही के दिन, मैं—ओह शेखर, यह वाक्य अधूरा ही क्यों नहीं रह जाता!' और यह नौ दिन पहले का पत्र है—केवल पाँच दिन और!

क्यों? किस चीज़ ने बाधित किया शशि को यह निर्णय करने के लिए? क्या बुद्धि ने? विवेक ने? क्या डर ने? असमर्थता ने? क्या हृदय ने? चाह ने? क्या [illegible] ने? अभिमान ने?

"मैं जानती हूँ मेरी सम्पूर्ण अनिच्छा है। पर क्या मुझे अनिच्छा का, अनिच्छा के बाद अस्वीकृति का अधिकार है? समाज का मैं अङ्ग हूँ, उसके प्रति मेरे [illegible] हैं, पर उनकी मैं उपेक्षा कर सकती हूँ, क्योंकि वह मेरे प्रति कर्तव्यशील नहीं है और फिर उसके आदर्श भी बदलते रहते हैं और रहेंगे। पर माँ—माँ तो [illegible] है, वह माँ है, उसके प्रति भी तो मेरा कर्तव्य है....माँ विधवा है, फिर उनके अपने [illegible] हैं; मेरी अस्वीकृति समाज के सम्मुख उनकी क्या अवस्था करेगी, यह तो [illegible] नहीं कह सकती, पर स्वयं अपने ही सामने उन्हें तोड़ देगी। वे कुछ नहीं कहेंगे, मैं जानती हूँ [illegible] क्या उससे मुझे कुछ दीखेगा नहीं? उनका मौन उनकी व्यथा को [illegible] मैं हर समय कटती रहूँगी....मैं अपना युद्ध लड़ सकती हूँ, पर [illegible] हूँ, मैं उनसे अपना युद्ध लड़वाऊँ?... और अगर किसी को [illegible] कोई मैं ही क्यों नहीं होऊँ? मैं तो विवाह के बाद [illegible] होम नहीं देखेगा—मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं देखेगा [illegible] के घेरे से बाहर ले जाने का यही एक तरीका है....शेखर, [illegible] दो कि मैं साभिमान इसे निभा ले जाऊँ...."

क्या शशि ठीक कहती है? क्या वह बेठीक ही कहती है?

पर अब वह अवश्य कहती है कि दुःख [illegible] बढ़कर उसे अपने कंधों पर ले ले, कौन उसे देखने से [illegible] कि वह आग्रह में भिन जाए....

उसे अपनी ही लिखी हुई दो-चार पंक्तियाँ [illegible] गए थीं, किन्तु इस समय आत्मग्लानि में [illegible]—

I have burned in solitude
And burning has brought its own [illegible]
In more quenchless burning—

(मैं एकान्त में जला किया हूँ, और जलना अपना ही शमन लाया है और भी अनबुझ जलने के रूप में....)

क्या यही है प्रतिनिधिक यन्त्रणा का वह सिद्धान्त, जो उसने कहीं पुस्तक में पढ़ा था और अग्राह्य मानकर छोड़ दिया था—कि हमारी यातना किसी दूसरे के पाप का प्रायश्चित्त हो सकती है ? क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे का ईसामसीह है, किसी दूसरे का क्रूस ढोनेवाला है ? क्या यही है यातना के इस कुम्भीपाक में आलोक की प्रथम और अन्तिम किरण....

व्यथा से शेखर को रोमांच हो आया....

०

दूसरा पत्र आने में उतना समय नहीं लगा—पर जितना समय लगा था, उतना क्या कम था ? शशि ने लिखा था, "आज मेरी उस अवस्था का अन्तिम दिन है, जिसमें अपने आत्मीयों से अलग एक सम्बन्धी मेरा था—मेरे बहिनापे में घिरे हुए तुम ! कल से मेरा पहिला परिचय होगा, अमुक की स्त्री; और सब सम्बन्ध उसके बाद आएँगे।.... न जाने यह पत्र तुम्हें कब मिलेगा, पर जब भी मिले, तुम उस शशि को आशीर्वाद देना, जो आज तक तुम्हारी बहन थी और उसके अतिरिक्त किसी की कुछ नहीं थी; किन्तु कल वैसा नहीं रहेगी; और जो आज इस पद से अन्तिम बार तुम्हें प्रणाम करती है...."

शशि ने शेखर के अभ्यन्तर का कोमलतम मर्म छू लिया था—दर्द इतना था कि शेखर आह भी नहीं कर सकता था....अन्तिम बार प्रणाम....मेरे बहनापे में घिरे हुए.... उसके अतिरिक्त कुछ नहीं....

यह सच था—उफ़ कितना सच !—कि शशि ने ही उस 'न-कुछ' को खींचकर सगेपन का गौरव दिया था—ऐसे दिया था जैसे कभी किसी ने नहीं दिया था—उसकी अपनी दो सहोदरा बहनों ने नहीं....शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया था, एक ऐसी निधि दी थी जिसके गौरव के लिए जीना और लड़ना और मरना स्वयं पुरुष का गौरव है....तब क्या यह भी सच है कि आज उस निधि के रक्षकत्व का अन्तिम क्षण है ?—आज क्यों, आज तो शशि को नए संरक्षण में गए हुए भी दो दिन हो गए ! —क्या जो आरम्भ ही नहीं हुआ था, वह आज समाप्त होने जा रहा है ?

वेदना....कोई उसके भीतर कहता है, वह नहीं थी सहोदरा, नहीं थी बहिन; जो हुआ है वह होना ही था....उसे दुःख का अधिकार नहीं है....हाँ, नहीं है अधिकार, अधिकार होता तो दुःख क्यों होता ? दुःख उसको मेरी स्नेह की भेंट है, जैसे बहिनापा उसका मुझे स्नेह का दान था ! नहीं है वह सहोदरा, वह सहजन्मा है; एक खण्डित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित हुई है....तभी तो....तभी तो....शेखर अपने को देखता है और नहीं समझ पाता कि कहाँ वह अपंग हो गया है—यद्यपि एक गहरी टीस उसमें उठती है और एक मूर्च्छना भी उसके बचे हुए गात पर छाई जा रही है....

किन्तु कर्तव्य अभी बाकी है—यन्त्रवत् शेखर ने कागज और कलम उठाया, एक छोटा-सा आशीर्वाद का पत्र लिखकर लिफ़ाफ़े में बन्द किया, पता लिखा और वार्डर को बुलाकर दफ़्तर में भिजवा दिया। दूसरा मार्ग नहीं था—और किसी तरह पत्र भेजने में बड़ी देर लगती।

तब एकाएक क्षत-विक्षत और शून्य और निष्प्राण शेखर चक्की पर सिर टेककर खड़ा हो गया। उसकी निविड़ वेदना में ज्वाला की तरह उसके अन्तरङ्ग को फोड़ता हुआ कुछ फूट निकला....

जल, ऊर्ध्वग, जल यज्ञ-ज्वाले जल! उत्तप्त जल, उज्ज्वल और सुवासित जल, क्षार-हीन और निर्धूम और अक्षय जल! यह मुझ अभागे का तुझे आशीर्वाद हो!

तब आँसू आए, घने और झरझर....



फिर एक बार कुहासा शेखर के प्राणों पर छा गया। पर अबकी बार उसमें जैसे विरोधभाव नहीं जागृत हुआ। अपने रोने पर क्षोभ नहीं हुआ, परास्त हो जाने के ज्ञान का प्रतीकार करने की भी इच्छा नहीं हुई। वह मानो अस्तित्व के किसी निचले स्तर पर उतर आया। जीवन शिथिल हो गया, और शैथिल्य स्वाभाविक धर्म मालूम पड़ने लगा।

शेखर ने 'साहब' से अनुमति माँगी कि उसे पहले सिरे की एक कोठरी में रखा जाए। 'साहब' ने विस्मित होकर कारण पूछा, और यह जानने पर कि शेखर एकान्त चाहता है, मुस्कराकर अनुमति दे दी। "तुम स्वयं अपनी आज़ादी कम करना चाहते हो तो तुम जानो। वहाँ पर तुम्हें वहीं के नियम मानने पड़ेंगे—बन्द भी रहना पड़ेगा। हाँ, अगर फाँसीवाले अधिक हो गए तो वहाँ से हटना पड़ेगा।" शेखर ने मौन स्वीकृति दे दी।

फाँसी की कोठरी साफ़-सुथरी थी। पक्का फ़र्श था, चक्की कोई नहीं थी, पतरे के के लिए फाटक के पास कोने में अलग जगह बनी हुई थी, जहाँ से पानी बाहर को बह जाता था, अतः कोठरी में बदबू नहीं थी। शेखर दिन में बन्द रहता, सुबह-शाम टहलने बाहर निकलता और तलाशी के बाद बन्द हो जाता। ये नियम उसे पसन्द नहीं थे, पर वह मानो अपनी देह से हटकर कहीं रहता था, ये उसे छूते ही नहीं थे। दिनभर वह अर्धसुप्त-सी अवस्था में रहता—जैसे अफ़ीमची अफ़ीम न मिलने पर रहते हैं। केवल प्रातः-सायं: जैसे उसकी तन्द्रा टूट जाती, वह जानता कि वह जीवित है।

उषःकाल से लेकर टहलाई के लिए द्वार खुलने तक, और शाम की टहलाई के बाद बन्द होने से लेकर दिनावसान तक—ये दो मुहूर्त न जाने कैसे थे कि दिनभर मुरझाए रहनेवाले प्राण उसके भीतर एकाएक प्रदीप्त हो उठते थे—चार साढ़े चार बजे उसकी नींद खुलती, तब वह पलटकर सिर फाटक की ओर कर लेता, और आकाश की ओर

मन के मनके फेरा करता; कभी वर्षा हो रही होती, तो बूँदों का स्वर उसके पर ताल देता चलता....

टते आलोक की पहली किरण के साथ, मिटते आलोक की अन्तिम दीप्ति के साथ, ा एक प्रश्न शेखर के हृदय को वेध जाता, "क्या आत्माहुति देकर वह सुखी ' उसका पत्र फिर नहीं आया था; जानकारी के लिए शेखर के पास कुछ नहीं था य अपनी समझ के—कितनी क्षुद्र समझ !—और अपनी समवेदना के—कितनी मर्थ समवेदना !

क्यों नहीं लिखा उसने ? क्या दुःख में है इसलिए ? या सुखी है इसलिए ?

कभी व्याकुलता इतनी उग्र हो उठती कि वह दाँत भींचकर, मुट्ठी बाँधकर, फर्श पर, दीवार पर, जँगले पर दे मारता, एक बार, दो बार, तीन बार....जब तक कि जोड़ों पर से खून न फूट आता—तब उस रक्त को वह माथे पर पोंछ लेता और उसकी ललाई से उसे कुछ शान्ति मिलती ! कभी अपने ही कार्य से घबराकर यह पूछ उठता, क्या मैं पागल हो गया हूँ? पर तत्काल ही पहला प्रश्न इस दूसरे प्रश्न को निकाल देता, और मानो इस अल्पकालिक विस्मृति के दण्ड-स्वरूप स्वयं अधिक तीव्र हो उठता....

किन्तु दिन में इतनी शक्ति का संचय कभी न होता, वह केवल एक क्षीण-सी चिन्ता में सोचा करता, क्या वह आत्मबलिदान उचित हुआ ?....कौन कह सकता है ? कोई नहीं जानता—जाननेवाली, कहनेवाली, निश्चय करनेवाली एकमात्र शशि है ! यह प्रश्न उसका प्रश्न है....बाबा मदनसिंह ने भी तो कहा था, हर एक को अपना रास्ता खुद खोजना होता है....

कभी उसे इसमें भी सन्देह हो आता । क्या सचमुच यह व्यक्तिगत प्रश्न है ? क्या सामाजिक उत्तरदायित्व इसमें शामिल नहीं है ? व्यक्ति अपने को रखे या बलि दे, अच्छे काम में बलि दे या बुरे में, क्या इसका एकमात्र निर्णायक वह व्यक्ति स्वयं है और समाज को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है ? उसका मन भटकने लगता....यह तो वही पुराना हिंसा और अहिंसा का प्रश्न है....

चाहे यह अपने प्रश्न का उत्तर पाने की उत्कट इच्छा रही हो, चाहे केवल कुछ घूमने-फिरने की; शेखर बाबा मदनसिंह से मिलने गया । और न जाने क्यों उसकी पुरानी जिज्ञासाएँ उबल पड़ीं; शशि का प्रश्न भी बीच में उलझ गया और शेखर हिंसा-अहिंसा और सामाजिक दायित्व के पचड़े फिर ले बैठा ।

बाबा बोले, "देखिए, आजकल न जाने मन क्यों बहुत दुःखी रहता है । शायद कोई नया सूत्र पानेवाला होऊँ, शायद केवल बुढ़ापा ही हो । इसलिए आपके सवालों जवाब सूत्रों में ही—पुराने सूत्रों में ही—दूँगा । प्रश्न अवश्य सामाजिक भी है । दीखता है कि हमारा भारतीय जीवन और दर्शन अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी है— हम मुक्ति का साधन यही मानते हैं कि जहाँ तक हो सके, अपने को समाज से

गीता में और 'आत्मानं विद्धि।' इस व्यक्तिवाद का परिणाम है कि हम पाप-पुण्य भी व्यक्तिगत ही समझते हैं। तभी तो हमारे धर्मात्मा लोग साँपों को दूध पिलाना भी पुण्य समझते हैं। सामाजिक दृष्टि से यह हिंसा है। दूसरी ओर पश्चिम का जीवन और दर्शन हमारे बिलकुल विपरीत है। वह बहिर्मुखी और समाजवादी है। उसका मानदण्ड भिन्न है, उनकी समझ में हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक अनाचारी और कायरता है। हम उन्हें निकृष्ट पदार्थवादी कह सकते हैं, वह हमें थोथे अध्यात्मवादी कह सकते हैं। पर इस गाली-गलौज से भी यह बात नहीं छिपती कि हम दोनों एक दूसरे के आदर्श नहीं भूल सकते। खासकर हम लोगों को अपने आदर्शों में सुधार की जरूरत है, क्योंकि हम नीचे हैं।" कुछ देर चुप रहकर बाबा मुसकराए : "भेड़ों की तरह मुँह बाँधकर रहेंगे, तो भेड़-चाल चलनी पड़ेगी। भेड़-चाल का सभ्य नाम संस्कृति है।"

शेखर कुछ देर तक चुपचाप खड़ा रहा। चेहरे पर एक साथ पड़ी दो बूँदों ने उसे चौंका दिया। उसने ऊपर देखा, आकाश में सावन के घने बादल थे, और पश्चिमी क्षितिज पर एक मटमैला धब्बा क्रमशः फैलता हुआ बढ़ रहा था—उसके भीतर से मानो किसी तरह का प्रकाश फूट रहा था।

"अन्धड़ आ रहा है।"

"अच्छा ही है, मुझे आजकल इसकी जरूरत थी।" बाबा की आँखों पर भी एक बादल सा गया। "वह कहानी का पठान बाहर चला गया था, तब जेल की अवधि नहीं गिनता था, पर मेरे लिए तो 'कुछ न होना' ही स्थायी हो गया है। ये इक्कीस वर्ष मुझ पर बोझ हो गए हैं। इसीलिए आँधी-तूफान से कुछ सहारा मिलता है।"

शेखर ने विस्मय से उनकी ओर देखा, उस क्षण में बाबा उसे पहली बार बूढ़े लगे—उनकी आँखें बूढ़ी हो गई थीं, और धवल जटा और धवल दाढ़ी से भी कितनी अधिक बूढ़ी! मानो शाप-ग्रस्त प्रथम मानव का शाप उनमें चमक गया हो!—'अपने दुःख के सहारे ही तू जिएगा!'

वह सहमा हुआ-सा धीरे-धीरे लौट पड़ा।

कोठरी की ओर लौटते हुए शेखर के भीतर सहसा ग्लानि उमड़ आई। कितनी ओछी लज्जा की बात है कि वह इस समय कोरी बौद्धिक उलझनों में पड़ा हुआ है, जब कि शशि पर न जाने क्या बीत रही होगी....मानसिक क्लेश, शायद शारीरिक यातना—वह चलते-चलते ठिठक गया—कौन जाने क्या अवस्था होगी इस समय शशि की!

क्या अवस्था होगी? किस बात से डर रहा है वह? यह नामहीन कौन-सा डर है, जो उसके भीतर है?

मानो उसके प्रश्न के उत्तर में वायु का एक झोंका जेल के अलिन्द गलियारों, लोह-द्वारों और वातायनों में से कराहता हुआ निकल गया—वह कराह फिर ऊँची उठी और फिर धीमी पड़ गई, फिर उठी और एक अनादिम पीड़ित प्राणी की चीख बन-

उसकी व्याकुल साँस शेखर को धकेलने-सी लगी—आँधी का पहला वातचक्र उसे घेरे ले रहा था....

वह फिर चल पड़ा।....किन्तु सोचने से कैसे रुका जाए—सोचने से नहीं, प्रश्न पूछने से कैसे रुका जाए! और प्रश्नों का अन्त कहाँ—जिज्ञासा के घूँट नहीं होते, वह तो शीघ्रप्रवाहिनी कूलहीना नदी है, स्वयं जीवन की तरह दुर्निवार....

मदनसिंह ने कहा था, पीड़ा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योंकि वही सबसे बड़ी पीड़ा है....

वह कोठरी में पहुँच गया था। सन्तरी पहले ही वहाँ मौजूद था, शेखर के भीतर जाते ही उसने ताला बन्द कर दिया और स्वयं आँगन से बाहर निकलकर कुछ दूर पर सामने बने हुए कठघरे में जा खड़ा हुआ—आँधी के साथ ही बड़ी बूँदें वर्षा की पड़ने लगी थीं....

जिज्ञासा—जिज्ञासा—यह मर्मान्तक पीड़ा....

पर मैं जानना चाहता हूँ—शशि की अवस्था जानना चाहता हूँ...क्या वह सुखी है?

...'जहाँ अपना वश नहीं है, वहाँ दुःख करना ही मोह है।'....कहाँ पढ़ा था उसने यह? या यह मदनसिंह के शब्दों में 'सूत्र' है, दुःख की चोट से पाया हुआ? वेदना के बिना ज्ञान नहीं है तभी तो ज्ञान अपौरुषेय है—पुरुष की बुद्धि में वह नहीं पाया जाता, वेदना में, तपस्या में, वह उदित होता है। वह मन्थन से मिलनेवाला अमृत नहीं है, वह अवतीर्ण होनेवाला कोई अप्रमेय है....इसी तरह कभी प्राचीन ऋषियों ने वह सूत्रबद्ध ज्ञान पाया होगा, जो अब वेद है—जो 'जाना हुआ' है, किसी भीतरी आलोक से सहसा प्रकट हुआ—इसी तरह पीड़ा की तपस्या से सहसा जागकर उन्होंने प्रज्ञा के बोझ से लड़खड़ाकर कहा होगा, 'अपौरुषेय! अपौरुषेय!'....

एक चौंधियानेवाले प्रकाश ने घिरती रात के अन्धकार को फाड़ डाला, भीषण गड़गड़ाहट ने जेल के लोहे और पत्थर को कँपा दिया, आकाश का बोझील पर्दा मानो अपने भार से फट गया और धारासार वर्षा होने लगी; शेखर के पैरों में कुछ आकर लगा तो उसने देखा एक बड़ा-सा ओला है; वह जँगले के पास जाकर खड़ा हो गया; शीत से काँपता हुआ, बादल के गम्भीर घोष और बिजली की तड़पन से हतबुद्धि, आँधी और पानी के क्रुद्ध थपेड़ों से पिटता हुआ खड़ा रहा....कितना अच्छा था यह सामने की मार खाना, कितना अच्छा था इस तरह पिटते हुए खड़े रहना, उस नामहीन, आकारहीन शत्रु द्वारा अदृश्य लील लिए जाने की अपेक्षा....

किन्तु उससे निस्तार कहाँ है? प्राकृतिक तत्त्वों की इस उथल-पुथल में भी आत्मा कहाँ चुप है....जेल में दूसरे भी तो हैं, वे भी क्या कर रहे होंगे इस समय?....उसे याद आया, एक दिन उसने देखा था, जेठ की दुपहरी में एक कैदी वर्षा में भीगे और ठिठुरे हुए बन्दर की तरह कोठरी के जँगले के नीचे उकड़ूँ बैठा था; और बिल्लौर के मनके-सी

उसकी आँखें उदास सफ़ेद आकाश पर टिकी थीं....क्या यह जीवन था? उस समय उसका जीवन मानो स्थगित था, प्रगति भी मानो स्थगित थी; उस समय उसके भीतर से वह कई पूर्व युगों का अंकुर झाँक रहा था, जो विकास-द्वारा जीवोद्भव से पहले उसकी मिट्टी का रहा होगा... बाबा मदनसिंह की कहानी का पठान ठीक ही कहता था—जेल में आदमी जीता नहीं, बुद्धि नहीं पाता....पर बूढ़ा अवश्य हो जाता है—गात सूख जाते हैं और बाल पक जाते हैं....

और स्थगित जीवन के उस शीतल अन्तराल में शुद्ध बुद्धि ही एकमात्र सम्बल है, जिज्ञासा ही एकमात्र सम्बल है....वही स्थानापन्न प्राण है....

शेखर एक बार काँपा, और फिर लिखने बैठ गया। हाँ, "....

•

ईश्वर ने सृष्टि की।

सब ओर निराकार शून्य था और अनन्त आकाश में अन्धकार छाया हुआ था। ईश्वर ने कहा—'प्रकाश हो।' और प्रकाश हो गया। उसके आलोक में ईश्वर ने असंख्य टुकड़े किए और प्रत्येक में एक एक तारा जड़ दिया। तब उसने सौर-मंडल बनाया, पृथ्वी बनाई। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

तब उसने वनस्पति, पौधे, झाड़-झंखाड़, फल-फूल, लता-बेलें उगाईं; और उन पर मँडराने को भौंरे और तितलियाँ, गाने को झींगुर भी बनाए।

तब उसने पशु-पक्षी भी बनाए। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

लेकिन उसे शांति न हुई। तब उसने जीवन में वैचित्र्य लाने के लिए दिन और रात, आँधी-पानी, बादल-मेंह, धूप-छाँह इत्यादि बनाए, और फिर कीड़े-मकोड़े, मकड़ी-मच्छर, बर्रें-बिच्छू और अन्त में साँप भी बनाए।

लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। तब उसने ज्ञान का नेत्र खोलकर सुदूर भविष्य में देखा। अन्धकार में, पृथ्वी और सौर-लोक पर छाई हुई प्राणहीन धुन्ध में कहीं एक हलचल, फिर उस हलचल में धीरे-धीरे एक आकार, एक शरीर का, जिसमें असाधारण शक्ति नहीं है, लेकिन फिर भी सामर्थ्य है, एक आत्मा जो निर्लिप्त होकर भी अपने आकार के भीतर बँधती नहीं, बढ़ती ही जाती है, एक प्राणी जो जितनी बार धूल को छूता है नया ही होकर अधिक प्राणवान् होकर, उठ खड़ा होता है....

ईश्वर ने जान लिया कि भविष्य का प्राणी यही मानव है। तब उसने पृथ्वी पर से धुन्ध को चीरकर एक मुट्ठी धूल उठाई और उसे अपने हृदय के पास ले जाकर उसमें अपनी विराट् आत्मा की एक साँस फूँक दी—मानव की सृष्टि हो गई।

ईश्वर ने कहा—'आओ, मेरी रचना के महानायक, सृष्टि के अवतंस!'

लेकिन कृतित्व का सुख ईश्वर को तब भी नहीं प्राप्त हुआ, उसमें का कलाकार अधूरा ही रह गया।

क्योंकि पृथ्वी खड़ी रही, तारे खड़े रहे। सूर्य प्रकाशवान नहीं हुआ, क्योंकि उसकी किरणें बाहर फूट निकलने से रह गईं। उस विराट् सुन्दर विश्व में गति नहीं आई।

दूर पड़ा हुआ आदिम साँप हँसता रहा। वह जानता था कि क्यों सृष्टि नहीं चलती। और वह इस ज्ञान को खूब सँभालकर अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हुआ था।

एक बार फिर ईश्वर ने ज्ञान का नेत्र खोला, और फिर मानव के दो बूँद आँसू लेकर स्त्री की रचना की।

मानव ने चुपचाप उसकी देन को स्वीकार कर लिया; सन्तुष्ट वह पहले ही था, अब सन्तोष द्विगुणित हो गया। उस शान्त जीवन में अब भी कोई अपूर्ति न आयी और सृष्टि अब भी न चली।

और वह चिरन्तन साँप ज्ञान को अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हँसता रहा।

० २ ०

साँप ने कहा, 'मूर्ख, अपने जीवन से सन्तुष्ट मत हो। अभी बहुत कुछ है जो तूने नहीं पाया, नहीं देखा, नहीं जाना। यह देख, ज्ञान मेरे पास है। इसी के कारण तो मैं ईश्वर का समकक्ष हूँ, चिरन्तन हूँ।'

लेकिन मानव ने एक बार अनमना-सा उसकी ओर देखा, और फिर स्त्री के केशों से अपना मुँह ढँक लिया। उसे कोई कौतूहल नहीं था, वह शान्त था।

बहुत देर तक ऐसे ही रहा। प्रकाश होता और मिट जाता; पुरुष और स्त्री प्रकाश में, मुग्ध दृष्टि से एक दूसरे को देखते रहते, और अन्धकार में लिपटकर सो रहते।

और ईश्वर अदृष्ट ही रहता, और साँप हँसता ही जाता।

तब एक दिन जब प्रकाश हुआ, तो स्त्री ने आँखें नीची कर लीं, पुरुष की ओर नहीं देखा। पुरुष ने आँख मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की ओर न देख रही हो ऐसा नहीं है; वह किसी की ओर भी नहीं देख रही है; उसकी दृष्टि मानो अन्तर्मुखी हो गई है, अपने भीतर ही कुछ देख रही है, और उसी दर्शन में एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है....तब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्गत भाव से लेट गई, पुरुष को न देखती हुई, बल्कि उसकी ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई...

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँदकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उसके पास शब्द नहीं थे, भाव नहीं थे, दीक्षा नहीं थी। लेकिन शब्दों से, भावों से, प्रणाली के ज्ञान से परे जो प्रार्थना है, जो सम्बन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उसमें से फूट निकलने लगी....

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पड़ा रहा, गति उसमें नहीं आयी।

स्त्री रोने लगी। उसके भीतर कहीं दर्द की एक हूक उठी। वह पुकारकर कहने लगी, 'क्या होता है मुझे! मैं बिखर जाऊँगी, मैं मिट्टी में मिल जाऊँगी....'

पुरुष अपनी निस्सहायता में कुछ भी नहीं कर सका, उसकी प्रार्थना और भी आतुर, और भी विकल, और भी उत्सर्गमयी हो गई, और जब वह स्त्री का दुःख नहीं देख सका, तब उसने नेत्र खूब ज़ोर से मींच लिए....

निशीथ के निविड़ अन्धकार में स्त्री ने पुकारकर कहा—'ओ मेरे ईश्वर—ओ मेरे पुरुष—यह देखो!'

पुरुष ने पास जाकर देखा, टटोला और क्षण भर स्तब्ध रह गया। उसकी आत्मा के भीतर विस्मय की, भय की एक पुलक उठी, उसने धीरे से स्त्री का सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया....

फूटते हुए कोमल प्रकाश में उसने देखा, स्त्री उसी के एक बहुत स्निग्ध, बहुत प्यारे प्रतिरूप को अपनी छाती से चिपटाए है और थकी हुई सो रही है। उसका हृदय एक प्रकाण्ड विस्मय से, एक दुस्सह उल्लास से भर आया और उसके भीतर एक प्रश्न फूट निकला, 'ईश्वर, यह क्या सृष्टि है जो तूने नहीं की?'

ईश्वर ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब मानव ने मार से पूछा—'ओ ज्ञान के रक्षक मार, बताओ यह क्या है जिसने मुझे तुम्हारा और ईश्वर का समकक्ष बना दिया है—एक स्रष्टा—बताओ, मैं जानना चाहता हूँ!'

उसके यह प्रश्न पूछते ही अनहोनी घटना घटी। पृथ्वी घूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, फिर सूर्य उदित हो आया और दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तड़प उठी ... विश्व चल पड़ा!

मार ने कहा—'मैं हार गया। ईश्वर ने ज्ञान मुझसे छीन लिया।' और उसकी मुसकान धीरे-धीरे घुल गई।

ईश्वर ने कहा—'मेरी सृष्टि सफल हुई, लेकिन विजय मानव की है। मैं ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ। मैं कुछ खोजता नहीं। मानव में जिज्ञासा है, अतः वह विश्व को चलाता है, गति देता है....'

लेकिन मानव में उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। पुकार-पुकारकर कहता जाता था—'मैं जानना चाहता हूँ!'

और जितनी बार वह प्रश्न दुहराता था, उतनी बार सूर्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेज़ी से घूमने लगती थी, विश्व कुछ अधिक गति से चल पड़ता था और मानव के हृदय का स्पन्दन भी कुछ अधिक भरा हो जाता था।

× × ×

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ बैठता है, तब अनहोनी घटनाएँ हो जाती हैं।

०

शान्ति का एक और पक्ष—वह लिखती है कि आनन्द उसका जीवन पर [illegible]—उसके सुख नहीं तो दुख भी नहीं है, किसी तरह की कोई गहरी अनुभूति नहीं है, केवल

नींदे रहने से हो जानेवाले सिरदर्द की तरह एक हल्का-सा बोझ हर समय उसके ऊपर ड़ा रहता है....'कभी सोचती हूँ क्या जीवन ऐसे ही बीतेगा ? गाजर-मूलों की तरह बढ़ना और उखाड़ लिए जाना, बस ? पर फिर ध्यान आता है, कई ऐसे जीते हैं और दर्जनों बरस निकल जाते हैं....और यहाँ ऐसे यन्त्र-तुल्य जीवन के सभी साधन हैं, किसी को मुझमें इतनी भी दिलचस्पी नहीं है कि तिरस्कार भी करे....''यह वह जीवन नहीं है, जिसकी मैंने कल्पना की थी, पर शायद सबका उदाहरण देखकर मैं भी ऐसी बन जाऊँ कि अपनी अवस्था का तिरस्कार न कर सकूँ और शान्त, सन्तुष्ट, निर्वेद होकर जीना जी डालूँ। दुःख तो मुझे अब भी कोई नहीं है।....'' और फिर एकाएक बदलकर ''तुम कब आओगे ?''

कब जायगा वह ? वह नहीं जानता। मुकदमा मालूम होता है कभी समाप्त नहीं होगा ! गवाही प्रायः समाप्त हो गई थी, वकील ने कहा था कि शेखर के विरुद्ध कुछ नहीं है, तब नए गवाह लाने की अनुमति माँगी गई थी और अदालत ने उन्हें बुला भी लिया था....

पर अब जाए न जाए, कोई बात नहीं है। विवाह शशि का हो चुका, और अपना घर जैसे उसके मन से ही निकल गया है। और शशि अब निराग्रह होकर जी रही है, जीवन से कुछ माँगती नहीं है, अतः दुःख भी नहीं पाती है। वह भी उपराम है, शून्य है, जेल और बाहर सब बराबर है।

●

भादों....आश्विन....कार्त्तिक....प्रकाश होता है और धुंधला पड़ जाता है; जेल के चौदह सौ आदमी गिनते हैं कि एक दिन और बीत गया; लोग मानते हैं कि अस्तित्व का छकड़ा एक मंजिल और पार कर गया ; सभी समझते हैं कि वे जी रहे हैं... इसी प्रकार तीन महीने—शेखर सुनता और देखता है, पर जीवन उसका भी स्थगित है....

मोहसिन पर दारोग़ा का क्रोध होता है, हजामत बनाने के अपराध में उसे सजाएँ मिलती हैं, कड़ा पहरा बिठाया जाता है; पर न जाने कैसे प्रति सोमवार परेड के समय उसकी दाढ़ी साफ़ और चिकनी होती है और वह कहीं से निकालकर उस्तरे की एक पुरानी पत्ती दारोग़ा के आगे पेश कर देता है...ऐसी खुली अवज्ञा असह्य है—दारोग़ा सज़ाएँ बढ़ाते जाते हैं—बेड़ी के बाद डण्डा बेड़ी, फिर खड़ी हथकड़ी, फिर रात ह... कड़ी, फिर दो-दो और तीन-तीन सजाएँ एक साथ—रात को उलटी हथकड़ी और दि... रात डण्डा-बेड़ी, फिर 'कसूरी खूराक' यानी भोजन की बजाय पानी में घुला हुआ आ...

....फिर एक दिन उसे बेंत लगने की आज्ञा हुई, वार्डर उसे पकड़कर शेखर की को... के सामने से ले गए, मोहसिन ने उसे देखकर हँसकर कहा, ''देख, मौलवी, मैं ... करने चला हूँ !'' पन्द्रह मिनट बाद वह उसी तरह अकड़ता हुआ चला आया-... अबकी बार बिलकुल नंगा और कमर तक खून में लथपथ—शेखर को देखकर

"मौलवी, मुझे तेरे पास ला रहे हैं, अब गाना सुना करना !" और वह गया—घसीट-कर आगे ले जाया गया....स्तम्भित शेखर को वार्डर ने बताया, बेंत अमूरी थे, अदालती नहीं—यानी जेल के अपराध के कारण जेल अधिकारियों द्वारा लगवाए गए थे, इसलिए तेल में भिगोकर रखे गए थे और जल्लाद के पूरे जोर से लगवाए गए थे .. जब मोहसिन तीस बेंत खा चुका और टिकटी से उतारा गया, तब दारोग़ा को देखकर बोला, "बस ? अब तो मैं सलीक़ा हो गया, अब क्या है !" इस पर छोटे अधिकारियों को मुस्कराता देखकर दारोग़ा आपे से बाहर हो गया था; मोहसिन को एक और नया दण्ड मिला टाटवर्दी का ! बेंत लगाने के लिए मोहसिन को नंगा तो किया ही गया था, जब उसके बाद पहनने के लिए उसे टाट-बोरिए का एक जाँघिया दिया गया, तब उसने उसे पहनने से इनकार कर दिया, इसलिए उसे नंगा ही कोठरी में भेजा गया—कोठरी भी बदलवा दी गई कि पहरा और कड़ाई से हो सके। अब वह पूर्वशाली फाँसी की कोठरियों में रखा गया है....

किन्तु न जाने कैसे, मोहसिन को परास्त नहीं किया जा सका। अगले परेड में उसकी ठोड़ी फिर चिकनी थी, और वह साभिमान नंगा ही साहब के सामने खड़ा था....

उसके बाद दारोग़ा ने अपना दैनिक अपमान देखना असम्भव पाकर मोहसिन को परेड में पेश करना ही छोड़ दिया, फाँसी की कोठरी से हटाकर एक और कोठरी में डाल दिया, जो जेल में कब्रिस्तान के नाम से प्रसिद्ध थी—उसमें प्रायः भीषण छूत रोगों के रोगी ही रखे जाते थे या खासखास बदमाश। जब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता था, तब खाली पड़ी रहती थी। मोहसिन ने हजामत करना नहीं छोड़ा, और टाटवर्दी नहीं पहनी। दारोग़ा शायद इस आशा में रहे कि सर्दी आने पर वह स्वयं हार मानेगा—अगर टाटवर्दी ही पहन लेगा तो वही हार होगी। पर कातिक भी आया और मोहसिन में कोई परिवर्तन नहीं आया, केवल उसकी दुबली देह में हड्डियाँ और निकल आईं, सूखी त्वचा और साँवली पड़ गई... तब एक दिन शेखर ने सुना कि उसके शरीर पर कई-एक फोड़े निकल आए हैं, और डाक्टर ने कहा कि उसे क्षय हो गया है....

एक दिन अपराजित मोहसिन को दफ़्तर में बुलाया गया, वहाँ उसको उसके अपने कपड़े पहनाए गए; पाँच मिनट बाद उसे पुलिस की लारी में बिठाकर चलता कर दिया गया। मालूम हुआ कि उसकी रिहाई समीप आ गई थी, इसलिए उसे घर के ज़िले की जेल में भेज दिया गया....

और बाबा मदनसिंह भी अस्वस्थ रहने लगे। शेखर अब प्रायः नित्य ही उनसे मिलने जाता और देखता कि उस प्रसन्न बूढ़े चेहरे में तो कोई परिवर्तन नहीं आता है, पर उसका वह अंग जो अभी तक छुपा था, वह तीव्र गति से बुढ़ापे का मार्ग तय कर रहा है—बाबा की आँखें....इक्कीस-बाईस वर्ष के स्वर्गिक जीवन का अन्धकार मानो एकाएक ही उन चमकीली आँखों की ज्योति को खा लेना चाहता है....इस बन्दी व्यक्ति के लिए शेखर के मन में गहरे आदर का भाव हो गया था, और अब से उसने सुना था—

बाबा को संग्रहणी हो गई है, तब से एक गहरी चिन्ता हर समय उसे सताती रहती ....दिन भर वह चिन्ता लिये रहता और सायं-प्रातः नियमपूर्वक वह बाबा के पास ाता, यही उसकी दिनचर्या हो गई थी।

इसी तरह भादों बीता, आश्विन बीता, कार्तिक भी बीत चला। तब एक दिन सहसा शेखर के स्थगित जीवन में एक गहरा आघात हुआ और उसने पाया कि स्थगित कुछ नहीं है, उसके मर्म के ऊपर बहुत ही हल्का आच्छादन है, जो कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकता है और मर्मस्थल को किसी भी चोट के लिए नंगा छोड़ दे सकता है....

फांसी-कोठरियों की जिस कतार में शेखर था, उसमें कुल चार कोठरियां थीं। उनके वासी प्रायः बदलते रहते थे। एक कोठरी में शेखर था ही, बाकी तीन में उसके होते-होते ग्यारह आदमी आ चुके थे। दो-तीन वहां आने के बाद भी छूट गए थे, बाकी को फांसी हो गई थी।

आश्विन में एक दिन संध्या समय एक नया आदमी लाया गया। शेखर ने कौतूहल सेउसे देखा—२३-२४ वर्ष का जाट युवक, सुन्दर गठा हुआ शरीर, गोरा रंग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूंछें, बड़ी स्वच्छ और निर्भीक आंखें—शेखर सोच नहीं सका कि यह आदमी हत्यारा हो सकता है। जब वार्डर उसे शेखर के साथवाली कोठरी में छोड़कर चले गए, तब शेखर ने पहरेवाले सन्तरी से उसके बारे में पूछकर जाना कि यह हत्यारा है, इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।

उसका नाम था रामजी। नाम तो शेखर ने पहले ही दिन जान लिया था, दूसरे दिन शेखर के घूमने निकलने पर उसने उसे बुलाकर परिचय भी कर लिया।

"बाबूजी, जरा सुनिए तो!"

शेखर उसकी कोठरी के आगे जा खड़ा हुआ था।

"इस सुरंग के प्लेटफार्म पर आप कैसे?"

"क्या मतलब?"

"आपको भी सजा हुई है क्या?"

शेखर ने बता दिया कि वह अभी अभियुक्त है, स्वेच्छा से ही उस कोठरी आया था।

"तब तो आप बाहर से सामान मंगा सकते होंगे? मुझे कभी दो-एक सिगरे दिया कीजिए—बुरी आदत है बाबूजी, पर अब तो फांसी चढ़ना ही है, इसलिए पी हूं—आप पीते हैं न?"

"नहीं, पर मंगा लूंगा, ले लिया करना।"

"आप हत्यारे पर इतनी दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते? नहीं तो—"

"इसमें दया की कौन-सी बात है—" शेखर रुक गया ; एक प्रश्न उसकी जबान पर आया था, जो वह पूछना नही चाहता था ।

"आप रुक क्यों गए ? कुछ पूछना चाहते थे—यही न कि मैंने हत्या क्यों की ?"

"हाँ...."

"सो भी औरत की हत्या । आप जानते हैं न ?"

"नहीं ।"

"आपने पूछा है, तो सारी बात बता देता हूँ । अदालत में तो वह हो आया था ।" कुछ रुककर कहने लगा, "गाँव में हमारी थोड़ी-सी जमींदारी थी—मेरे बड़े भाई की और मेरी । पर भाई को यह काम पसन्द नही था, इसलिए वह भाभी को घर में छोड़कर नौकरी की तलाश में शहर चले गए थे । नौकरी उनको लग भी गई थी, और वे हर दूसरे महीने बीस-पच्चीस रुपया भाभी को भेज देते थे ।

"पर भाभी का मन अच्छा नही था । पड़ोस के जो लोग हमारे घर आकर भाई का हाल-चाल पूछा करते थे, उन्हीं में से एक से उसकी कुछ बातचीत हो गई थी, और मेरे पीछे वह अक्सर उससे मिलने आता था । मुझे कोई खबर नही थी ; मुझे एक दिन एकाएक ही पता चला । भादों में एक दिन साँझ को घर आकर मैंने भाभी को बताया कि मुझे रात खेत पर ही रहना पड़ेगा, क्यों, इसमें आपकी कोई दिलचस्पी नही होगी । खेत में काम था । मैं कहकर और बासी रोटी लेकर चला गया ।

"बारिश तो दिन में भी होती रही थी, पर रात को बड़े ज़ोर की हुई और ओले भी पड़ने लगे, तब मैं काम छोड़कर लौट पड़ा । घर आकर दरवाज़ा खटकाने पर बहुत देर तक नही खुला, आवाज़ें देने पर भी नही । जब मैं गुस्से में आकर तोड़ने लगा, तब भाभी ने आकर किवाड़ खोले और सहमी-सी एक तरफ खड़ी हो गई । मैंने देखा, सामने वही आदमी खड़ा है, उसके कपड़े और जूते सूखे हैं जिससे जान पड़ता है, वह देर का आया हुआ है ।"

रामजी चुप हो गया । फिर लम्बी साँस लेकर बोला, "बाबूजी, मेरी जगह आप होते तो क्या करते ?"

शेखर कुछ उत्तर नही दे सका । चुपचाप खड़ा रहा । रामजी कहने लगा, "खैर, मैं तो जो कर चुका, कर चुका । मैंने भाभी से पूछा कि यह कौन है, क्यों आया है ? उसने जवाब नही दिया । मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नही बोला । तब मैंने भाभी को धमकाकर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है ? बहुत धमकाने पर बोली, कई बार आया है । मैंने पूछा, तू इसे चाहती है ? तो कुछ नही बोली । मैंने आदमी से पूछा, वह भी नही बोला । तब मैंने कहा, "अगर तुम लोगों में प्रेम है, तो तुम ब्याह कर लो । मैं कुछ नही कहूँगा । पीछे जो होगी, सो मैं देख लूँगा । भाई को भी मना लूँगा । बोल, तू है तैयार ?" भाभी कुछ नही बोली । मैंने उस आदमी से पूछा, तो बो'
है हँसा मैं चक्करेबाजा ?'

कि बाबा को संग्रहणी हो गई है, तब से एक गहरी चिन्ता हर समय उसे सताती रहती थी....दिन भर वह चिन्ता लिये रहता और सायं-प्रातः नियमपूर्वक वह बाबा के पास जाता, यही उसकी दिनचर्या हो गई थी।

इसी तरह भादों बीता, आश्विन बीता, कार्तिक भी बीत चला। तब एक दिन सहसा शेखर के स्थगित जीवन में एक गहरा आघात हुआ और उसने पाया कि स्थगित कुछ नहीं है, उसके मर्म के ऊपर बहुत ही हल्का आच्छादन है, जो कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकता है और मर्मस्थल को किसी भी चोट के लिए नंगा छोड़ दे सकता है....

७

फाँसी-कोठरियों की जिस कतार में शेखर था, उसमें कुल चार कोठरियाँ थीं। उनके वासी प्रायः बदलते रहते थे। एक कोठरी में शेखर था ही, बाकी तीन में उसके होते-होते ग्यारह आदमी आ चुके थे। दो-तीन वहाँ आने के बाद भी छूट गए थे, बाकी को फाँसी हो गई थी।

आश्विन में एक दिन संध्या समय एक नया आदमी लाया गया। शेखर ने कौतूहल से उसे देखा—२३-२४ वर्ष का जाट युवक, सुन्दर गठा हुआ शरीर, गोरा रंग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूँछें, बड़ी स्वच्छ और निर्भीक आँखें—शेखर सोच नहीं सका कि यह आदमी हत्यारा हो सकता है। जब वार्डर उसे शेखर के साथवाली कोठरी में छोड़कर चले गए, तब शेखर ने पहरेवाले सन्तरी से उसके बारे में पूछकर जाना कि यह हत्यारा है, इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।

उसका नाम था रामजी। नाम तो शेखर ने पहले ही दिन जान लिया था, दूसरे दिन शेखर के घूमने निकलने पर उसने उसे बुलाकर परिचय भी कर लिया।

"बाबूजी, जरा सुनिए तो!"

शेखर उसकी कोठरी के आगे जा खड़ा हुआ था।

"इस सुरंग के प्लेटफार्म पर आप कैसे?"

"क्या मतलब?"

"आपको भी सजा हुई है क्या?"

शेखर ने बता दिया कि वह अभी अभियुक्त है, स्वेच्छा से ही उस कोठरी में आया था।

"तब तो आप बाहर से सामान मँगा सकते होंगे? मुझे कभी दो-एक सिगरेट दे दिया कीजिए—बुरी आदत है बाबूजी, पर अब तो फाँसी चढ़ना ही है, इसलिए पी लेता हूँ—आप पीते हैं न?"

"नहीं, पर मँगा लूँगा, ले लिया करना।"

"आप हत्यारे पर इतनी दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते? नहीं तो—"

"इसमें दया की कौन-सी बात है—" शेखर रुक गया ; एक प्रश्न उसकी ज़बान पर आया था, जो वह पूछना नहीं चाहता था।

"आप रुक क्यों गए ? कुछ पूछना चाहते थे—यही न कि मैंने हत्या क्यों की ?"

"हाँ...."

"सो भी औरत की हत्या। आप जानते हैं न ?"

"नहीं।"

"आपने पूछा है, तो सारी बात बता देता हूँ। अदालत में तो कह ही आया था।" कुछ रुककर कहने लगा, "गाँव में हमारी थोड़ी-सी ज़मींदारी थी—मेरे बड़े भाई की और मेरी। पर भाई को यह काम पसन्द नहीं था, इसलिए वह भाभी को घर में छोड़कर नौकरी की तलाश में शहर चले गए थे। नौकरी उनको लग भी गई थी, और वे हर दूसरे महीने बीस-पच्चीस रुपया भाभी को भेज देते थे।

"पर भाभी का मन अच्छा नहीं था। पड़ोस के जो लोग हमारे घर आकर भाई का हाल-चाल पूछा करते थे, उन्हीं में से एक से उसकी कुछ बातचीत हो गई थी, और मेरे पीछे वह अक्सर उससे मिलने आता था। मुझे कोई खबर नहीं थी ; मुझे एक दिन एकाएक ही पता चला। भादों में एक दिन साँझ को घर आकर मैंने भाभी को बताया कि मुझे रात खेत पर ही रहना पड़ेगा, क्यों, इसमें आपको कोई दिलचस्पी नहीं होगी। खेत में काम था। मैं कहकर और बासी रोटी लेकर चला गया।

"बारिश तो दिन में भी होती रही थी, पर रात को बड़े ज़ोर की हुई और ओले भी पड़ने लगे, तब मैं काम छोड़कर लौट पड़ा। घर आकर दरवाज़ा खटकाने पर बहुत देर तक नहीं खुला, आवाज़ें देने पर भी नहीं। जब मैं गुस्से में आकर तोड़ने लगा, तब भाभी ने आकर किवाड़ खोले और सहमी-सी एक तरफ खड़ी हो गई। मैंने देखा, सामने वही आदमी खड़ा है, उसके कपड़े और जूते सूखे हैं जिससे जान पड़ता है, वह देर का आया हुआ है।"

रामजी चुप हो गया। फिर लम्बी साँस लेकर बोला, "बाबूजी, मेरी जगह आप होते तो क्या करते ?"

शेखर कुछ उत्तर नहीं दे सका। चुपचाप खड़ा रहा। रामजी कहने लगा, "ख़ैर, मैं तो जो कर चुका, कर चुका। मैंने भाभी से पूछा कि यह कौन है, क्यों आया है ? उसने जवाब नहीं दिया। मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने भाभी को धमकाकर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है ? बहुत धमकाने पर बोली, कई बार आता है। मैंने पूछा, तू इसे चाहती है ? तो कुछ नहीं बोली। मैंने आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने कहा, "अगर तुम लोगों में प्रेम है, तो तुम ब्याह कर लो। मैं कुछ नहीं कहूँगा। पीछे जो होगी, सो मैं देख लूँगा। भाई को भी मना लूँगा। बोल, तू है तय्यार ?" भाभी कुछ नहीं बोली। मैंने उस आदमी से पूछा, तो बोला, 'तू कौन है बीच में पड़नेवाला ?'

"मुझे गुस्सा आ रहा था, पर मैं चाहता था भाभी से अन्याय न करूँ। भाभी तो वह नहीं रही थीं, पर भाई के साथ जो तीन बरस रह चुकी थी, उसका कुछ लिहाज़ था ही। मैंने फिर पूछा, 'बता, तू इससे ब्याह करने को तय्यार है?' वह बोला, 'मैं बीवी-बच्चेवाला आदमी हूँ, मैं क्यों मुसीबत मोल लूँ?' मैंने पूछा, 'तब पहले क्यों इस घर में घुसा था? वह बोला, 'इसी ने बुलाया था।' उसके कमीनेपन पर मुझे इतना क्रोध आया कि मैं मुश्किल से सँभाल सका, पर किसी तरह मैंने कहा, 'यह सब मैं नहीं जानता। या तो तुम दोनों सवेरे ब्याह कर लो, या फिर जो मेरे मन में आएगा, करूँगा!'

"उसने मुझे गाली दी। भाभी से मैंने पूछा, 'तू है तय्यार? अगर है तो मैं इसे मनाकर छोड़ूँगा,' पर वह भी नहीं बोली। तब मेरी आँखों में खून उत्तर आया और मैंने गड़ासे से दोनों को काट डाला।"

साँस लेने के लिए और शेखर पर बात का असर देखने के लिए, वह थोड़ी देर रुका। "फिर मैंने उसी वक्त थाने में जाकर बयान दे दिया—भाभी को मारकर मेरा मन दुनिया में रहने को नहीं हुआ। खूनी को मरना ही चाहिए। बस आगे तो जो होता है, सो है ही!"

थोड़ी देर मौन रहा। फिर रामजी अपने आप बोला, "बाबूजी, मैं आपसे नहीं पूछूँगा, मैंने अच्छा किया या बुरा। मैं शरमिन्दा नहीं हूँ। और अच्छी तरह मरूँगा। मैंने इसीलिए अपील नहीं की है।"

शेखर चुपचाप सोचता हुआ चला गया था। उसके बाद क्रमशः उसका परिचय बढ़ता गया था—शेखर के मन में कुछ स्नेह भी इस आधे जंगली और पूर्णतः ईमानदार व्यक्ति के लिए हो गया था।



कार्तिक में एक दिन सुना कि रामजी की अपील नामंजूर हो गई है, और चौथे दिन उसे फाँसी हो जाएगी। रामजी ने अपील नहीं की थी, पर जेलवालों ने स्वयं ही उसकी ओर से हाईकोर्ट में दरखास्त भिजवा दी थी।

शेखर उदास था। पर रामजी पर मानो कोई असर ही नहीं था, जैसे कोई नई बात हुई ही नहीं थी।

शाम को रामजी ने शेखर को पुकारा, "बाबू साहब!"

शेखर जँगले पर आकर बोला, "क्या है?"

"आपने कभी फाँसी देखी है?"

"नहीं।"

"आप तो लिखनेवाले हैं न, आपको सब कुछ देखना चाहिए।"

"........"

"क्यों नहीं साहब से कहते, मेरी फाँसी देख लेने दें आपको ? मुझे भी अखरेगा नहीं लगेगा—नहीं तो आखिरी समय सब जल्लादों का ही मुँह देखना पड़ेगा !"

शेखर निरुत्तर कुछ बोल नहीं सका। रामजी की फाँसी देखने की दरख्वास्त दे वह !....

"बाबूजी आप चुप क्यों हैं ? इसमें बुराई नहीं है, एक बिचारे की मदद ही है। मैं समझूँगा, मरते वक्त एक दोस्त मौजूद था।"

शेखर ने काँपते स्वर से कहा, "अच्छा...."

पर अनुमति नहीं मिली। शेखर ने उदास वाणी से रामजी से कहा, तो वह भी कुछ खिन्न होकर बोला, "जल्लाद, साले ! सब जल्लाद हैं !" और चुप हो गया।

उस दिन शेखर बाहर नहीं निकला, कुछ बोला भी नहीं। रामजी ने कई बार बात करने की चेष्टा की, पर शेखर 'हाँ-हूँ' से अधिक नहीं कर सका। अन्त में शाम को रामजी बोला, "बाबू जी, आप तो कोई बात नहीं करते, उदास दीखते हैं। घर से कोई बुरी चिट्ठी आई है क्या ? लीजिए; मैं गाकर आपका मन बहलाता हूँ—ऐसा मौका कब मिलेगा ?"

शेखर लज्जा से गड़ गया....

रामजी आधी रात तक गाता रहा। फिर न जाने कब शेखर को नींद आ गई....

एक दिन और भी किसी तरह बीत गया। रात आई, तब फिर रामजी गाने लगा। आधी रात के लगभग उसने थककर कहा, "बाबूजी, अब आप कुछ सुनाइए, मैं तो थक गया। सुनता-सुनता सो जाऊँगा।"

शेखर गा नहीं सकता था। पर रामजी के लिए कुछ गाने की कोशिश की। सफलता नहीं मिली। रामजी ने मीठी चुटकी ली, "बाबूजी, आप मेरे ही लिए गा रहे हैं...." तब शेखर कहानियाँ कहने लगा—कभी पुराणों से, कभी विदेशी साहित्य से, कभी एक-आध अपने जीवन की घटना....रामजी का 'हूँ-हूँ' धीमा पड़ने लगा और नीरव हो गया, शेखर ने वार्डर से पूछकर जाना कि वह सो गया है।

पर शेखर नहीं सो सका। जेल की 'सब अच्छा' की पुकारों की ताल पर रात बीतती चली...एकाएक झेंप से चौंककर शेखर ने देखा, उषा फूट रही है। डाक्टर रामजी की परीक्षा के लिए आया है।

"डाक्टर साहब, टाँग तो आप देंगे हो, फिर नाड़ी क्यों देखते हैं ?"

"भाई, मेरा फर्ज है सो अदा करता हूँ। तुम भी खुदा को याद करो—"

डाक्टर गया। दिन निकलते-निकलते साहब, दरोगा, मैजिस्ट्रेट, चीफ वार्डर और वार्डरों की फ़ौज आ गई।

शेखर अपनी कोठरी के जंगले पर खड़ा जो देख सकता था, देखता था, बाकी सुनने की कोशिश कर रहा था।

रामजी की तलाशी ली जा रही थी।—हाथ बाँधे जा रहे थे—बाहर निकाला जा
था—
क्या वसीयत लिखानी है ? किसी को कुछ कहना है ?
"इन साथवाले बाबूजी से दो मिनट बात कर लूँ ?"
कोई तीन सेकण्ड बाद साहब का उत्तर, "नहीं, यह तो हम नहीं कर सकते !"
"तब चलिए।"
कुछ घबराहट, कुछ अव्यवस्था, कुछ गति,....
एकाएक आँगनों को जोड़नेवाले फाटक पर रामजी, "अच्छा बाबूजी, अब तो फिर कभी मिलेंगे, उस पार कहीं—" एक द्रुत मुस्कान—जुलूस चला गया—
और जँगले भींचकर पकड़े हुए खड़ा शेखर सहसा पाता है कि उसकी मुट्ठियाँ खु गई हैं, हाथ छटक गए हैं, सिर झुक गया है....

⊗

छः दिन के बाद शेखर ने बाहर निकलने का विचार किया ही था कि एक और घटना हुई, जिसने उस बुरे स्वप्न-जैसी अवस्था को तीन दिन और बढ़ा दिया। शशि का पत्र आया कि वह बहुत कष्ट में है, और मनाती है कि शीघ्र उसे जीवन से छुटकारा मिल जाए....क्यों, क्या कष्ट है, कुछ नहीं लिखा था—कल्पना के दानव के लिए ही यह छोड़ दिया था कि वह उस दुःस्वप्न में मनमाने रंग भरे....

शेखर सोचता था, जेल में जीवन स्थापित हो जाता है ! और यह क्या है, जो मानो उसे पटककर उसके गले पर चढ़ बैठा है और कह रहा है, 'मैं स्थगित ? तो ले देख, यह मेरा बोझ और मेरी गति की चोट !' आह, नहीं सहा जाता....नहीं सहा जाता....नहीं सहा जाता जीवन, नहीं सहे जाते बन्धन....

क्यों नहीं सहे जाते ? दुर्बल, कायर, झूठा कहीं का ! उसके सामने ही मामूली से मामूली आदमी, जीवन की हरएक देन से वंचित, धन से, कुल से, आत्मीयों से, विद्या से वंचित, जीवन का सामना करते हुए चले जाते हैं, और वह अभिमानी रोता है कि मैं उसे नहीं सह सकता....कायर, दम्भी....वेदना होती है....समवेदना होती है····समवेदना क्या है, जो जीवन को गहरा नहीं बनाती, धनी नहीं बनाती, जीवन के लिए कृतज्ञ नहीं बनाती ? समवेदना की दुहाई देकर जीवन से डरता है ! आत्मवंचक....

पीड़ा और अपमान से जलकर सहसा शेखर उठ बैठा, उन्मत्त साँड़ की तरह कन्धे झुकाकर जीवन के दबाव से टक्कर लेने को तैयार....फूले हुए नथनों से फुंकार की तरह साँस लेता हुआ, पृथ्वी को पैरों से मानो रौंदता हुआ वह कोठरी से बाहर निकला टहलेगा, सबसे मिलेगा, और नहीं दीखने देगा कि जीवन उसके लिए स्थगित है, व दुगुनी गति से चल रहा है....

दादा मदनसिंह खड्डी पर दीवार के सहारे बैठे थे। शेखर ने एक बार उनके

की ओर देखा, उसकी जिह्वा पर आया हुआ प्रश्न वहीं रह गया। बाबा की हालत अच्छी नहीं थी।

बाबा उठे नहीं, मुस्कराए भी नहीं। शेखर ने देखा, जटा और दाढ़ी के बीच अब त्वचा भी सफेद हो गई है, अब केवल आँखें हैं जिनमें रंग है—और रंग ही नहीं, आग उनमें दीप्ति है—वे जल रही हैं....

"तुम आए...इतने दिन कहाँ रहे ?"

"मेरा मन ठीक नहीं था। मेरे पड़ोसी को फाँसी हो गई!"

"मेरा भी मन ठीक नहीं है शेखर! शरीर तो अब चला ही, मन भी बहुत खराब है।"

"क्यों बाबा ?"

"कुछ नहीं, कमज़ोरी! मैं बाहर के समाचार सुनता-पढ़ता हूँ, तो विचलित हो जाता हूँ!"

"कैसे समाचार ?"

"तुमने चटगाँव का हाल पढ़ा है ?"

"हाँ—"

"वहाँ जो गोली-गोली चली, उसका नहीं, उसके बाद जो कुछ हुआ उसका ?"

शेखर ने अखबार में पढ़ा था कि वहाँ काफ़ी सख्ती हो रही है, कई तरह की मनाहियाँ जारी हुई हैं, और यह भी पढ़ा था कि वहाँ के समाचार छपने नहीं दिए जाते, तार और चिट्ठियाँ रोकी जा रही हैं।

"और ?"

"और तो मैं नहीं जानता।"

"शेखर, सुना है कि वहाँ सैनिक मनमानी कर रहे हैं, गाँव के लोगों को पीट-पीटकर सलामी कराई जाती है, स्त्रियों पर बलात्कार किया जाता है, और—और—"

एकाएक बाबा का गला रुँध गया, वे कुछ बोल नहीं सके, आँखें में गड़े हो गए....

"कहाँ सुना आपने ?"

"मुझे चिट्ठी आई है—"

"पर जब खबरें नहीं आतीं, तब चिट्ठी भेजनेवाले ने कैसे जाना ?"

"जाना नहीं, सुना। तुम यही कहना चाहते हो न कि ये अफ़वाहें हैं, हवा हो सकती हैं, झूठी हैं, कोई प्रमाण नहीं है, जब तक पूरा पता न मिले, तब तक कुछ कहना अनुचित है ? ऐसी बहुत बातें मैं भी सोच चुका हूँ! पर यह सब धोखा है। मेरा क्रोध इसलिए नहीं कि मेरे पास प्रमाण है; क्रोध इसलिए है कि प्रमाण नहीं है। तुम नहीं समझते, हमारी परिस्थिति कितनी भयंकर है, कितनी विवश है कि ऐसे-ऐसे संगीन अभियोगों की भी हम जाँच नहीं कर सकते, उसके प्रमाण में या सफ़ाई में ही, कुछ पूछताछ नहीं कर सकते, कुछ जान नहीं सकते! ये अभियोग सच ही हैं, ऐसा मैं नहीं